महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य विरचित
श्रीभागवत विवृति

सुबोधिनी

हिन्दी भावानुवाद

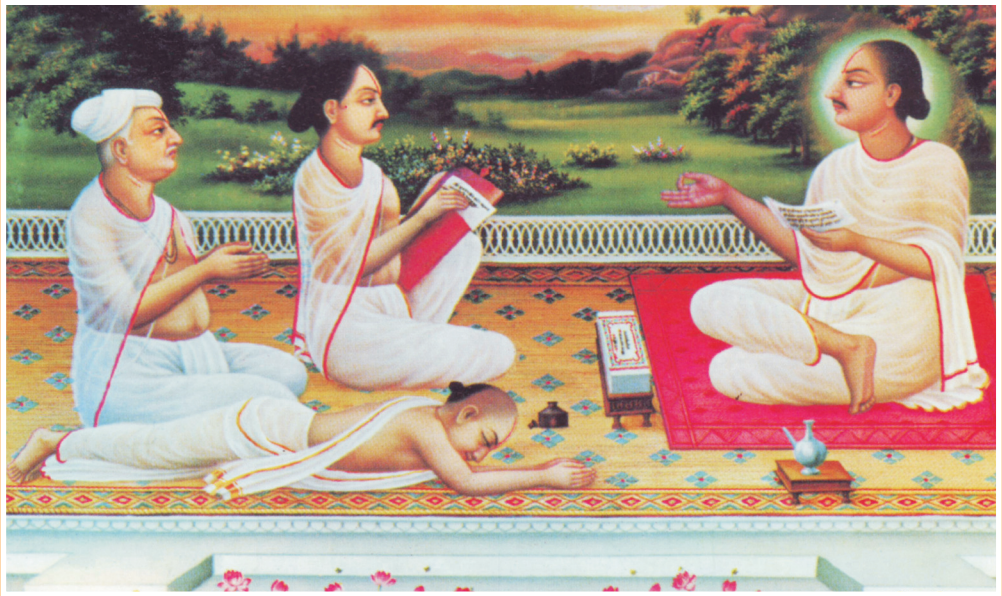

तृतीय स्कन्ध

अध्याय २३–३३

खंड ५/ख

जय श्रीकृष्ण

श्रीवल्लभाधीशो जयति

अध्याय २३

योग द्वारा तैयार किये हुए विमानमॄ कर्दमजीके दाम्पत्य जीवनका वर्णन

कर्दमस्य हि कामोऽत्र स्वीकृतत्वात् तदिच्छया ।
त्रयोविंशतिमेऽध्याये वैराग्यावधिरुच्यते ।।का.१।।

कारिकार्थ: इस तेवीसवॅ अध्यायमॄ कर्दमजीका काम उनकी इच्छासे ही स्वीकृत होनेसे वैराग्यकी अवधि तक वह कहा जाएगा।।१।।

भगवद्भोगसृष्टौ हि पूर्वं मात्रा निरूपिताः ।
तद्ग्राहकाणीन्द्रियाणि निरूप्यन्तेऽधुना स्फुटम् ।।का.२।।

कारिकार्थ: भगवद्भोगकी सृष्टिमॄ पहले मात्राओॄका निरूपण किया था. उन भोगॄको ग्रहण करनेवाली इन्द्रियॄका निरूपण अब स्पष्टरूपसे किया जाता है।।२।।

भगवत्कृतभोगो हि नाल्पसत्वेन भुज्यते ।
अतस्तस्या योग्यतायै पतिसेवा निरूप्यते ।।का.३।।

कारिकार्थ: भगवान्के द्वारा निर्मित किया हुआ भोग सामान्य नहीं भोग सकता अतः उसकी योग्यताकेलिए पति सेवाका निरूपण है।।३।।

ततः प्रसादो विज्ञप्तिः भोग्यसाधननिर्मितिः ।
अन्तःस्थितहरेर्ज्ञप्त्या तथात्वज्ञापनं तथा ।।का.४।।

कारिकार्थ: तदनन्तर भगवान्की कृपा, विज्ञप्ति और भोग्य साधनॄका निर्माण. अन्तःकरणमॄ स्थित भगवान्की प्रार्थनासे यह सब भगवत्कृत है इसकी समझ होना।।४।।

भोगो नानाविधश्चैव सर्वभावेन चैव हि ।
भार्येच्छया कन्यकानां जननं चाऽपि वर्ण्यते ।
वैराग्यम् उभयोश्चैव कामस्तेनैव पूर्यते ।।का.५।।

कारिकार्थ: भोग नाना प्रकारके थे और वे भोग भी सर्वभावसे थे. अपनी भार्याकी इच्छासे कन्याओॄकी उत्पत्तिका भी वर्णन है. दोनॄ पति-पत्नीको वैराग्य हो जानेसे उसीसे कामकी पूर्ति हो गई।।५।।

आभास: उसमॄ पहले पति सेवाको कहते हैं :

मैत्रेयः उवाच

पितृभ्यां प्रस्थिते साध्वी पतिम् इङ्गितकोविदा।
नित्यं पर्यचरत् प्रीत्या भवानीव भवं प्रभुम् ।।१।।

श्लोकार्थः श्रीमैत्रेयजीने कहा–विदुरजी ! माता–पिताके चले जानेपर पतिके अभिप्रायको समझ लेनेमॅ कुशल साध्वी देवहूति कर्दमजीकी प्रतिदिन प्रेमपूर्वक सेवा करने लगी. जैसे पार्वती भगवान् शिवजीकी सेवा करती है।।१।।

व्याख्यार्थः माता–पिताके चले जानेपर उदास होती हुई भी देवहूति खेद न करके पतिकी सेवा करने लगी. जबतक उसका विवाह नहीं हुआ था तबतक माता–पिताका सम्बन्ध था. क्यॉकि वह साध्वी है पतिव्रता है पतिव्रताका तो यही धर्म है. सेवा भी वैसी करती थी जो पतिको रुचिकर होती थी. जो महान् होते हैं वे अपनी रुचिको कहते नहीं हैं. किन्तु उस रुचिको उनके अभिप्रायसे जान लेनी चाहिए. उस अभिप्रायको जानना पातिव्रत्यसे ही होता है इसको 'इंगितकोविदा'से बताया है वह अभिप्रायको समझनेमॅ पण्डित थी. दीर्घकाल तक(बहुत समय तक) आदरके साथ की हुई निरन्तर सेवा फल देनेवाली होती है. 'नित्यं' पदसे दीर्घकाल और नैरन्तर्य(बीचमॅ सेवा टूटे नहीं) दोनॅ आ जाते हैं और 'प्रीत्या'से आदर और स्नेहका ग्रहण होता है. आदर और स्नेह ही तो सेव्यको(जिसकी सेवा की जाती है) वशमॅ कर सकते हैं. सेवामॅ निष्कामताकी कामना होनी चाहिए उसकेलिए ''भवानीव भवं प्रभुं'' यह दृष्टान्त दिया है. विवाहके पहले पार्वतीने शिवजीकी सेवा प्रभुरूपसे ही की थी. केवल मनसे ही मेरे पति हैं ऐसा जानती थी. क्यॉकि पूर्वजन्मका संस्कार था इसी तरह यह भी सम्बन्ध रहित चाहे जानेवाले अलंकारॅकी इच्छा न रखती हुई सेवा करना आवश्यक है इस तरह सेवा करती थी ।।१।।

आभासः सेवामॅ गुणॅको और दोषाभावॅको दो श्लोकॅसे कहते हैं. उनमॅ से यहां गुणॅको कहते हैं :

विश्रम्भेणात्मशौचेन गौरवेण दमेन च।
शुश्रूषया सौहृदेन वाचा मधुरया च भोः ।।२।।

श्लोकार्थः उसने विश्वास, पवित्रता, गौरव, संयम, शुश्रूषा, प्रेम और मधुर भाषणसे(पतिको संतुष्ट किया)।।२।।

व्याख्यार्थः इन ऋषिसे ही मेरा जब पुरुषार्थ सिद्ध हो जायगा इस

विश्वाससे 'आत्मशौचेन'(देह तथा अन्तःकरणकी) पवित्रतासे सेवा की. संत पवित्रतासे ही प्रसन्न होते हैं. विश्वास ही सबका अंग है. पुत्र जैसे पिताकी सेवा करता है वैसे नहीं, किन्तु देवताकी तरह सेवा की यह 'गौरवेण'से स्पष्ट है. गौरव महत्वपूर्वक आदर विशेषको कहते हैं जैसे गुरुमू गौरव होता है. 'दम' इन्द्रिय निग्रहको कहते हैं. इन्द्रियां जब चञ्चल होती हैं तो सेवा सफल नहीं होती यह बात लोकवेदसे सिद्ध है. शुश्रूषा(चरण दबाना आदि) अन्तरंग सेवा. सौहृदम् (मित्रभाव सब प्रकारके मित्र धर्मोसे) मित्रका काम है गुप्त बातको प्रकट न करना और गुणूको प्रकट करना, मधुर वाणी तो ऊपर बताये गए सब गुणूकी प्राणरूप है. ''सद्यस्त्व प्रियवादिनीं'' शास्त्रोमू कहा है कि अप्रिय बोलनेवाली स्त्रीका तत्काल ही परित्याग कर देना चाहिए. 'च'से और भी शम, दम आदि गुण उसमू थे. 'भोः' यह सावधान करनेकेलिए केवल सम्बोधन है ।।२।।

आभास: दोषूके अभावको कहते हैं :

विसृज्य कामं दम्भं च द्वेषं लोभम् अघं मदम्।
अप्रमत्तोद्यता नित्यं तेजीयांसमतोषयत्।।३।।

श्लोकार्थ: उसने कामवासना, दम्भ, द्वेष, लोभ, अपराध, मद इनका परित्याग करके सदा सावधानी और लगनके साथ अपने अत्यन्त तेजस्वी पतिको संतुष्ट कर लिया।।३।।

व्याख्यार्थ: काम, दम्भ, द्वेष, लोभ, अघ और मद ये छः दोष हैं. पाप और अपराधसे अधिक हैं. इन छः दोषूमू काम पहला है इस कामकी पूर्तिकेलिए ही कामिनीकी तरह सेवा करती है. कामकी जगह मान ऐसा भी पाठ है वहां मानका अर्थ होगा अहंकार, मैं राजाकी लडकी हूं ऐसा अहंकार होना यह कामकी जगह दोषूमू गिना जायगा. दम्भ लोभरूप होता है धन कीर्ति आदिका लोभ न हो तो, दम्भ(ढूग) क्यू करेगा. यहां तो कर्दमजीका जो भी कुछ है वह सब उसी(देवहूति)का ही है तो फिर साक्षात् लोभकी तो सम्भावना ही नहीं है. राजपुत्रीकी उनके सामने या पीछे सेवामू एकरूपता सम्भव नहीं है इसलिए दम्भका निर्देश किया. 'च'से अपराध लिया जाता है वह भी उसमू नहीं था. द्वेष मात्सर्यरूप है द्वेषसे क्रोध भी लिया जाता है. लोभ तो सब जानते ही हैं. अघका अर्थ है अपराध. मदसे घमण्ड लिया गया है. इस तरह ये आठू ही दोष उसमू नहीं थे. प्रमादका अभाव और नित्य उद्यम ये दोनू अन्तरंग हैं. ऐसा करने पर जो हुआ उसे

कहते हैं. 'तेजीयांसमतोषयत्' अति तेजस्वी जो कभी किसीसे दबते नहीं उनको प्रसन्न कर लिया ।।३।।

आभास: प्रसन्न हुए मुनिकी प्रसन्नताको कहनेकेलिए ऋषिकी अधीनता उनके अत्यन्त प्रसन्नताकेलिए होती है. उसने जो देखा उसका निरूपण दो श्लोकाॅसे करते हैं :

स वै देवर्षिवर्यस्तां मानवीं समनुव्रताम् ।
दैवाद् गरीयसः पत्युः आशासानां महाशिषः ।।४।।

श्लोकार्थ: उन देवर्षिवर्यने उस मनुकी पुत्रीको अपना अनुवर्तन करनेवाली तथा दैवसे भी बढकर पतिसे महती आशा रखनेवाली समझा।।४।।

व्याख्यार्थ: महत्व और दीनता दोनाॅका एक ही आधार जब होता है तब उनके ऊपर दया होती है इसलिए देवहूतिमॅ विशेषणाॅसे महत्व बताते हैं वे तीन विशेषण हैं: १.मानवी, २.समनुव्रताम्, ३.महाशिषः आशासानाम्. ऋषि देवर्षिवर्य थे अतः उसकी सब बात जानते थे. देवता हृदयकी बात जानते हैं, ऋषि अलौकिक जानते हैं वे तो देवता और ऋषिसे भी उत्तम थे अर्थात् वे बाह्य, अलौकिक और आभ्यन्तर बातको जानते हैं. मानवीसे उसका बाह्य उत्कर्ष बताया अर्थात् यह मनुकी लडकी है इससे सर्व साधारण उसका महत्व समझते हैं. जिस प्रकार अपना अनुभव आदि हो उस तरह अथवा अन्तःकरण और बाह्य धर्म इनसे सब प्रकारसे ऋषिका अनुसरण करती थी. दैवका अर्थ है अदृष्ट(भाग्य) अथवा काल इससे भी पति श्रेष्ठ थे इससे 'दैवाद्गरीयसः पत्युः' इससे बताया है. ऋषि तो दैव(भाग्य)को भी बदल सकते हैं अतः उन महर्षिसे 'आशिषः आशासानां'(दुर्लभ) कामनाआॅकी आशा रखती थी. मुनि मेरी दुर्लभ कामना-आॅको भी पूरा कर दॅगे. यह आभ्यन्तर उत्कर्ष है ।।४।।

आभास: दैन्यमॅ दो हेतु देते हैं :

कालेन भूयसा क्षामां कर्शितां व्रतचर्यया ।
प्रेमगद्गदया वाचा पीडितः कृपयाऽब्रवीत् ।।५।।

श्लोकार्थ: इस तरह बहुत कालसे व्रतचर्याके कारण कृशताको प्राप्त हुई उसे देख दयावश खिन्न हुए ऋषिने प्रेम गद्-गद् वाणीसे कहा।।५।।

व्याख्यार्थ: सुख भोगाॅसे रहित बहुत काल बीत जानेसे वह अत्यन्त दुर्बल हो गई और व्रतचर्यासे कृश हो गई थी उसके पति जिस तरह कठिन

तपस्यामृ स्थित थे उसी तरह वह पतिव्रता भी स्थित थी वह अत्यन्त खेदसे युक्त थी ऐसी उसे देखकर दयाके कारण खेदयुक्त होकर देवहूतिमृ प्रेम रखनेवाले मुनिने गद्-गद् वाणीसे आगे कहे जानेवाले प्रसादरूप(प्रसन्नतारूप) वाक्य कहे ।।५।।

आभास: प्रसादरूप उन वाक्यृको तीन श्लोकृसे कहते हैं :

कर्दम: उवाच

तुष्टोऽहम् अद्य तव मानवि मानदाया: शुश्रूषया परमया परया च भक्त्या ।
यो देहिनामयम् अतीव सुहृत् स्वदेहो नाऽवेक्षित: समुचित: क्षपितुं मदर्थे ।।६।।

श्लोकार्थ: कर्दमजी बोले हे मनु पुत्री ! तुमने मेरा बहुत आदर किया है. मैं तुम्हारी उत्तम सेवा और परम भक्तिसे बहुत प्रसन्न हूं. सब देहधारियृको अपना शरीर बहुत प्यारा होता है, किन्तु तुमने मेरी सेवाकेलिए उसके क्षीण होनेकी परवाह नहीं की।।६।।

व्याख्यार्थ: सन्तोष, सर्वदान और उसकी दुर्लभता. ये तीनृ ही भगवान्के द्वारा ही दिये जाते हैं अन्यके द्वारा नहीं, इसलिए उसका निरूपण किया जाता है. पहले सन्तोषको कहते हैं 'तुष्टोऽहम्'. सुहृत् प्रिय इस देहकी मेरेलिए क्षीण होनेकी कोई परवाह नहीं की. यह तुम्हारी देह 'समुचित:'(प्रसंशनीय) है तथापि मेरी सेवाकी आशासे इसकी तुमने उपेक्षा की.

हे मानवि! यह सम्बोधन इस बातको बताता है कि तुम बडोकी लडकी हो आज मैं तुम्हारे ऊपर सन्तुष्ट हुआ हूं. केवल मैं तुम्हारे पिता या तुम्हारी माताके माहात्म्यसे सन्तुष्ट नहीं हूं किन्तु तुम्हारा भी स्वत: माहात्म्य है क्यृकि तुम मानदा हो मान देने योग्य हो. जो निरन्तर किसी पात्रको सम्मान देता है वह सम्मान देनेके कारण स्वयं भी सम्मान पाता है. इस तरह आधारगत दो गुण हैं उसी तरह करण भी दो हैं. परमशुश्रूषा और परमभक्ति, परम अर्थात् लोकोत्तर जो शुश्रूषा(अन्तरंग सेवा) यह बाह्य करण है. परम अर्थात् माहात्म्यज्ञान पूर्वक जो भक्ति(प्रीति) यह अन्तरंग करण है. केवल बाह्य और अन्तरंग इन दो करणृसे ही कार्य सिद्ध नहीं होता है, क्यृकि इनसे जन्मसे ही भजन नहीं होता. किन्तु उसकेलिए जन्मसे ही इन दोनृको जहां लगाया है वहांसे हटाना चाहिए उसीको कहते हैं. 'यो देहिनां' पूर्वोक्त जो दो करण हैं उनको जिसने लगा रक्खा था अर्थात् लोकोत्तर शुश्रूषा और लोकोत्तर भक्ति जिस देहमृ थी उस देहको जो देह देहधारियृका अत्यन्त मित्र है आत्मभूत है उस देहको तुमने मेरेलिए क्षीण होनेकी

कोई परवाह नहीं की. यहां 'क्षपितुं'मृ अन्तर्भावित ''णिच्''का प्रयोग है यहां नियोज्य और नियोजक कर्त्ता अलग-अलग नहीं है किन्तु एक ही है अर्थात् 'क्षपितुं' का अर्थ है 'क्षपयितुम्'. लोकमृ ऐसा देखा जाता है जिसका अपनेलिए कोई उपयोग न हो उसका क्षय लोकोपकारकेलिए किया जाता है किन्तु यहां ऐसा नहीं है. देवहूतिकी देह तो समुचित है अनुपयुक्त नहीं है किन्तु सर्व पुरुषार्थका साधक है अतः पूर्वमृ बताये गये जो तीन गुण हैं उनसे युक्त होनेके कारण मैं तेरे ऊपर प्रसन्न हूं।।६।।

आभास: प्रसन्न होकर उन्हृाने क्या किया उसे कहते हैं :

ये मे स्वधर्मनिरतस्य तपःसमाधि-विद्यात्मयोगविजिता भगवत्प्रसादाः।
तानेव ते मदनुसेवनयाऽवरुद्धान् दृष्टिं प्रपश्य वितराम्यभयान् अशोकान्।।७।।

श्लोकार्थ: अपने धर्मका पालन करते हुए मुझे तप, समाधि, उपासना और योगके द्वारा जो भय और शोकसे रहित भगवत्प्रसादरूप विभूतियां प्राप्त हुईं है, उन पर मेरी सेवाके प्रभावसे अब तुम्हारा भी अधिकार हो गया है. मैं तुम्हृ दिव्य दृष्टि देता हूं उसके द्वारा तुम उन्हृ देखो।।७।।

व्याख्यार्थ: जो भगवत्प्रसादरूप भगवान्ने मुझे दिये हैं उन्हींको मैं तेरेको देता हूं. जो प्रसन्न होता है वह अपना सर्वस्व दे देता है अथवा उत्कृष्ट जो होता है उसको दे देता है. मेरेलिए तो भगवत्प्रसाद ही सर्वस्व तथा उत्कृष्ट है. भगवत्प्रसाद जो प्रसिद्ध है अनुपयुक्त नहीं है उनको मैं देता हूं. वे भगवत्प्रसाद कैसे प्राप्त हुए उनको 'स्वधर्मनिरतस्य' आदि पदृासे बताते हैं. स्वधर्म 'भगवद्धर्म' उनमृ निरत(प्रतिष्ठित) होनेसे मैंने उन्हृ प्राप्त किया है, उनको मैं यदि दयासे प्राप्त करता तो दूसरृाको देने पर वे कार्य करनेमृ समर्थ नहीं होते. अतः वे भगवत्प्रसाद मुझे दयासे प्राप्त नहीं हुए हैं किन्तु तप, समाधि, विद्या(भक्ति) आत्मयोग इनके द्वारा उनको जीता है, तप धर्मरूप है धर्मके द्वारा जो भगवत्प्रसाद सिद्ध होते हैं वे तपसे जीते हुए कहे जाते हैं. समाधिका अर्थ है योगका उत्कर्ष उससे सिद्ध जो अणिमा आदि आठ सिद्धियां तद्रूपा भगवत्प्रसाद है उनको मैंने समाधिसे जीता है. विद्या कहते हैं भक्ति अथवा उपासनामृ वानप्रस्थ आश्रम द्वारा साध्य है और उसके द्वारा साध्य जो भगवत्प्रसाद ज्ञानादिरूप हैं उसको भी मैंने जीत लिया है. आत्मयोग है यतिधर्म जो मोक्ष साध्य है उनसे भी मैंने भगवत्प्रसाद प्राप्त किया है. 'तानेव वितरामि' उन्हींको मैं तुझे देता हूं. यहांका एवकार अन्य योग व्यवच्छेदक

नहीं है किन्तु अर्थ विशेषमृ देनेके योग्य नहीं है ऐसे सिद्ध जो भगवत्प्रसाद हैं उनको मैं तुझे देता हूं इस तरह यह एवकार उन प्रसादका उत्कर्ष बताया है. यदि कोई शंका करे कि भगवत्प्रसाद तो स्वतन्त्र हैं उनको यदि आप मुझे दे भी दूगे तो भी वो मुझे कैसे प्राप्त हो जायेंगे. इसका उत्तर 'मदनुसेवनयाऽवरुद्धान्'से दिया है. मेरी जो अनुसेवा है उस सेवाने मुझे ही ग्रहण कर लिया है(अधीन कर लिया है) तो फिर मेरे परिकर गुण भी गृहीत हो इसमृ कौनसा सन्देह है? मेरी अनुसेवासे वे सब गुण अवरुद्ध हो गए हैं जो अवरुद्ध होते हैं वे अपने अधीन हो जाते हैं. अर्थात् जैसे किसी कामकाज आदिसे रोक दिया जाता है तो वह रुका हुवा व्यक्ति रोकनेवालेके अधीन हो जाता है. ये भगवत्प्रसाद अलौकिक हैं इनमृ तुम्हारा विश्वास हो इसकेलिए मैं उनको देखनेकी दृष्टि देता हूं उस दृष्टिसे तुम इन्हृ देखो. पहले तो उन प्रसादका दान किया और उसके अनन्तर दृष्टिका दान किया क्यृकि इनका फल आत्मगामी होने ऐसा क्रम रक्खा है. शंका हो सकती है कि भगवत्प्रसाद भी तो विषय(उपभोगके साधन)रूप हैं अतः ये भी औत्पत्तिक दोषृसे युक्त हृगे इसका उत्तर 'अभयान्' 'अशोकान्' इन दो पदृसे दिया है तथा इन्हीं दो पदृसे दो दोषृका भी परिहार किया है. ये प्रसाद इस लोकमृ और परलोकमृ भयसे रहित हैं तथा अशोक हैं अर्थात् ये चले भी जाय तो शोकको उत्पन्न नहीं करते हैं ।।७।।

आभास: राजकन्या होनेमृ राज्यविषयक भोगृको ही अधिक चाहेगी अलौकिक भोगृको वह नहीं चाहेगी ऐसी आशंका करके पहले तो भोग्यरूपसे जाने गए विषयृकी निन्दा करते हैं :

अन्ये पुनर्भगवतो भ्रुव उद्विजृम्भ–विभ्रंशितार्थरचनाः किमुरुक्रमस्य।
सिद्धाऽसि भुङ्क्ष्व विभवान् निजधर्मदोहान्
दिव्यान् नरैर्दुरधिगान् नृपविक्रियाभिः।।८।।

श्लोकार्थ: अन्य जितने भी भोग हैं वे तो भगवान् श्रीहरिके भ्रकुटि विलास मात्रसे नष्ट हो जाते हैं, अतः वे इनके आगे कुछ नहीं हैं. तुम मेरी सेवासे ही कृतार्थ हो गई हो, अपने पतिव्रत धर्मका पालन करनेसे तुम्हृ ये दिव्य भोग प्राप्त हो गए हैं तुम इन्हृ भोग सकती हो. हम राजा हैं हमृ सब कुछ सुलभ है इस प्रकारका जो अभिमान आदि विकार है उनके रहते हुए मनुष्यृको इन दिव्य भोगृकी प्राप्ति होनी कठिन है।।८।।

व्याख्यार्थ: अन्य राज्य आदि अथवा स्वर्ग आदि क्या हैं कुछ नहीं. उसका कारण यह है कि 'उरुक्रमस्य' भगवान्की भ्रुकुटिविलास मात्रसे ही वे नष्ट हो जाते हैं. 'भगवतः'से भगवान्की सामर्थ्य बताई है. भगवान्मृ अद्भुतकर्मता है यह 'उरुक्रम'से बताई है. यदि भगवान् अद्भुतकर्मा न होते तो अपने द्वारा दिए हुए भोगृको स्वयं वे ही क्यृ नष्ट करते, अथवा कैसे अपकारी होते हैं सबकी आत्मा होते हुए ऐसा क्यृ करते हैं. परन्तु अद्भुतकर्मा होनेसे सब दोषृका परिहार हो गया और भगवान् जो करते हैं उसको कोई समझ नहीं सकता है इसमृ हेतु भी कह दिया. इसलिए तो उस भगवान्के भ्रुव(कालकी) जो उद्विजृम्भ(आलस्य)से भी ग्रहण(अवलोकन) करना उसीसे ही 'विभ्रंशितार्थरचनाः'(अर्थकेलिए जिनकी रचना) है ऐसे राज्य आदि स्वरूपसे नष्ट हो जाते हैं. जिनकेलिए अर्थ रचना की जाती है उनका सम्पादन भी वे नहीं करतीं. अर्थ रचनाका अर्थ है अर्थकेलिए निर्माण.

शंका होती है कि मैं भी तो वैसी ही हूं इसलिए यथायोग्य फल मेरेलिए हो. इसका उत्तर देते हैं कि तुम वैसी नहीं हो किन्तु सिद्धा हो अर्थात् तुम पूर्वकी तरह असिद्धा नहीं हो. पूर्व सिद्ध विषयृके भोगृमृ तो पतन होता है. यहां पूर्व भोगृका निषेध ही केवल नहीं किया गया है किन्तु वैभवका उपयोग करो, यह भी कहा गया है. यहां 'विभवान् भुङ्क्ष्व'मृ जो विभवपद है उसका अर्थ है चला गया है जन्म जिनसे, अर्थात् ये विषयरूप होते हुए भी मोक्षसाधक हैं अतः इनका उपभोग तू कर. ये भगवत्प्रसादरूप विषय धर्म फलरूप नहीं हैं क्यृकि अन्यथा किया हुआ धर्म क्षयको प्राप्त होता है. इनसे तो ओर निजधर्म जो पातिव्रत्य आदि हैं उनका दोहन अर्थात् पातिव्रत्य आदि धर्म इस द्वारा प्राप्त होता है ऐसे ये भी भगवत्प्रसादरूप भोग हैं. ये केवल फलसे ही उत्कृष्ट हो ऐसा नहीं है किन्तु स्वरूपसे भी ये उत्कृष्ट हैं. इसे 'नरैर्दुरधिगान्'से बताया है. हम राजा हैं इस प्रकारका विकार सन्निपातका कार्य है. उन करणृ(इन्द्रियृ)से उपभोग करनेवाले मनुष्य उन विषयृको ग्रहण नहीं कर सकते हैं ।।८।।

आभास: ऐसा वर देने पर सहसा उसके हृदयमृ सब नहीं आया इसलिए पूर्वविचारित(पहले विचारे हुए)की तरह उसने कुछ प्रार्थना करना आरम्भ किया:

मैत्रेयः उवाच

एवं ब्रुवाणम् अबलाऽखिलयोगमाया–विद्याविचक्षणम् अवेक्ष्य गताधिरासीत्।

सम्प्रश्रयप्रणयविह्वलया गिरेषद्व्रीडावलोकविकसद्धसिताननाह।।९।।

श्लोकार्थः मैत्रेयजीने कहा–कर्दमजीके इसप्रकार कहनेसे अपने पतिदेवको सम्पूर्ण योगमाया और विद्यामृ कुशल जानकर उस अबलाकी सारी चिन्ता जाती रही. उसका मुख कुछ संकोच भरी चितवन और मधुर मुस्कानसे खिल उठा वह विनय एवं प्रेमसे गद्–गद् वाणीसे इस प्रकार बोली।।९।।

व्याख्यार्थः 'एवं ब्रुवाणमवेक्ष्य गताधिरासीत्' सबसे पहले तो इस प्रकारसे बोलते हुए अपने पतिको देखकर उसकी मानसिक चिन्ता दूर हो गई. केवल माहात्म्यकेलिए ऐसा नहीं कहा यद्यपि स्त्रियाृके सामने झूठ बोलना भी दोष नहीं है. ऐसा झूठा वचन भी कर्दमजीका नहीं था. उसमृ हेतु देते हैं कि कर्दमजी अखिल योगमाया विद्या विचक्षण थे सबकी सब जो योगमाया है अर्थात् अनेक प्रकारकी सब विषयरूपा माया उसकी वशीकरण मन्त्रादिरूपा जो विद्या है उसमृ वे अति निपुण थे ऐसा जब देवहूतिने जाना और वक्ता भी वे वैसे ही हैं सत्य ही बोलृगे ऐसा विचारकेद्वारा जानकर चिन्ता मुक्त हो गईं. अब उसकी प्रार्थनाको बताते हैं 'संप्रश्रय प्रणय विह्वलया गिरेषद्' प्रश्रयका अर्थ है 'विनय' और प्रणयका अर्थ है 'स्नेह' इनके द्वारा विह्वल वाणी(बोली)से 'संप्रश्रय'की जगह 'संप्रश्रित' ऐसा भी पाठ मिलता है वहां संप्रश्रयका अर्थ है उत्तमरूपसे जो यह आश्रित है उसका जो प्रणय(स्नेह) उससे विह्वल वाणी(बोली)से मुखसे बोलनेके समय जो वर्ण निकलते हैं उनको विनय रोक देता है तथा स्नेह भी रोकता है अतः वाच्यका अर्थ है उसकी याद आ जानेसे मुख पर मुस्कुराहट आ गई क्याृकि वह एक अच्छे कुलकी बहू थी अतः लज्जापूर्वक जो अवलोकन है उससे और मुखके विकासके समय हास्यपूर्वक आगे कही जानेवाली बातको उसने कहा. लज्जापूर्वक अवलोकन भावित अर्थका सूचक है ।।९।।

आभासः दो श्लोकाृसे साधन सहित अपने अभिप्रेतको कहती है :

देवहूतिः उवाच

राद्धं बत! द्विज–वृषैतदमोघ–योग–मायाधिपे त्वयि विभो! तद् अवैमि भर्तः!।
यस्तेऽभ्यधायि समयः सकृद् अङ्गसङ्गो भूयाद् गरीयसि गुणप्रसवः सतीनाम् ।।१०।

श्लोकार्थः देवहूतिने कहा – हे द्विजश्रेष्ठ ! हे स्वामिन् ! मैं यह जानती हूं कि कभी निष्फल न होनेवाली योगशक्ति और त्रिगुणात्मिका माया पर अधिकार रखनेवाले आपको ये सब ऐश्वर्य प्राप्त हैं, किन्तु हे विभो ! आपने विवाहके समय

जो प्रतिज्ञा की थी कि गर्भाधान होने तक मैं तुम्हारे साथ गृहस्थ सुखका उपभोग करूंगा उसकी पूर्ति अब होनी चाहिए. क्यूंकि श्रेष्ठ पतिके द्वारा संतान प्राप्त होना पतिव्रता स्त्रीकेलिए महान् लाभ है।।१०।।

व्याख्यार्थ: यद्यपि भर्त्ताने कहा था कि भगवत्प्रसादमूं तुम्हूं देता हूं तथापि यह देवहूति तो मुनिको भगवान्के रूपमूं समझकर ही सेवा करती थी इसलिए ऋषिके कहे हुए धर्म ऋषिमूं स्वाभाविकरूपसे हैं इसका अनुवाद करके ''उन गुणूंको मैं जानती हूं'' इसको प्रमाणित करनेकेलिए 'हे द्विजवृष! एतत् त्वयि राद्धं' हे द्विजश्रेष्ठ! वे जो आपने कहे हैं ये सब आपमूं सिद्ध हैं. यह बडी प्रसन्नताकी बात है. द्विजूंमूं जो श्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता होते हैं उनको यह सब सिद्ध होता है इसे बतानेकेलिए हे द्विजवृष! ऐसा सम्बोधन दिया है. अथवा कामपूर्तिकेलिए ऐसा सम्बोधन है. कहा भी है ''पशव्योहिकामः'' और भी कहती है अमोघ जो योगमाया है उसके आप अधिपति हैं इसलिए आपमूं ये सब सिद्ध हैं. कोई योगमाया केवल प्रदर्शनकेलिए होती है किन्तु यह योगमाया तो अमोघ है. जो अमोघ मायाके अधिपति होते हैं उनका ही वैसा कथन सत्य होता है. इसलिए वैसा अनुवाद किया और 'तद् अवैमि' उसको मैं जानती हूं ऐसा प्रमाण भी बताया. उस प्रमाणका साधक, हे विभो! ऐसा सम्बोधन भी दिया. हे भर्त्तः! यह सम्बोधन यह सूचित करता है कि मैं सब जानती हूं मुझमूं भी ऐसी सामर्थ्य है यह सब सामर्थ्य भर्त्ताके द्वारा ही प्राप्त हुई है, भर्त्ताके धर्मसे ही भार्याकी सामर्थ्य होती है. विवाहके समय जो प्रण हो चुका है उसके अतिरिक्त अन्य यदि मांगा जाय तो स्वधर्मका क्षय होता है अतः विवाहके समयकी शर्तको ही वह स्मरण कराती है. 'यस्तेऽभ्यधायि सकृदंगसंग' आपने जो पहले कहा था कि ''जब मेरे तेज(गर्भ) को धारण कर लेगी'' वह एकान्त संग होवे, आप अमोघ वीर्य हैं अतः एकबार ही उसने अंगसंगकी प्रार्थना की. वह प्रतिज्ञा तो दोनूंकेलिए उल्लंघन करनेकी नहीं है.'स भूयात्' से प्रार्थनाका ग्रहण है. उस एकबारके अंगसंगसे क्या होगा इस शंकाका उत्तर देती है 'सतीनां गुण प्रसवः' वह एकबारका अंगसंग ही सतियूं केलिए गुणप्रसव होता है. पतिव्रता कामुकी(कामवासनावाली) नहीं होती किन्तु पतिव्रत ही उनका व्रत होता है. अतः उतना ही उसे अपेक्षित था. एकबारके अंगसंगसे होनेवाले जो आनन्द आदि गुण हैं वे तब ही पतिमूं अभिव्यक्त(प्रकट) होते हैं और उसके आगे पुत्रके द्वारा वे ही आनन्दादि गुण श्रेष्ठरूपसे उत्पन्न होते

हैं तभी उन स्त्रियाॄका जन्म सफल होता है ।।१०।।

आभास: साधन कहते हैं :

तत्रेतिकृत्यम् उपशिक्ष यथोपदेशं येनैष मे कर्शितो–ऽतिरिरंसयात्मा । सिद्ध्येत ते कृतमनोभवधर्षिताया दीनस्तदीश! भवनं सदृशं विचक्ष्व।।११।।

श्लोकार्थ: हम दोनोके संगकेलिए शास्त्रके अनुसार जो कर्त्तव्य हो उसका आप उपदेश दीजिए और समागमके योग्य उपयोगी सामग्रियां भी उपस्थित कर दीजिए जिससे मिलनकी इच्छासे अत्यन्त दीन, दुर्बल हुआ यह मेरा शरीर आपके अंगसंगके योग्य हो जाय, क्याॄकि आपकी ही बढाई हुई काम वेदनासे मैं पीडित हो रही हूं. हे स्वामिन् ! इस कार्यकेलिए एक उपयुक्त भवन तैयार हो जाय, इसका भी विचार कीजिए।।११।।

व्याख्यार्थ: उस अंगसंगकेलिए जो कर्त्तव्य हो उसका उपदेश दीजिए, जिससे वह एकबारका अंगसंग भी रसात्मक हो. रसात्मक अंगसंग ही पुरुषार्थरूप होता है. एकबार उसका भोक्ता सब सामग्रियाॄसे युक्त होना चाहिए और रस तो विभाव–अनुभाव–व्यभिचारीभाव आदिसे उत्पन्न होता है वे सब कामशास्त्रमॄ विस्तारसे कहे गए हैं, अर्थात् अपने ज्ञानको दृढ करनेकेलिए कामशास्त्रको देखना चाहिए. अतएव 'यथोपदेशम्' ऐसा कहा है. जैसे कामशास्त्रमॄ इन्दु(चन्द्रमा) मन्दिर(कामोपभोग सामग्रियाॄसे युक्त भवन) इन्दिरा(लक्ष्मी) मृगमद(कस्तूरी) ये सब रसोत्पत्तिमॄ सहायक होते हैं. अन्यथा वृद्धिको प्राप्त हुआ राग निवृत्त नहीं होता 'येन एषः मे आत्मा रिरंसया अतिकर्शितः' जिससे इस आत्माको मैंने रमणकी इच्छासे अत्यन्त कृश कर दिया है. यहां आत्मासे देह और अन्तःकरण लिया जाता है. यह देह बिना कामशास्त्रके इसके योग्य नहीं होती ऐसा यह आत्मा (देह) रिरंसा(रमणकी इच्छासे) दुःखित उसी(कामशास्त्र)के द्वारा सिद्ध होता है वह ही उपाय करना चाहिए. आपने मेरेमॄ कामको उत्पन्न किया है. उस कामसे मैं पीडित हो रही हूं अतः कामके द्वारा होनेवाले मेरे पराजयको भी आप दूर करॄ. यह देह आपके अधीन है. दूसरी प्रार्थना ओर करती है 'हे ईश! सदृशं भवनं विचक्ष्व' अंगसंगके अनुकूल भवनका निर्माण करॄ ।।११।।

आभास: तब कर्दमजीने विचारा कि यह सम्बन्ध मात्र ही नहीं चाहती है. किन्तु सम्बन्धको वैभवके साथ चाहती है अतः वैसा ही करना चाहिए ऐसा विचार कर भगवान्के द्वारा दिए गए योगकी सामर्थ्यसे वैसा ही उन्हॊने किया :

मैत्रेयः उवाच

प्रियायाः प्रियम् अन्विच्छन् कर्दमो योगम् आस्थितः।

विमानं कामगं क्षत्तः तर्ह्येवाविरचीकरत् ।।१२।।

श्लोकार्थः मैत्रेयजी कहते हैं, हे विदुरजी! कर्दमजीने अपनी प्रिय भार्याकी इच्छा पूर्ण करनेकेलिए उसी समय योगमॄ स्थित होकर एक विमानका आविष्कार किया जो इच्छानुसार सर्वत्र जा सकता था।।१२।।

व्याख्यार्थः प्रेम विषयक जो भार्या है उसे प्रिया कहते हैं उस प्रियाकी प्रीतिको चाहते हुए कर्दमजीने भगवान्के द्वारा दी हुई योगमायाका आश्रय लिया, योगबलके द्वारा इच्छानुसार चलनेवाले विमानकी रचना की, अर्थात् विमानका आविष्कार किया. योगमॄ सब स्थित ही है केवल वह इच्छासे प्रकट होता है. घर जैसा होते हुए भी वह विमान इच्छानुसार चलता था. 'क्षत्तः!' ऐसा सम्बोधन इसलिए दिया है कि अन्तःपुर(जनाना)के वैभवको तुमने प्रत्यक्ष देखा है ।।१२।।

आभासः नौ प्रकारके भाव तथा नौ प्रकारकी क्रीडाकेलिए नौ श्लोकॄसे उसका वर्णन करते हैं :

सर्वकामदुघं दिव्यं सर्वरत्नसमन्वितम्।

सर्वर्द्धर्युपचयोद् अर्कं मणिस्तम्भैरुपस्कृतम् ।।१३।।

श्लोकार्थः यह विमान सब प्रकारके इच्छित भोग सुख प्रदान करनेवाला, अत्यन्त सुन्दर, सब प्रकारके रत्नॄसे युक्त, सब सम्पत्तियॄकी उत्तरोत्तर वृद्धिसे सम्पन्न तथा मणिमय खंभॄसे सुशोभित था।।१३।।

व्याख्यार्थः सब कामनाओॄको पूर्ण करनेवाला है अतः यह दिव्य है, अलौकिक है. 'सर्वरत्नसमन्वितं'का अर्थ तो स्पष्ट ही है. सब प्रकारकी ऋद्धयः (सम्पत्तियां) उनका जो उपचय(आधिक्य) वह ही है, उदक(अग्रिमफल) जिसका उस घर(विमान)मॄ ऋद्धियॄके उपभोगसे ऋद्धियां और बढती रहती हैं उसमॄ उपभोगसे कमी कभी नहीं होती. लोकमॄ तो हम देखते हैं कि उपभोगसे सम्पत्तियॄमॄ कमी होती रहती है. मणिमय खम्भॄसे वह युक्त था जिस तरह शोभाकी वृद्धि हो वैसा उसका निर्माण था ।।१३।।

दिव्योपकरणोपेतं सर्वकालसुखावहम्।

पट्टिकाभिः पताकाभिः विचित्राभिरलङ्कृतम्।।१४।।

श्लोकार्थः वह सब ऋतुओॄमॄ सुखदायक था और उसमॄ यत्र-तत्र सब

प्रकारकी दिव्य सामग्रियां रक्खी हुई थीं तथा उसे चित्र-विचित्र ध्वजा और पताकाॠसे खूब सजाया गया था।।१४।।

व्याख्यार्थ: दिव्य जो उपकरण हैं-वस्त्र, पीठॄ आदिसे उनसे युक्त, शीत, उष्ण आदि सब कालॄमृ सुख देनेवाला था. अब बाह्य(बाहरकी) शोभाको कहते हैं वह विमान विचित्र ध्वजा-पताकाॠसे सजाया गया था पट्टिकाका अर्थ है लम्बी और पट्ट वस्त्रसे निर्मित और जयपत्रसे अंकित होनेवाली पताका कही जाती है वे सभी विचित्र थीं उनसे वह अलंकृत था ।।१४।।

स्रग्भिर्विचित्रमाल्याभिः मञ्जुसिञ्जत्षडङ्घ्रिभिः।
दुकूलक्षौमकौशेयैः नानावस्त्रैर्विराजितम्।।१५।।

श्लोकार्थ: जिन पर भ्रमरगण, मधुर गुंजार कर रहे थे ऐसे रंग-बिरंगे पुष्पॄकी मालाॠसे तथा अनेक प्रकारके सूती और रेशमी तथा ऊनके वस्त्रॄसे वह अत्यन्त शोभायमान था।।१५।।

व्याख्यार्थ: विचित्र है माल्य(पुष्प जिनमॄ ऐसी मालाॠ)से वह युक्त था वे मालाके पुष्प कभी मुरझाते नहीं थे और उनमॄ आमोद(अत्यन्त सुगन्ध) तथा पुष्परस सदा रहता था जिससे सुन्दर गुंजार करते हुए भौंरे उन पर मंडराते रहते थे. दुकूल, क्षौम और कौशेय पट्टाम्बर विशेषॄसे वह शोभायमान था. कीट(कीडॄ)मॄ उत्पन्न(रेशमी) और सूती तथा छालके सनके अनेक प्रकारके वस्त्र थे उन्हीसे यथा योग्य शोभायमान था ।।१५।।

उपर्युपरि विन्यस्त-निलयेषु पृथक् पृथक्।
क्षिप्तैः कशिपुभिः कान्तं पर्यङ्कव्यजनासनैः।।१६।।

श्लोकार्थ: एकके ऊपर एक बनाए हुए कमरॄमॄ अलग-अलग रक्खी हुई शय्या, पलंग, पंखे और आसनॄ के कारण वह बहुत सुन्दर जान पडता था।।१६।।

व्याख्यार्थ: एकके ऊपर एक इस तरहके उत्तरोत्तर बने हुए वहां सॄकडों ही घर थे. सभी कमरे अलग-अलग नियमित उत्तम शय्याॠसे रमणीय थे. 'पृथक्-पृथक् कशिपुभिःकान्तम्' इसके कहनेका तात्पर्य यह है कि अलग-अलग कमरॄमॄ सबमॄ शय्या थी इसलिए किसी अन्य कमरेकी शय्याको अन्य कमरेमॄ नहीं ले जाना पडता था. 'कशिपु' और 'पर्यंक'मॄ यह अन्तर है कि कशिपु उत्तम शय्याका वाचक है और पर्यंक एक विशेषरूपकी खाट(चारपाई)का वाचक है. विशेष प्रकार व्यजनॄ(पंखॄ) और विशेष प्रकारके आसनॄसे सभीसे वह बडा

सुन्दर था ।।१६।।

आभास: कामशास्त्रके अनुसार सब प्रकारके बन्धनाृके बोधक चित्राृका उसमृ वर्णन करते हैं :

तत्र–तत्र विनिक्षिप्त–नानाशिल्पोपशोभितम्।
महामरकतस्थल्या जुष्टं विद्रुमवेदिभिः।।१७।।

श्लोकार्थ: जहां–तहां दीवाराृमृ की हुई शिल्प रचनासे उसकी अपूर्व शोभा हो रही थी. उसमृ पन्नेका फर्श था और बैठनेकेलिए मूंगेकी वेदियां बनाई गईं थीं।।१७।।

व्याख्यार्थ: विशेषरूपसे निर्मित जो नाना शिल्पकी रचना उन्हींसे वह शोभित था. जहां–तहां उन कमराृमृ महामरकत मणि(पन्ने)का बना आंगन(फर्श) था उस फर्शसे युक्त वह विमान था. विद्रुम(मूंगे)की उसमृ वेदियां बनाई गईं थीं. बैठनेकी ऊंची जगहको यहां वेदी नामसे कहा गया है ।।१७।।

द्वाःसु विद्रुमदेहल्या भातं वज्रकपाटवत्।
शिखरेष्विन्द्रनीलेषु हेमकुम्भैर् अधिश्रितम्।।१८।।

श्लोकार्थ: द्वाराृके मूंगेकी बनी हुई देहलियां थीं और द्वाराृमृ हीरेके किवाड थे तथा इन्द्र नीलमणिके शिखराृ पर सोनेके कलश रक्खे हुए थे।।१८।।

व्याख्यार्थ: द्वाराृके मूंगेकी ही देहली होती है उससे भी वह शोभायमान था. हीरेके किवाड थे. शिखरसे यहां कमराृका ऊपरका भाग लिया जाता है उन कमराृके ऊपरके भाग जो इन्द्र नीलमणिसे बनाये गए थे उनके ऊपर सोनेके कलश रक्खे गए थे. स्वर्ण कलश इन्द्र नीलमणिकी सहायतासे स्थित थे अतः उनकी भी उसीसे शोभा थी ।।१८।।

चक्षुष्मत्पद्मरागाग्रैः वज्रभित्तिषु निर्मितैः।
जुष्टं विचित्रवैतानैः सहारैर्हेमतोरणैः।।१९।।

श्लोकार्थ: उस विमानकी हीरेकी दीवाराृमृ उत्तम पद्मराग(लाल) जडे हुए थे. जो ऐसे ज्ञात होते थे मानो उस विमानकी आंखे हो, तथा उसे रंग–बिरंगे चंदोवोंसे और मोतियाृके हार सहित सोनेके तोरणसे सजाया गया था।।१९।।

व्याख्यार्थ: अत्यन्त तेजस्वी नेत्राृसे जैसे देखते हों इस तरह प्रतीयमान श्रेष्ठ पद्मराग थे वे वज्र(हीरे) मयीभित्ति(भींत)मृ जडे हुए थे उससे भी वह शोभायमान था. रंग–विरंगे चंदोवाृसे और मोतियाृके हाराृसे युक्त पत्राकार सोनेके

तोरणॄसे सजाया गया था ।।१९।।

हंसपारावतव्रातैः तत्र-तत्र निकूजितम्।
कृत्रिमान् मन्यमानैः स्वान् अधिरुह्याधिरुह्य च।।२०।।

श्लोकार्थः उस विमानमॄ जहां-तहां बनावटी हंस और कबूतर आदि पक्षी बनाए गए थे, बराबर सजीव(जिन्दे)से मालूम पडते थे, उन्हॄ अपना सजातीय समझकर बहुतसे हंस कबूतर उनके पास बैठ-बैठ कर अपनी बोली बोलते थे।।२०।।

व्याख्यार्थः हंस आदि पक्षी विशेषॄका समूह वहां कूजन कर रहा था. चित्रपटॄ(चित्रके परदॄ)मॄ वे हंस आदि बने हुए थे, उनको यह सत्य है(ऐसा समझते थे) चित्रमॄ बने हुए हंस पारावतको अपने समान सत्य मान वे हंस पारावत कूजन करते थे इसका पूर्वसे सम्बन्ध है. लकडी और पत्थरके बने हुए हंस आदिके पास वे सत्य हंस आदि एकबार पास बैठकर भी उनको बनावटी नहीं समझते थे. यहां तक कि बार-बार पासमॄ बैठकर भी उनको सत्य मानते थे ऐसा शिल्पका(कारीगरीका) चातुर्य था ।।२०।।

विहारस्थानविश्राम-संवेशप्राङ्गणाजिरैः।
यथोपजोषं रचितैः विस्मापनमिवात्मनः।।२१।।

श्लोकार्थः क्रीडास्थली, विश्राम स्थान, सुखपूर्वक बैठनेका स्थान, आंगन और चौक ये सब उसमॄ यथास्थान बने हुए थे. इनके कारण वह विमान स्वयं कर्दमजीको भी विस्मित सा कर रहा था।।२१।।

व्याख्यार्थः विहार स्थान(क्रीडाका स्थान), विश्राम स्थान, नियुद्ध (कुश्ती) करके उसकी थकानको दूर करनेकेलिए बैठनेका स्थान, संवेशनं (सुखपूर्वक बैठनेका स्थान), प्रांगणम्(कमरेके बाहर), अजिरम् (आंगन)मॄ ये सब यथा स्थान बने हुए थे जिससे योगाधीश कर्दमजीको बडा आश्चर्य हुआ. यद्यपि वे कर्दमजी योगमायाके वैभवको जानते थे परन्तु वैसा उन्होंने कभी नहीं देखा था इसलिए उनको भी यह विमान आश्चर्यजनक जैसा लगा ।।२१।।

आभासः उस अभिलाषित गृहको देखकर भी मेरा शरीर तो इसके योग्य नहीं है ऐसे देवहूतिके अभिप्रायको समझकर उसको भी उसके योग्य बनानेकेलिए उसे उपदेश देते हैं :

ईदृग् गृहं तत् पश्यन्तीं नातिप्रीतेन चेतसा।

सर्वभूताशयाभिज्ञः प्रावोचत् कर्दमः स्वयम्।।२२।।

श्लोकार्थः ऐसे सुन्दर घरको भी जब देवहूतिने बहुत प्रसन्न चित्तसे नहीं देखा तो सबके आन्तरिक भावको समझनेवाले कर्दमजीने स्वयं ही कहा।।२२।।

व्याख्यार्थः पूर्वोक्त घरको अत्यन्त प्रसन्न चित्तसे नहीं देखती हुई देवहूतिको अपने योगबलसे सबके हृदयकी बातको जाननेवाले मुनिने चुपचाप खडी हुईसे इस प्रकार कहा ।।२२।।

आभासः मुनिके वचनको कहते हैं :

निमज्ज्याऽस्मिन् ह्रदे भीरु विमानम् इदम् आरुह।
इदं शुक्लकृतं तीर्थम् आशिषां यापकं नृणाम्।।२३।।

श्लोकार्थः हे भीरु ! तुम इस बिन्दुसरोवरमॄ स्नान करके विमान पर चढ जाओ. यह विष्णु भगवान्का रचा हुआ तीर्थ मनुष्याॄकी सभी कामनाआॄको पूर्ण करनेवाला है।।२३।।

व्याख्यार्थः हे उत्तमे! तुम डरो मत. डरी हुईको देखकर ही मुनिने स्नान केलिए भेजा. इस ह्रद(होज)मॄ डुबकी लगाकर इस विमानमॄ बैठ जा. बिना ही किसी संस्कारके ठंडे जलमॄ नहानेसे क्या होगा इस आशंकाका उत्तर देते हैं 'यह शुक्ल नारायणका बनाया हुआ तीर्थ है' यह सब कामनाआॄको पूर्ण करनेवाला है. इस तीर्थमॄ स्नान करनेसे जैसा तेरा मनोरथ होगा वैसा तेरा शरीर हो जायगा. यद्यपि उस तीर्थमॄ वह नित्य स्नान करती थी परन्तु बडाॄकी आज्ञा नहीं थी इसलिए पहले सिद्धि नहीं हुई ।।२३।।

आभासः उसने वैसा ही किया इसे 'सा तद्भर्तुः' इन दो श्लोकाॄसे कहते हैं :

सा तद्भर्तुः समादाय वचः कुवलयेक्षणा।
सरजं बिभ्रती वासो वेणीभूतांश्च मूर्धजान्।।२४।।
अङ्गं च मलपङ्केन सञ्छन्नं शबलस्तनम्।
आविवेश सरस्वत्याः सरः शिवजलाशयम्।।२५।।

श्लोकार्थः कमल नयना देवहूतिने अपने पतिकी बात मानकर सरस्वतीके पवित्र जलसे भरे हुए उस सरोवरमॄ प्रवेश किया उस समय वह बडी मैली कुचैली साडी पहने हुए थी उसके सिरके बाल चिपक जानेसे उनमॄ लटॄ पड गईं थीं शरीरमॄ मैल जम गया था तथा कान्तिहीन स्तनसे युक्त उसका शरीर

था।।२४-२५।।

व्याख्यार्थ: उस देवहूतिने भर्त्ताकी बातको मानकर मैली कुचैली साडीको पहने हुए, बालाृमृ जिसके लटृ(बाल आपसमृ चिपक गए थे) पड गई थी मैल शरीर पर जमा हुआ था ऐसी स्थितिमृ उसने सरस्वतीके सरोवरमृ प्रवेश किया. ऋषि भर्त्ता हैं अतः उनकी बात माननी ही चाहिए. सारा ही भार तो ऋषि पर ही था. देहकी सिद्धिकेलिए ही साधन है ऐसा समझते हुए ऋषिके वचनको ग्रहण किया यह 'समादाय'का अर्थ है. 'कुवलयेक्षणा'का अर्थ है कमलदलके समान लम्बे जिसके नेत्र हैं ऐसा कहनेका तात्पर्य यह है कि उसमृ क्रोध, ईर्ष्या, खेद आदिका भाव सर्वथा नहीं था. वचनके ऊपर विश्वास होनेसे ही तो नेत्रोंमृ प्रसन्नताका भाव था. उसके पास वैसी कोई सामग्री थी नहीं जिससे उसे प्रसन्नता हो उसके पास तो विपरीत सामग्री थी जिसका वर्णन करते हैं मैले कुचैले तो वस्त्र थे जिससे बाह्य सामग्री उसके पास ठीक नहीं थी यह सूचित होता है. जिनमृ लटे पड रही हैं ऐसे सिरके बाल थे ये बहिरंग(बाहरी साधन थे) अंग भी प्रतिदिन जमनेवाले मैलसे जलका सम्बन्ध होनेसे कीचड जैसा हो रहा था. अतः उस मैलका साफ होना भी बडा कठिन था. कान्तिहीन स्तन जिसमृ हैं ऐसा शरीर था, इससे उपभोग्य जितने भी अवयव थे वे सब सर्वथा अयोग्य थे यह सूचित हुआ. सरस्वती सृष्टि करनेवाली है अतः इसमृ स्नान करनेसे अंग आदि नए हो जायृगे इसलिए उसने सरस्वतीमृ प्रवेश किया. 'शिवं'का अर्थ है कल्याण करनेवाला स्नान करने पर ये अपकार तो करेगी नहीं उपकार तो ऋषिके वाक्यसे होगा अपकार तो कदापि होगा ही नहीं यह उसका अर्थ है ।।२४-२५।।

आभास: तदनन्तर क्या हुआ उसे कहते हैं :

साऽन्तःसरसि वेश्मस्थाः शतानि दश कन्यकाः।
सर्वाः किशोरवयसो ददर्शोत्पलगन्धयः।।२६।।

श्लोकार्थ: सरोवरमृ गोता लगाने पर उसने उसके भीतर एक महलमृ एक हजार कन्याएं देखीं. वे सभी किशोर अवस्थाकी थीं और उनके शरीरसे कमलकी सुगन्ध आती थी।।२६।।

व्याख्यार्थ: ऋषिका आनन्दांश देवहूति थी उस आनन्दका तत्त्व इधर तिरोहित था अतः योगको निमित्त करके हजार स्त्रियाृके रूपमृ वह हो गया. अतः उन स्त्रियाृसे कोई क्षति नहीं हुई. सरोवरके अन्दर एक अद्भुत घर था. ऋषिने

निर्माण किया था यह तो बिना ही कहे सिद्ध है. अपने द्वारा निर्मित स्त्रियाॅसे उपभोग करनेमॅ दोष होता है और देवहूतिके साथ किया हुआ विवाह भी व्यर्थ हो जाता है. उन स्त्रियाॅसे होनेवाला आनन्द पुनः इस(देवहूति)मॅ ही संक्रमित हो जायगा. बाह्य उपचार तो सिद्ध हाॅगे. वे उत्पन्न हुई स्त्रियां भगवत्सम्बन्धिनी थीं इसलिए देवहूतिके देहकी स्थिति पर्यन्त ही रहकर फिर वे भगवन् योगमायामॅ प्रविष्ट हो जायगीं. उस घरमॅ विद्यमान एकहजार कन्याओंको देखा. सबकी एकसी अवस्था थी वह अवस्था भगवत्कृत थी उसको 'सर्वाः किशोरवयसः'से बताया है. सहस्र संख्या(एक हजार संख्या) कामशास्त्रके अनुसार वहांके उत्कर्षको प्रतिपादन करनेकेलिए रक्तकमल(उत्पल) कहा है उनमॅ गन्धका निरूपण अन्यत्र संक्रमणकेलिए कहा है ।।२६।।

आभासः उसके अनन्तर जो हुआ उसे कहते हैं :

तां दृष्ट्वा सहसोत्थाय प्रोचुः प्राञ्जलयः स्त्रियः।
वयं कर्मकरीस्तुभ्यं शाधि नः करवाम किम् ।।२७।।

श्लोकार्थः देवहूतिको देखकर वे स्त्रियां सेवाकेलिए और विश्वास केलिए हाथ जोड कर कहने लगीं ''हम आपकी दासियां हैं हमॅ आज्ञा दीजिए आपकी क्या सेवा करॅ''।।२७।।

व्याख्यार्थः देवहूतिको देखकर वे स्त्रियां सेवाकेलिए और विश्वास केलिए हाथ जोड कर बोलीं. उनके वचनको कहते हैं हम आपकी सेवा करनेकेलिए दासियां हैं हमॅ आज्ञा दीजिए हम क्या सेवा करॅ. आप जो चाहती हो वो हमॅ कहो. आपके शरीरका संस्कार तो हमारा स्वधर्म ही है उसकेलिए तो कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं है ।।२७।।

आभासः उन्हॅाने जैसा कहा था उसी तरह सेवा की उसे 'स्नानेन' आदि दो श्लोकॅासे कहते हैं :

स्नानेन तां महार्हेण स्नापयित्वा मनस्विनीम्।
दुकूले निर्मले नूत्ने ददुरस्यै च मानदाः।।२८।।
भूषणानि परार्ध्यानि वरीयांसि द्युमन्ति च।
अन्नं सर्वगुणोपेतं पानं चैवामृतासवम्।।२९।।

श्लोकार्थः तब स्वामिनीको सम्मान देनेवाली उन स्त्रियाॅने बहुत मूल्य पदार्थों तथा गन्ध आदिसे मिश्रित जलके द्वारा स्वाभिमानी देवहूतिको स्नान

कराया तथा उसे दो नवीन और निर्मल वस्त्र पहननेको दिए फिर उन्हॄने बहुमूल्य सुन्दर और कान्तिमान आभूषण सर्वगुण सम्पन्न भोजन और पीनेकेलिए अमृतके समान आसव प्रस्तुत किया।।२८-२९।।

व्याख्यार्थ: पहले तो अमूल्य स्नानसे स्नान कराकर आदिमॄ तो मलापकर्षण स्नान कराया. सुखकर ऐसे अंगमर्दन आदिसे दूसरा स्नान कराया. कपूर आदि अमूल्य द्रव्यॄसे तीसरा स्नान कराया. स्नान शब्द स्नान क्रियाका वाचक है और स्नान करानेके द्रव्यॄमॄ भी स्नान शब्द है जैसे अग्निहोत्र शब्द क्रिया एवं द्रव्य दोनॄमॄ ही है. इसलिए स्नानसे(स्नानके द्रव्यॄसे) उसे स्नान कराया ऐसा कहा.

'मनस्विनीं'का अर्थ मानवती होता है. जहां 'मानवीम्' ऐसा पाठ हो वहां मनुकी पुत्रीको ऐसा अर्थ समझना. 'च'से उबटन आदि सब संस्कार लिए जाते हैं. अन्दर पहरनेका तथा ऊपर ओढनेका दुकूल जो निर्मल(स्वच्छ) था. यदि दोनॄ वस्त्र नए हॄ तो उसमॄ औत्पत्तिक(नव निर्माणके कारण) मलकी सम्भावना रहती है इसलिए निर्मल पद दिया वे दोनॄ वस्त्र स्वच्छ थे वे पुराने नहीं थे इसे बतानेकेलिए 'नूतने' पद दिया, नए वस्त्र इसे दिये. उस देवहूतिके सम्मानकेलिए बहुतसे दुकूल उसके सामने रक्खे सब सखियॄको देकर फिर उसने पहिरे. ऐसा करनेसे उसका सम्मान होता है. क्यॄकि ये सब स्त्रियां देवहूतिको सम्मानित करती थीं. नाना प्रकारके आभूषण दिये जिनका कोई मूल्य तक नहीं कर सकता था, वे गुणसे भी अमूल्य थे इसकेलिए 'वरीयांसि' ऐसा कहा. वे आभूषण अति सुन्दर और कान्तियुक्त थे, भोजनकेलिए अन्न और सब गुणवाले व्यञ्जन आदि (उपस्थित किए). यहां 'पानं'से पानक(पीनेकी वस्तु) उपस्थित की अमृतरूप और आसवरूप मादक(नशीले) द्रव्य कामशास्त्रमॄ रसोत्पत्तिकेलिए कहे गए हैं यहां आसवसे जिनका शास्त्रॄमॄ निषेध नहीं है वैसे जायफल आदि लेने चाहिए निषिद्ध मदिरा आदि नहीं लिए जाते हैं. यदि आसवका पान न किया जाय तो भर्त्ताके साथ स्मर(काम) संग्राम नहीं हो सकता है ।।२८-२९।।

आभास: देखनेकेलिए उन्हॄने दर्पण दिया प्रमाणकेलिए उस(देवहूति)के देखे हुए रूपका ही चार श्लोकॄमॄ वो वर्णन करतीं हैं, चार श्लोकॄसे वर्णन इसलिए किया है कि वह देवहूति कामकी सेनारूप है सेना चतुरंग(चार अंगवाली) होती है :

अथादर्शे स्वम् आत्मानं स्रग्विणं विरजाम्बरम्।
विरजं कृतस्वस्त्ययनं कन्याभिर् बहुमानितम्।।३०।।

श्लोकार्थ: जब देवहूतिने दर्पणमृ अपना प्रतिबिम्ब देखा तो उसे ज्ञात हुआ कि वह भांति-भांतिके सुगन्धित फूलृके हारृसे विभूषित है स्वच्छ वस्त्र पहने हुए है उसका शरीर भी निर्मल और कान्तिमान हो गया है. उन कन्याआृने बडे आदरपूर्वक उसका मांगलिक शृंगार किया है।।३०।।

स्नातं कृतशिरःस्नानं सर्वाभरणभूषितम्।
निष्कग्रीवं वलयिनं कूजत् काञ्चननूपुरम्।।३१।।

श्लोकार्थ: उसे सिरसे स्नान कराया गया है स्नानके पश्चात् अंगअंगमृ सब प्रकारके आभूषण सजाए गए हैं तथा उसके गलेमृ हार-हमेल, हाथृमृ कंकण और पैरोमृ छमछमाते हुए सोनेके पायजेब शोभित हैं ।।३१।।

श्रोण्योरध्यस्तया काञ्च्या काञ्चन्या बहुरत्नया।
हारेण च महार्हेण रुचकेन च भूषितम्।।३२।।
सुदता सुभ्रुवा श्लक्ष्ण-स्निग्धापाङ्गेन चक्षुषा।
पद्मकोशस्पृधा नीलैर् अलकैश्चोपशोभितम्।।३३।।

श्लोकार्थ: कमरमृ पडी हुई सोनेकी रत्न जटित करधनी बहुमूल्य मणियृके हारसे और अंग-अंगमृ लगे हुए कुंकुम आदि मंगल द्रव्यृसे उसकी अपूर्व शोभा हो रही है. उसका मुख सुंदर दन्तपंक्ति, मनोहर भौंहृ, कमलकी कलीसे स्पर्धा करनेवाले प्रेमकटाक्षमय सुंदर नेत्र और निर्वली अलकावलीसे बहुत ही सुंदर जान पडता था।।३०-३३।।

व्याख्यार्थ: सब अलंकार पहर लिए उसके बाद ऐसा किया इस भिन्न क्रमको बतानेकेलिए अथ शब्द दिया है, 'अथादर्शे'. अपनी रुचिके अनुसार शरीरकी रचनाकेलिए 'अथादर्शे' श्लोक है. आत्मा शब्दसे यहां देहका ग्रहण है. स्वका अर्थ है स्वकीय(अपना) सखियृमृ भी आत्मभाव हो गया था. इसलिए उनका ग्रहण यहां न हो इसकेलिए 'स्व' पदका प्रयोग किया है. स्रग्विणं(मालासे युक्त) रजः(मैल)से रहित है वस्त्र जिसके, देह भी मैलसे रहित थी. सुश्रूषाके अनन्तर दर्पणको देखा प्रतिबिम्बके समय भी कन्याएं वहां पासमृ थीं उन्हृने उसका बहुत सम्मान किया. स्नान किया और स्नानके अनन्तर पुनः सिरसे स्नान

किया. इससे यह सूचित होता है कि स्त्रियां सर्वदा सिर स्नान नहीं करती हैं. इस तरह भिन्न क्रमसे दो स्नान सूचित हुए. सब आभरण जो नित्यके पहननेके थे और आवश्यक थे उन्हृ पहना गलेमृ पदक पहना. स्वाभाविक आभरणृके सिवाय वलय चूडियां पहनी. घुघरियृकी झनकार जिनमृ हो रही है ऐसे सोनेके बने हुए नुपूर(पायजेब) पहने. कटिके ऊपर धारण की गई जो स्वर्णकी कांची(करधनी) जिनमृ रत्न जडे हुए थे तथा मोतियृका अमूल्य हार एवं कुंकुम(केसर)की बिन्दुएं 'च'से जिनको यहां नहीं गिनाया गया है वे सब यहां ले लेना उन सबसे भूषित शरीरसे युक्त, कमलकी कलीसे स्पर्धा करनेवाले मुखसे शोभित. यदि 'अलकैश्चोपशोभितं'की जगह 'अलकैश्चलसन्मुखं' ऐसा पाठ हो तो कमलकी कलीसे स्पर्धा करनेवाला है सम्पूर्ण मुख जिसका, ऐसा अर्थ होगा. सुदता सुन्दर दांत यह मुखका विशेषण है. सुदताका ''शोभना दन्तायस्मिन्'' इस तरहका विग्रह वाक्य है. सुन्दर भौंहृ श्लक्ष्णम् और स्निग्ध है अपांग(नेत्रृका अन्तिम कोना) जिनमृ ऐसे नेत्रृसे नीली अलकावली जो मुखके ऊपर स्थित है तथा अगल-बगलमृ स्थित है उससे मुखकी शोभा और बढ गई है. ऐसी वह देवहूति शोभाको प्राप्त कर रही है ।।३०-३३।।

आभास: इस तरह अपने शरीरको देखकर अब यह शरीर भोग्य हो गया है ऐसा मान कर उसके भोगनेवालेको याद किया :

यदा सस्मार ऋषभम् ऋषीणां दयितं पतिम् ।
तत्र चाऽऽस्ते सह स्त्रीभिः यत्राऽऽस्ते स प्रजापतिः।।३४।।

श्लोकार्थ: जब देवहूतिने ऋषियृमृ श्रेष्ठ अपने प्रिय पतिदेवका स्मरण किया तो देवहूतिने अपनी सखियृके सहित अपने आपको वहीं पाया जहां प्रजापति कर्दमजी बिराजमान थे।।३४।।

व्याख्यार्थ: पतिम्(अपने पति), दयितं(परम प्रेमास्पद) ऋषियृमृ श्रेष्ठ यहां कर्दमजीकेलिए 'पति, दयितं, ऋषिणामृषभम्' इस तरह तीन विशेषण दिये हैं उसका तात्पर्य यह है कि कर्दमजी तीन तरहसे अर्थात् १.स्वधर्मसे, २.लौकिक धर्मसे, ३.वैदिकधर्मसे भजनीय(सेवा करने योग्य) हैं. वह सिद्ध स्थान था इसलिए उसके मनकी सिद्धि हो गई. पहले जहां प्रजापति कर्दमजी थे वहीं पर स्त्रियृके साथ अपनेको उपस्थित पाया ।।३४।।

आभास: इस तरह स्वयं अनुभव किये गए वैभवको देखकर भर्त्ताके

माहात्म्यमू परम आश्चर्य हुआ :

भर्तुः पुरस्ताद् आत्मानं स्त्रीसहस्रवृतं तदा।
निशाम्य तद् योगगतिं संशयं प्रत्यपद्यत ।।३५।।

उस समय अपनेको सहस्रा स्त्रियाूके सहित अपने प्राणनाथके सामने देखकर इसे उनके योगका प्रभाव समझकर देवहूतिको बहुत विस्मय हुआ।।३५।।

व्याख्यार्थ: देवहूतिने जब सहस्रा स्त्रियाूके सहित अपनेको भर्त्ताके सामने देखा तो उनकी योग गतिको देखकर इस तरहके कार्य करनेमू कौनसा साधन है इसका जब पता न लगा तो उसको अत्यन्त आश्चर्य हुआ. क्याूकि उसको निर्धारणमू कोई प्रमाण नहीं दिखाई दिया अथवा संशय कार्य जो आश्चर्य है वह उसे हुआ ।।३५।।

आभास: देवहूतिको इस तरह जब ऋषिके माहात्म्यका ज्ञान हो गया तब उसके साथ ऋषिने संग किया :

स तां कृतमलस्नानां विभ्राजन्तीम् अपूर्ववत्।
आत्मनो बिभ्रतीं रूपं संवीतरुचिरस्तनीम् ।।३६।।

श्लोकार्थ: ऋषि कर्दमजीने देखा कि देवहूतिका शरीर स्नान करनेसे अत्यन्त निर्मल हो गया है और विवाहकालसे पूर्व उसका जैसा रूप था उसी रूपको प्राप्त हो गई है. उसका सुंदर वक्षःस्थल चोलीसे ढका हुआ है।।३६।।

व्याख्यार्थ: किया है मलस्नान जिसने, इससे उसकी बाह्य शुद्धि कही गई. 'तां' पदसे आन्तर शुद्धि बतायी गई है. अपूर्ववत् यह पद नवीनकी तरह दिखाई दे रही थी इस अर्थको सूचित करता है ऐसा अर्थ नूतन रसके उत्पादनकेलिए कहा गया है.

इससे यह ज्ञात होता है कि इन अलंकाराूके पहननेसे वह विवाहके समयके रूपको प्राप्त हो गई थी उसमू उन आभूषणादिसे कोई अलौकिकता नहीं हुई इसे कहते हुए उसके स्वाभाविक सौन्दर्यका वर्णन करते हैं. 'आत्मनो बिभ्रतीं रूपं' विवाहके समय उसका रूप था, वैसे रूपको वह प्राप्त हो गई 'संवीत रुचिर स्तनीं'का अर्थ है ठीक तरहसे चोली आदिसे वेष्टित(आच्छादित) हैं सुन्दर स्तन जिसके ।।३६।।

आभास: अपने द्वारा दिए हुए वैभवको अधिक कहते हैं :

विद्याधरीसहस्रेण सेव्यमानां सुवाससम्।

जातभावो विमानं तद् आरोहयद् अमित्रहन्।।३७।।

श्लोकार्थः हे अमित्रहन् ! हजारू विद्याधरियां उसकी सेवामू लगी हुईं थीं तथा उसके शरीर पर उत्तम – उत्तम वस्त्र शोभा पा रहे थे तब उन्हूने बडे प्रेमसे उसे विमान पर चढाया।।३७।।

व्याख्यार्थः वे भगवदीय विद्याधरियां 'सिद्ध' विद्याधरसे योगमू ही 'प्रतिष्ठित' हैं सुन्दर वस्त्र कामभावमू उद्दीपनकेलिए होते हैं. इस प्रकारके वर्णनका फल कहते हैं उनकी इस प्रकारकी सजावटको देखकर मुनिमू कामभाव उत्पन्न हो गया. उस विमान पर उसे बिठा लिया. 'अमित्रहन्!' सम्बोधन श्रोताको कामभाव न हो इसकेलिए है. दूसरेकी कामलीला सुननेसे होनेवाला काम दुष्ट होता है अतः वह काम अमित्र है उस कामको तुम नष्ट करनेवाले हो ।।३७।।

आभासः उन ऋषिकी कामलीलाको चार श्लोकूसे कहते हैं :

तस्मिन् अलुप्तमहिमा प्रियया ऽनुरक्तो विद्याधरीभिरुपचीर्णवपुर्विमाने ।
बभ्राज उत्कचकुमुद्गणवान् अपीच्यः ताराभिरावृत इवोडुपतिर्नभःस्थः ।।३८।।

श्लोकार्थः उस समय अपनी प्रियामू अनुरक्त होते हुए भी कर्दमजीकी महिमा कम नहीं हुई. विद्याधरियां उनके शरीरकी सेवा कर रहीं थीं. विकसित कुमुदके फूलूसे शृंगार करके अत्यन्त सुंदर बने हुए वे विमान पर इस प्रकार शोभा पा रहे थे मानू आकाशमू तारागणूसे घिरे हुए चन्द्रमा विराजमान हू।।३८।।

व्याख्यार्थः राग महत्वको नष्ट कर देता है दृष्ट तथा अदृष्ट इस भेदसे भी वह राग उनकी महिमाको नष्ट नहीं कर सका. स्वयं कर्दमजी भी उन विद्याधरियूसे सेवित थे. अर्थात् विद्याधरियां उनके शरीरकी सेवा कर रहीं थीं, अर्थात् अनुरागको उत्पन्न करनेवाले द्रव्यसे ही वे प्रियामू अनुरक्त थे. देवहूति उनकी प्रिया थी इसलिए प्रिया होनेके कारण ही उसमू अनुरक्त थे. विकसित कुमुदगणूसे युक्त तो चन्द्र था और कर्दभजी लम्बे–लम्बे बालूवाली और रात्रिमू जिनके द्वारा सुख प्राप्त होता है ऐसी स्त्रियूके समुदायसे युक्त थे, अर्थात् लम्बे–लम्बे सुन्दर बालूवाली और सुख पहुंचानेवाली स्त्रियूके समुदायसे युक्त थे. कर्दमजी अपीच्य थे अर्थात् स्त्रीगणूकेलिए अतिप्रिय थे. प्रियानालगन सौन्दर्य गुणका सूचक है, स्त्रीकी रुचिसे इसका आलम्बन होता है. वे स्त्रियां भी रसको विकसित करनेवाली तथा रसशास्त्रकी जानकार थीं. यह सब 'अपीच्यः'से बोधित होता है, कर्दमजीका शरीर स्त्रीयूके द्वारा सेवित था क्यूकि स्त्रियां ही उस

कार्यके उपयोगी शरीरको कोमल बना सकती हैं. केवल वे स्त्रियां कर्दमजीके शरीरकी परिचर्या ही करती थीं. कर्दमजीका उनमृ कोई अनुराग नहीं था. इस तरह उस प्रसिद्ध विमानमृ कर्दमजी शोभित हो रहे थे. राजकन्याएं वैभव चाहती हैं इसलिए सबसे पहिले शोभातिशयका वर्णन किया. वे सर्वलोक प्रसिद्ध हो गए इसको 'ताराभिरावृत इवोडुपतिर्नभस्थः' इस दृष्टान्तसे स्पष्ट करते हैं. आकाशमृ रहनेवाला चन्द्रमा जैसे ताराओंसे घिरा रहता है उसी तरह मुनि उन स्त्रियोंसे घिरे हुए थे. इस कथनसे विमानकी विशालता आकाशके समान सूचित होती है. अन्य स्थानमृ रहनेवाले तारा ही आवरक(घेरनेवाले) होते हैं उसी तरह यहां भी समझना जिस तरह प्रत्येक कमरेमृ शय्या आदि पदार्थ थे उसी तरह स्त्रियां भी प्रत्येक कमरेमृ थीं यह इससे ज्ञापित होता है ।।३८।।

आभास: विहारको कहते हैं :

तेनाऽष्टलोकपविहारकुलाचलेन्द्र-द्रोणीष्वनङ्गसखमारुतसौभगासु ।
सिद्धैर्नुतो द्युधुनिपातशिवस्वनासु रेमे चिरं धनदवल्ललनावरूथी ।।३९।।

श्लोकार्थ: उस विमान पर निवासकर उन्होंने दीर्घकाल तक कुबेरके समान मेरू पर्वतकी घाटियोंमृ विहार किया. ये घाटियां आठों लोकपालोंकी विहार भूमि है. इसमृ कामदेवको बढानेवाली शीतल, मन्द, सुगन्ध वायु चलकर इनकी सुंदर शोभाका विस्तार करती है तथा गंगाजीके स्वर्गलोकसे गिरनेकी मंगलमय ध्वनि सर्वदा गूंजती रहती है. उस समय भी दिव्य विद्याधरियोंका समुदाय उनकी सेवामृ उपस्थित था और सिद्धगण वन्दना किया करते थे।।३९।।

व्याख्यार्थ: आठ जो लोकपाल हैं उनके विहारके स्थानमृ स्थित जो कुलाचलेन्द्र(सुमेरु) पर्वतकी द्रोणियां(घाटियां) हैं उनमृ रमण किया ऐसा सम्बन्ध है. जिस तरह धर्मके अंगभूत देशकाल आदि होते हैं, काममृ भी उसी तरह देश आदि अंगभूत होते हैं. वह अक्षय रस उन्हीं-उन्हीं देशोमृ अभिव्यक्त(प्रकट) होता है जैसे खानोंसे अर्थ(स्वर्ण आदि) प्रकट होता है. उस देशमृ रसोत्पादनमृ (रसको उत्पन्न करनेमृ) अनुभानका सान्निध्य है उसे कहते हैं. 'अनंगसख-मारुतसौभगासु' कामका मित्र दक्षिणवात है अथवा कामको उत्पन्न करनेवाला ओर कोई हो क्योंकि रमणमृ उसकी अत्यन्त आवश्यकता है. इसलिए उससे सुन्दर जो घाटियां हैं. सिद्धोंकी स्तुति भी कामको प्रोत्साहन देती है अन्यथा वैराग्यसे रस दब जायगा. 'द्युधुनी'का अर्थ है गंगा उसका पतन(गिरना) तथा

(बहना) गंगा जब ऊपरसे गिरती है उस समय वायुके कारण जो शब्द(ध्वनि) होती है वह कल्याण करनेवाली है. अशुद्धमॄ भौतिक पापॉसे संक्रमण होता है इसलिए उसका अभाव गंगाकी ध्वनिसे होता है. 'धनदवत्' का अर्थ है कुबेरके समान धन अर्थात् धनके क्षयका अभाव है. ललनारूपी स्त्रियॉके समूहसे युक्त थे तथा जिधर देखो उधर स्त्रियां ही दिखाई देती थीं ।।३९।।

आभास: केवल वे रमणीय स्थान नहीं देखे किन्तु वहां रमण भी किया उसे कहते हैं :

वैश्रम्भके सुरसने नन्दने पुष्पभद्रके।
मानसे चैत्ररथ्ये च स रेमे रामया रतः ।।४०।।

श्लोकार्थ: उन्होंने अपनी प्रिया देवहूतिके साथ वैश्रम्भक, सुरसन, नन्दन, पुष्पभद्र, चैत्ररथ आदि अनेकॉ देवोद्यानॉमॄ तथा मानसरोवरमॄ अनुराग पूर्वक रमण किया।।४०।।

व्याख्यार्थ: वैश्रम्भक आदि छः दिक्पालॉके भोगोपवन गिनाए गए हैं वे सब भगवान्ने ही दिये हैं इस बातको समझानेकेलिए बताया है. वह रामापनको हो गई थी अर्थात् क्रीडाके योग्य हो गई थी और कर्दमजी भी बन्ध आदिके करनेसे उसमॄ अनुरागवाले हो गए ।।४०।।

आभास: इस तरह अलौकिक उत्कर्ष कहकर वहांके जो सजातीय हैं उनसे उत्कर्ष कहते हैं :

भ्राजिष्णुना विमानेन कामगेन महीयसा।
वैमानिकान् अत्यशेत चरंल्लोकान् यथाऽनिलः ।।४१।।

श्लोकार्थ: उस कान्तिमान् और इच्छानुसार चलनेवाले श्रेष्ठ विमान पर बैठकर वायुके समान सभी लोकॉमॄ विचरते हुए कर्दमजी विमान विहारी देवताओंसे आगे बढ गये थे।।४१।।

व्याख्यार्थ: विमानमॄ विचरण करनेवाले देवताओंका भी उन्होंने सब प्रकारसे अतिक्रमण कर लिया था. उन देवताओंके विमान स्वयं प्रकाश नहीं थे तथा उनके विमानकी मर्यादा है उनके विमान पृथ्वी पर नहीं आ सकते हैं और न सिद्ध पदके आगे जा सकते हैं. यह विमान तो इच्छानुसार चलता है और अपरिमित(बहुत ही बडा जिसका कोई नाप नहीं) है. इसलिए चार गुणॉसे देवॉके विमानसे यह अधिक श्रेष्ठ है. क्रियासे भी उनसे यह श्रेष्ठ है इसे 'चरंल्लोकान्'

बताया है यह एकलोकसे दूसरे लोकमॄ जाता हुआ हवाकी तरह गति करता है अतः उनसे श्रेष्ठ है ।।४१।।

आभास: इस तरह भोगका उपपादन(सिद्ध) करके जिससे इतना भोग प्राप्त हुआ उसे कहते हैं :

किं दुरापादनं तेषां पुंसाम् उद्दामचेतसाम् ।
यैराश्रितस्तीर्थपदः चरणो व्यसनात्ययः।।४२।।

श्लोकार्थ: जिन्हॊने संसारके दुःखॄको दूर करनेवाले भगवान्के पवित्र चरणॄका सहारा लिया है उन धीर पुरुषॄकेलिए कौनसी वस्तु दुर्लभ है।।४२।।

व्याख्यार्थ: प्रत्येकमॄ जो नियत भोग हैं वे हर एकको प्राप्त नहीं हो सकते हैं. यदि ऐसा हो जाय तो मर्यादा भंग हो जायगी. भगवान्के साथमॄ सब भोग होते हैं परन्तु उसमॄ भी मर्यादा है. अतः इन कर्दमजीको ऐसा कैसे हुआ उसका उपपादन(सिद्ध) करते हैं. 'यैराश्रितस्तीर्थपदश्चरणः स्वः' जिन्होने तीर्थरूप भगवान्के चरणका सहारा लिया है उनकेलिए कोई दुर्लभ नहीं है ''चरणं पवित्रं विततं पुराणम्'' इस श्रुतिमॄ चरणको व्यापक, सनातन और निष्पाप बताया है. अतः जो उस चरणका सहारा लेते हैं उनकॄ भी ये चरण अपने समान बना देते हैं. अतः सर्वगत भोग चरणका आश्रय लेनेपर प्राप्त हो जाते हैं इसमॄ किसी प्रकारका प्रतिबन्ध(रुकावट) नहीं होता है. अधिक तथा कम ऐसा भेद तो पापके कारण होता है किन्तु चरणका सहारा लेनेपर वो स्वयं निष्पाप हो जाता है तो भोगमॄ तारतम्य नहीं होता है. यह चरण पुराण(प्राचीनतम) है अतः कालका प्रतिबन्ध भी इसमॄ नहीं होता है. इसलिए सभी भोग स्वभावसे ही चरणारविन्दका सहारा लेनेपर प्राप्त होते हैं और चाहे हुए भोग भी प्राप्त होते हैं. क्यॄकि तीर्थ इच्छित भोगॄको देनेकेलिए निर्धारित हैं वे तीर्थ भी चरणारविन्दमॄ हैं यह 'तीर्थपदः' से जाना जाता है. इसका ''तीर्थानि पादे यस्य'' ऐसा विग्रह है उसका अर्थ है तीर्थ है चरणमॄ जिसके. सभी फल विचित्र व्यसनवाले संसारमॄ भोगे नहीं जा सकते हैं क्यॄकि व्यसन उसमॄ बाधक हो जाता है. उन व्यसनॄको भी भगवान्का चरणारविन्द दूर कर देता है यह 'व्यसनात्ययः'से बताया है. व्यसनॄ(दुःखॄ)का अत्याय(नाश) है जिसमॄ. ''**अतिपाप्मानम् अरातिं तरेम**'' इस वाक्यसे चरणको व्यसनका नाश करनेवाला बताया है उन चरणॄका सहारा सबॄको प्राप्त नहीं होता किन्तु किन्हींको ही वह सहारा प्राप्त होता है.

चरणारविन्दका सहारा प्राप्त करनेकेलिए देह और अन्तःकरण इनके दो गुण होने चाहिए उन्हृ कहते हैं 'पुंसां' और 'उद्दामचेतसां'से स्वातन्त्र्य लिया जाता है अर्थात् पुरुष स्वतन्त्र होता है दोनृा धर्मोंवाला होनेसे उसकी ऐसी प्रसिद्धि है. लोक आदिसे कुछ ही लोग स्वतन्त्र होते हैं. अन्तःकरणके धर्मको कहते हैं 'उद्दतं दाम' है चित्तमृ जिन्हृके दाम(रस्सी आदि) बांधनेवाली होती है परन्तु चरण तो अपरिमित है अर्थात् चरणका आदि तथा अन्त ही नहीं है तो वह चरण बन्धे हुएमृ अथवा परिमित स्थानमृ कैसे रक्खा जा सकता है. अतः अन्तःकरण और देहके प्रतिबन्धक न होनेसे दोनृासे ही वह उपभोग्य होता है. उनकेलिए कोई अप्राप्य नहीं है, कठिनतासे है प्राप्ति जिसकी, यह तो परिच्छिन्न(सीमित)की ही होती है. अपरिच्छिन्नकी नहीं होती ।।४२।।

आभास: इस तरह युक्तिसे भोगृाको कहकर उसका उपसंहार करते हैं :

प्रेक्षयित्वा भुवो गोलं पत्न्यै यावान् स्वसंस्थया।
ब्रह्माश्चर्यं महायोगी स्वाश्रमाय न्यवर्तत ।।४३।।

श्लोकार्थ: इस प्रकार महायोगी कर्दमजी यह सम्पूर्ण भूमण्डल जो द्वीप वर्ष आदिकी विचित्र रचनाके कारण बडा आश्चर्यमय प्रतीत होता है अपनी प्रियाको दिखाकर अपने आश्रमको लौट आए।।४३।।

व्याख्यार्थ: उस देवहूतिका मनोरथ इसलिए पूरा किया कि वह उनकी पत्नी थी. ऋषिने अपने योगबलसे एक ही जगह उन सबको नहीं दिखाया किन्तु उन-उन स्थानृामृ ले जाकर जैसा वह था उसे दिखाया. यदि ऐसा न होता तो बहुतसे आश्चर्योंको वह न देख सकती, महायोगी होनेके कारण वैसा दिखानेमृ उनकी सामर्थ्य थी. 'स्वाश्रमः'का अर्थ है सिद्धक्षेत्र ।।४३।।

आभास: अन्तरिक्ष(आकाश)मृ संतान उत्पन्न होती है तो उसका देवता रुद्र होता है अतः ऋषिकी उत्पत्तिकी सिद्धिकेलिए पृथ्वी पर आकर संतानको उत्पन्न किया यह कहते हैं :

विभज्य नवधात्मानं मानवीं सुरतोत्सुकाम्।
रामां निरमयन् रेमे वर्षपूगान् मुहूर्तवत् ।।४४।।

श्लोकार्थ: फिर उन्हृाने अपनेको नौ रूपोमृ विभक्त कर रति सुखकेलिए अत्यन्त उत्सुक मनुकुमारी देवहूतिको आनन्दित करते हुए उसके साथ बहुत वर्षों तक विहार किया किन्तु इतना अधिक समय भी एक मुहूर्तके समान बीत

गया।।४४।।

व्याख्यार्थः 'नवधा आत्मानं विभज्य' भिन्न भावसे नौ रूप करके(रमण किया) वह मनुकी पुत्री थी इसलिए उसकी ऋषिके नौ रूपाृको सहन करनेकी शक्ति थी. अनेक रूप करनेमृ कारण यह था कि वह रति सुखको प्राप्त करनेकेलिए अत्यन्त उत्कण्ठित थी. भिन्न भावसे विलक्षणताका ज्ञान होनेपर भी उसको शंका नहीं हुई क्याृकि वह रामा थी. रामा(रमणशीला)मृ लज्जा तथा भय उत्पन्न नहीं होता ऐसा होनेके कारण ही उसमृ रामापन था. अतएव कर्दमजीने उसको खूब रमण कराया और स्वयंने भी अनेक वर्षोंके रमणको एक मुहूर्त(दो कच्ची घडी)के समान ही समझा. कालकी यदि गिनती की जाय तब तो वर्ष होता है वह गणना तो आनन्दके अनुभवके अभावमृ होती है. अतः सुरत(विहार)के अन्तके समयको सुखके अनुभवका हेतु होनेसे इतने वर्षोंके रमणको उन्हाृने एक मुहूर्त मात्र ही माना ।।४४।।

आभासः देवहूतिको भी समयका ज्ञान नहीं हुआ :

तस्मिन् विमान उत्कृष्टां शय्यां रतिकरीं श्रिता।

न चाऽबुध्यत तं कालं पत्याऽपीच्येन सङ्गता।।४५।।

श्लोकार्थः उस विमानमृ रतिसुखको बढानेवाली बडी सुन्दर शय्याका आश्रय ले अपने परमरूपवान् प्रियतमके साथ रहती हुई देवहूतिको इतना काल कुछ भी न जान पडा।।४५।।

व्याख्यार्थः प्रकाशमान आश्रय जो विमान उसका विगतमान लक्षण जो धर्म है उसको प्राप्त करके सूर्य आदिकी गतिसे कालका ज्ञान न हो सका और शय्या तो नींदको उत्पन्न करनेवाली होनेसे मोह(ज्ञान शून्यता)को करनेवाली होती है. उसमृ भी वह शय्या रति करनेवाली थी अतः अन्दर रहनेवाले आनन्दको वह प्रकट करती है. इसलिए तो जितना भोगका समय हुआ उसका उसे ज्ञान न हो सका. उसे अपना और पहलेकी अवस्थाका भी ज्ञान न रहा. क्याृकि पति अत्यन्त सुन्दर थे और उस कालके गुणाृके अनुकूल भी थे ।।४५।।

आभासः यद्यपि दोनाृको समयका ज्ञान नहीं था परन्तु स्वयं भोगके कालको कहते हैं :

एवं योगानुभावेन दम्पत्यो रममाणयोः।

शतं व्यतीयुः शरदः कामलालसयोर्मनाक् ।।४६।।

श्लोकार्थः इस तरह उन कामासक्त दम्पत्तिको अपने योग बलसे सो वर्षों तक विहार करते हुए भी वह काल बहुत थोडे समयके समान बीत गया।।४६।।

व्याख्यार्थः योगके बलसे उन दम्पत्तिको रमण करते हुए सौ वर्ष बीत गए(सौ वर्ष हो गए) भोगमृ शरद्काल उत्तम होता है अतः वर्ष शब्दका प्रयोग न करके शरद् शब्दका प्रयोग किया है. काम अग्निरूप है इसलिए इतना समय होनेपर भी काममृ तृप्ति नहीं हुई. अतः इतना भोगका समय भी थोडा ही रहा अत्यन्त सूक्ष्मकालको मनाक् कहते हैं ।।४६।।

आभासः इस तरह रमणके अन्तमृ देवहूतिमृ बीजका आदान किया उसे कहते हैं :

तस्याम् आधत्त रेतस्तां भावयन् आत्मनाऽऽत्मवित्।
नोधा विधाय रूपं स्वं सर्वसङ्कल्पविद् विभुः।।४७।।

श्लोकार्थः आत्मज्ञानी कर्दमजी सब प्रकारके संकल्पृाको जानते थे देवहूतिको संतान प्राप्तिकेलिए उत्सुक देख तथा भगवान्के आदेशको स्मरण कर उन्हृाने अपने स्वरूपके नौ विभाग किये तथा कन्याआृकी उत्पत्तिकेलिए एकाग्र चित्तसे अर्धांगरूपमृ अपनी पत्नीकी भावना करते हुए उसके गर्भमृ वीर्य स्थापित किया।।४७।।

व्याख्यार्थः कन्या सन्तान हो इसकी सिद्धिकेलिए उन्हृाने अपनी पत्नीकी ही भावना की. केवल भावना मात्रसे ही वैसा नहीं हो सकता है ऐसी आशंका कदाचित् हो उसकेलिए 'आत्मविद्' पद दिया है. मुनि आत्माको जानते हैं इसलिए सर्वज्ञ होनेसे ही वैसा उन्हृाने किया. ऐसी भावना उन्हृाने स्वतः ही की ऐसा करनेकेलिए किसीका उपदेश नहीं था. इसको स्पष्ट करनेकेलिए 'आत्मना' पद दिया है. उन्हृाने अपने स्वरूपको नौ प्रकारका करके ऐसी भावना की. यदि ऐसा न करते तो एक ही कन्या होती अथवा सब कन्याएं एक ही रूपकी हो जातीं. इसलिए नौ प्रकारके रूप किए. यहां 'नवधा' शब्दका प्रयोग न करके जो सम्प्रसारण किए हुए 'नोधा'का प्रयोग किया है वह परोक्ष कथनकेलिए है. अपने रूपको नौ प्रकारका किया इसलिए कोई दोष नहीं है नौ रूप करनेका कारण तो यह था कि मरीचि आदि सभीका भार्या प्राप्तिका संकल्प था उसे कर्दमजी जानते हैं. ऐसी सामर्थ्य उनमृ विभु(व्यापक) होनेके कारण थी ।।४७।।

आभासः इस तरह पितासे उत्पत्ति कहकर मातासे उत्पत्तिको कहते हैं :

अतः सा सुषुवे सद्यो देवहूतिः स्त्रियः प्रजाः ।
सर्वास्ताश्चारुसर्वाङ्ग्यो लोहितोत्पलगन्धयः।।४८।।

श्लोकार्थः इससे देवहूतिके एक ही साथ नौ कन्याएं उत्पन्न हुईं. वे सब सर्वांग सुन्दरी थीं और उनके शरीरसे लाल कमलकी सी सुगन्ध निकलती थी।।४८।।

व्याख्यार्थः उसने शीघ्र ही कन्याओंको उत्पन्न किया दस महीनेके अनन्तर नहीं. गर्भाधान करनेवाले विभु थे इसलिए उन कन्याओंके देहका निर्माण भी सद्य ही हो गया. कर्दमजीके विभुत्वको 'अतः' इस शब्दसे बताया है. ''प्रकर्षेण जाताः प्रजाः'' यद्यपि वे उत्कृष्ट रूपसे उत्पन्न हुई थीं किन्तु वे प्रजा (सन्तान) स्त्री ही हुईं अर्थात् कन्या सन्तति हुईं. क्योंकि वह देवहूति (देव प्रकृतिवाली) थी. जो कन्याएं उत्पन्न हुईं उनका वर्णन करते हैं.'सर्वास्ताः चारु सर्वाङ्ग्यः' वे सब सुन्दर अंगवाली थीं उनके अंगोंमें किसी प्रकारकी विकलता नहीं थी अतः अतिशय सौन्दर्य उनमें था. वे स्त्री जाति थीं इसलिए उनमें रक्त कमलके समान गन्ध थी भोग समयमें अनुराग तथा गन्ध प्राकट्य होनेकेलिए ऐसा कहा है ।।४८।।

आभासः ऐसा करके कर्दमजीने जानेका उपक्रम किया तब देवहूतिको वह ज्ञान हुआ :

पतिं सा प्रव्रजिष्यन्तं तदाऽऽलक्ष्योशती सती ।
स्मयमाना विक्लवेन हृदयेन विदूयता ।।४९।।
लिखन्त्यधोमुखी भूमिं पदा नखमणिश्रिया।
उवाच ललितां वाचं निरुध्याऽश्रुकलां शनैः।।५०।।

श्लोकार्थः इसी समय शुद्ध स्वभाववाली सती देवहूतिने देखा कि पूर्व प्रतिज्ञाके अनुसार उसके पतिदेव संन्यास ग्रहण करके वनको जाना चाहते हैं तो उसने अपने आंसुओंको रोककर ऊपरसे मुस्कराते हुए व्याकुल एवं सन्तप्त हृदयसे धीरे-धीरे अतिमधुर वाणीमें कहा. उस समय वह सिर नीचा किये हुए अपने मणीके समान नखोंकी कान्तिवाले चरणकमलसे पृथ्वीको कुरेद रही थी।।४९-५०।।

व्याख्यार्थः 'प्रव्रजिष्यन्त'का अर्थ है सन्यासके प्रकारसे जानेका जिन्होंने निश्चय कर लिया है. चेष्टाओंके द्वारा उनके जानेको जानकर उस सतीने उनके

जानेमृ किसी प्रकारकी रुकावट न डालते हुए केवल विज्ञापना ही की इसे 'उवाच ललितां वाचं'से बताया है. विक्लवका अर्थ है चित्तखेद, अपना ही कोई ऐसा दोष हो गया है इसलिए ऊपरकी हंसीसे हंसती हुई और हृदयसे विशेष दुःखको प्राप्त होती हुई अपनी चिन्ताको प्रकट करनेकेलिए नीचा मुंह करके भूमिको कुरेदती हुई(बोली) देहकी कान्तिके सहित ही उस तरह बोलती है इसको बतानेकेलिए 'नखमणिश्रिया पदा' यह पद दिया है नख ही है मणियां जिनमृ, उनकी शोभासे युक्त चरणृसे(भूमिको कुरेदती हुई) ललित(मनोहर वाणी बोली) रोनेसे काम सिद्ध नहीं होगा इसलिए आंसूॠको रोककर धीरे-धीरे(कहा) 'शनैः' इस पदसे पहलेका उसका भाव चला गया यह सूचित हुआ ।।४९-५०।।

आभास: सात श्लोकृसे देवहूतिके वाक्यृको कहते हैं :

देवहूतिः उवाच

सर्वं तद् भगवान् मह्यम् उपोवाह प्रतिश्रुतम्।

अथापि मे प्रपन्नाया अभयं दातुम् अर्हसि ।।५१।।

श्लोकार्थ: देवहूतिने कहा भगवान् आपने जो कुछ प्रतिज्ञा की थी वह सब तो पूर्णरूपसे निभाई परन्तु मैं आपकी शरणागत हूं, अतः आप मुझे अभयदान और दीजिए।।५१।।

व्याख्यार्थ:

१.परलोककेलिए प्रार्थना, २.कन्याॠका विवाह,
३.भोगके अभावका कथन, ४.प्रसंगसे सत्संग हुआ,
५.उसका फल अवश्य होना, ६.बिना उसके सब व्यर्थ है,
७.कृपाकी सिद्धिकेलिए अपने दोषृके अभावका कथन,

देवहूतिने जैसे पहले सुख(रमण)की प्रार्थना की थी उसी तरह अब अभय होनेकी प्रार्थना करती है. सज्जनृकी प्रार्थना तो एकबार ही होनी चाहिए तथापि अपनी दीनतासे फिर प्रार्थना की इस बातको बतानेकेलिए मैंने जो पहले प्रार्थना की थी वह आपने पूर्ण कर दी उसमृ किसी प्रकारकी कोई कमी नहीं रही यह 'सर्व' इस शब्दसे स्पष्ट होती है आपने जो प्रतिज्ञा की थी वह सब आपने मेरेको समीपमृ बुला कर दिया अब कोई देनेकी बात तो बाकी नहीं है तथापि मैं शरणागत हूं अतः आप मुझे अभयदान दीजिए क्यृकि आप अभयदान देनेके योग्य हैं. शरणागतके द्वारा की जानेवाली प्रार्थनाको जिस तरह पूरी की जाती है,

उसी तरह शरणागतिकी सिद्धिकेलिए अभय भी देना चाहिए अन्यथा शरणागत सुरक्षित नहीं होता है. इससे मुझे परलोकमॅू सिद्धि मिले इसका उपाय आपको करना चाहिए यह बात ऋषिको जताई ।।५१।।

आभास: और लडकियॉूका विवाह भी आपको करना चाहिए इसे कहती है :

ब्रह्मन् दुहितॄभिस्तुभ्यं विमृग्याः पतयः समाः।
कश्चित् स्याद् मे विशोकाय त्वयि प्रव्रजिते वनम्।।५२।।

श्लोकार्थ: ब्रह्मन्! इन कन्याआॅूकेलिए योग्य वर ढूंढने पडॅूगे और आपके वनको चले जानेके अनन्तर मेरे शोकको दूर करनेकेलिए भी कोई होना चाहिए।।५२।।

व्याख्यार्थ: लडकियॉूकेलिए उनके ही समान पति ढूंढने हॅूगे. यह कार्य आपको ही करना होगा यह 'तुभ्यं'का अर्थ है. कोई 'तुभ्यं'का अर्थ दीनता ऐसा करते हैं अर्थात् देवहूतिने ऋषिसे दीनता की. कन्याआॅूका पति सम्बन्ध आपके मनोरथकी सिद्धिकेलिए होगा. तथापि उसमॅू संशयकी संभावना है इसलिए आप ही उन कन्याआॅूको दीजिए. एक प्रार्थना तो उनसे यह की और दूसरी प्रार्थनाको कहती है कि आप तो वनको चले जायॅूगे उस समय मेरे शोकको दूर करनेकेलिए कोई होना चाहिए अर्थात् कन्याएं तो अपनी ससुराल चली जायगीं अतः पुत्र दीजिए ।।५२।।

आभास: आपको कन्याआॅूके विवाहकेलिए घरमॅू रहना चाहिए इस मिषसे पुनः वह भोग मांग रही है ऐसी आशंका हो सकती है इस पर कहते हैं :

एतावताऽलं कालेन व्यतिक्रान्तेन मे प्रभो!।
इन्द्रियार्थप्रसङ्गेन परित्यक्तपरात्मनः ।।५३।।

श्लोकार्थ: हे प्रभो ! अब तक परमात्मासे विमुख रहकर मेरा जो समय इन्द्रिय सुख भोगनेमॅू बीता है वह तो निरर्थक ही गया।।५३।।

व्याख्यार्थ: इतना काल जो व्यर्थ चला गया वह ही बहुत है अब इसके आगेका काल जो बच गया है उससे पुरुषार्थ साधन करना चाहिए ऐसा अभिप्राय है. बीते हुए कालके दोषको कहती है 'इन्द्रियार्थप्रसंगेन' इन्द्रियॉूके जो अर्थ (उपभोगके साधन) हैं उनमॅू जो अधिक आसक्ति है जिससे इस तरहके कालसे जिसने परमात्माका परित्याग कर दिया ऐसे स्वार्थको नष्ट करनेवाला काल इतना

ही पर्याप्त है ।।५३।।

आभास: तब क्या करना चाहिए ऐसी आशंका हो सकती है इस पर कहते हैं :

इन्द्रियार्थेषु सज्जन्त्या प्रसङ्गस्त्वयि मे कृतः।
अजानन्त्या परं भावं तथाप्यऽस्त्वभयाय मे।।५४।।

श्लोकार्थ: आपके परम प्रभावको न जाननेके कारण ही मैंने इन्द्रियाृके विषयाृमृ आसक्त रहकर आपसे अनुराग किया. तथापि वह भी मेरे संसार भयको दूर करनेवाला होना चाहिए।।५४।।

व्याख्यार्थ: साधन तो सत्संग है वह तो मुझे प्रसंग अनायाससे ही हो गया है जैसे भोग स्वादकेलिए खाई गई शक्कर किसीकेलिए औषध हो जाती है उसी तरह इन्द्रियाृके अर्थ जो विषयभोग हैं उनमृ आसक्ति होनेसे मैंने आपका खूब संग किया था तथापि वह विषय भोगाृकेलिए किया गया भी संग सत्संग ही है. यद्यपि सत्त्वरूपसे ज्ञान नहीं हुआ अतः यह आपका संग सत्प्रकारक नहीं होता है तथापि वास्तवमृ यह सत्संग होता है उसका फल वैसा ही होगा उसे 'अजानन्त्या परं भावं' से कहते हैं आपकी जो अत्यन्त सामर्थ्य है. उसे यद्यपि मैंने नहीं जानी थी. पतिव्रता होनेसे सेवा आदिमृ सत्प्रकारसे भी संग होता है. सेवाके भोगमृ उपयोग नहीं होता है और भोगाृका यद्यपि निषेध नहीं है परन्तु माहात्म्यज्ञान नहीं था देवहूतिकी प्रार्थना इसलिए तो है कि मैंने आपके माहात्म्यको न जानकर जो संग किया वह सफल होना चाहिए परलोकके भयका निवर्त्तक होना चाहिए ।।५४।।

आभास: शंका होती है कि फल तो क्रियासे होता है, द्रव्यसे नहीं होता है. द्रव्यके सत् होने पर भी असत् कार्यके करने पर फल भी उसका असत् ही होता है. सत्कार्य करने पर असत्से भी सत् फल ही होता है इसलिए सत्संग क्याृ नहीं है इस पर कहते हैं :

सङ्गो यः संसृतेर्हेतुः असत्सु विहितो धिया।
स एव साधुषु कृतो निःसङ्गत्वाय कल्पते ।।५५।।

श्लोकार्थ: बुद्धिपूर्वक असत्पुरुषाृके साथ किया हुआ जो संग वह संसार बन्धनका कारण होता है. वही संग सत्पुरुषाृके साथ किये जाने पर असंगता प्रदान करता है।।५५।।

व्याख्यार्थ: यदि सत् और असत् इनसे कार्य अलग हो तब तो संग

संसारका अथवा निःसंगताका कारण हो सकता है. द्रव्यकी सामर्थ्यसे ही कार्यका सत्त्व और द्रव्यकी सामर्थ्यके अभावमॄ तो कार्यका असत्त्व ही होगा. क्यॄकि सब संग बुद्धिसे ही किया जाता है इसलिए वह संसारका कारण बनता है. अर्थात् असत्पुरुषॄके साथ किया जानेवाला संग संसारका कारण बनता है अतः स्वतः संग अच्छा नहीं है. यदि वही संग सत्पुरुषॄके साथ किया जाता है तो वह संग निःसंगमॄ कल्पित होता है. सज्जनोका संग जो करते हैं उनकी क्रियाका क्रियात्व सज्जन दूर कर देते हैं अतः क्रिया ही नहीं रहती तो उसका फल ही नहीं होगा तो फलके विषयमॄ चिन्ता ही क्या है. अतः सज्जनॄके बलिष्ठ होनेसे क्रिया सफल नहीं होती. इसलिए मेरेलिए सत्संग हो यह सिद्ध हुआ ।।५५।।

आभास: तो फिर ऐसा संग किस लिए चाहा जाता है :

नेह यत् कर्म धर्माय न विरागाय कल्पते ।
न तीर्थपदसेवायै जीवन्नपि मृतो हि सः ।।५६।।

श्लोकार्थ: इस लोकमॄ जिस पुरुषके कर्मोंसे न तो धर्मका संपादन होता है न वैराग्य उत्पन्न होता है और न भगवान्की सेवा ही सम्पन्न होती है वह पुरुष जीता हुआ ही मृतक(मरे हुए)के समान है।।५६।।

व्याख्यार्थ: तीन प्रकारके कर्मकी ही सफलता बताई गई है. जिस कर्मसे धर्म, वैराग्य अथवा भक्ति हो. जो इस तरहके कर्मको नहीं करता है वह तो जीवित रहते हुए भी मृत है. जीवितकी मृतसे विलक्षणता यही है कि जीवित कर्म करता है और मृत कर्म नहीं करता. परन्तु वह कर्म यदि अपनेलिए या स्वामीकेलिए अथवा इष्ट(चाही हुई) वस्तुकी प्राप्तिकेलिए होता है तब तो वह कर्म सफल है. यदि रोचनार्थ कर्म किया जाता है तो उसका फल विपरीत होता है अर्थात् जो कर्म ,धर्म, वैराग्य और भगवत्सेवाका साधक न हो उससे मृत्यु अवश्यंभावी है अतः उसे 'मृतः' इस शब्दसे कहा है ।।५६।।

आभास: मैंने वैसा किया है उसे कहती है :

साऽहं भगवतो नूनं वञ्चिता मायया दृढम् ।
यत् त्वां विमुक्तिदं प्राप्य न मुमुक्षेय बन्धनात्।।५७।।

श्लोकार्थ: अवश्य ही मैं भगवान्की मायासे बहुत ठगी गई हूं जो आप जैसे मुक्तिदाता पतिदेवको पाकर भी मैंने संसार बन्धनसे छूटनेकी इच्छा नहीं की।।५७।।

व्याख्यार्थ: वैसा करनेमृ आपकी मायासे मोहित हो जाना ही तो कारण है उसीको वह कहती है 'साऽहं' वही मैं जो इस तरहके विवेकवाली हूं उसे मुझसे भी अधिक आपकी मायाने मुझे ठग लिया है. कार्य वशसे ऐसा निश्चय होता है. अन्यथा मुक्तिको देनेवाले आपको प्राप्त करके संसारके बन्धनसे भी कैसे मुक्त न हो सकी, अर्थात् मैं मुक्त नहीं हुई. सत्त्वगुणके कारण आप मोक्षके दाता हैं. कामादि बन्धन हैं, कालसे मुक्त होना विमुक्ति है. इसलिए अपने दोषके कारण ही मैं मुक्त न हुई ऐसा नहीं है किन्तु आपकी मायाने मुझे मोहित कर दिया था अतः आप ही मेरा उद्धार करृ ऐसा भाव है ।।५७।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराणके तृतीय स्कन्धके २३ वृ अध्यायकी
श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्रीसुबोधिनी टीकाका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण.

अध्याय २४

श्रीकपिलदेवजीका प्राकट्य एवं कर्दमजीका वन गमन

चतुर्विंशे तथाऽध्याये मोक्षो बुद्धिश्च वर्ण्यते।
कपिलो हि हरिर्बुद्धिः उपदेशो भजिस्तथा।
ऋणत्रयपरित्यागो मोक्षार्थं तस्य वर्ण्यते।।का.१।।

कारिकार्थः चौबीसवृ अध्यायमृ मोक्ष और बुद्धिका वर्णन किया जाता है कपिलजी भगवान् हैं बुद्धि, उपदेश और भक्ति भी उसी प्रकारकी है. तीन प्रकारके ऋणृका परित्याग मोक्षकेलिए है उसका वर्णन है।।१।।

आभासः तेवीसवृ अध्यायमृ देवहूतिका वैराग्य और देवहूतिकी प्रार्थना कही और अन्तमृ आशाके अभावको सूचित किया. उसमृ सबसे पहले आशाके अभावका निराकरण करते हैं :

मैत्रेयः उवाच

निर्वेदवादिनीम् एवं मनोर्दुहितरं मुनिः।
दयालुः शालिनीम् आह शुक्लाभिव्याहृतं स्मरन्।।१।।

श्लोकार्थः मैत्रेयजी कहते हैं, उत्तम गुणृसे सुशोभित मनुकुमारी देवहूतिने जब ऐसी वैराग्य युक्त बातृ कहीं तब कृपालु कर्दम मुनिको भगवान् विष्णुके कथनका स्मरण हुआ और उन्हृने उससे कहा।।१।।

व्याख्यार्थः निर्वेदका अर्थ है वैराग्य, विषय भोगृसे वह(देवहूति) विरक्त हो गई थी. कर्दमजीका पतिपना उतना समय तक ही रहा इसको संकेतसे सूचित करनेकेलिए देवहूतिको कर्दम पत्नी न कहकर मनुकी दुहिता(पुत्री) ऐसा कहा. भावी अर्थका कर्दमजीको ज्ञान था अतः उनकेलिए मुनि शब्द दिया. कर्दमजीने देवहूतिको सान्त्वना दी क्यृकि मुनि दयालु थे और वह शालिनी नम्र अथवा मनोहर थी अतः सान्त्वना दी. जो देवगुह्य(देवताओंसे अज्ञेय) है उसे नहीं कहना चाहिए तथापि यह विरक्त थी अच्छे कुलमृ उत्पन्न हुई थी, नम्र थी इसलिए मुनिने गुप्त बात भी उसे कह दी. शुक्ल नारायणने इन्हृ कहा था कि मैं अपनी 'अंश-कलासे' तुम्हारा पुत्र होउंगा इसका स्मरण करके देवहूतिसे कहा. भगवान्का सम्बन्ध होनेसे सन्त भी मोक्षके साधक होते हैं ।।१।।

आभासः मोक्ष तो भगवान् ही देते हैं. वे भगवान् यदि तेरे पुत्र हृगे तब तो

सब कार्य सिद्ध हो जाएगा. उस देवहूतिको इस तरह समझाते हुए आश्वासन दिया:

ऋषिः उवाच

मा खिदो राजपुत्रीत्थम् आत्मानं प्रत्यनिन्दिते!।
भगवांस्तेऽक्षरो गर्भम् अदूरात् सम्प्रपत्स्यते ।।२।।

श्लोकार्थ: कर्दमजी बोले हे दोषरहित राजकुमारी ! तुम अपनेलिए इस प्रकार खेद न करो. तुम्हारे गर्भमृ अविनाशी भगवान् विष्णु शीघ्र ही पधारृगे।।२।।

व्याख्यार्थ: इस तरह अपने जन्मको निष्फल बताकर हे राजपुत्री! तुम खेद न करो. स्वयंको या मुझे लक्ष्य करके तुम्हृ ऐसा न कहना चाहिए यह किया हुआ कर्म नाश करनेवाला नहीं है यदि ऐसा(नाश करनेवाला) होता तो अन्तमृ तुझे, वैराग्य नहीं होता. उसीको कहते हैं. हे अविन्दिते! हे भाग्यशालिनी! देवहूति भाग्यशालिनी कैसे है उसकेलिए 'भगवांस्तेऽक्षरो गर्भमदूरात्संप्रपत्स्यते' ऐसा कहा. अक्षर भगवान् जो ज्ञानरूप हैं अन्तर्यामीसे अधिकरूप हैं वे अदूरात् मेरे जानेके पहले ही पुत्र हृगे. यदि स्वच्छन्द क्रीडासे कोई बाधा होती तो भगवान् पुत्ररूपसे कभी प्रकट नहीं होते. आविर्भाव आवश्यक है यह तो भगवान्के वाक्यसे ही निश्चित हो चुका है ।।२।।

आभास: तब तो फिर कोई साधन नहीं करना चाहिए :

धृतव्रताऽसि भद्रं ते दमेन नियमेन च।
तपोद्रविणदानैश्च श्रद्धया चेश्वरं भज ।।३।।

श्लोकार्थ: हे प्रिये ! तुमने अनेक प्रकारके व्रतृका पालन किया है अतः तुम्हारा कल्याण होगा. अब तुम संयम, नियम, तप और दानादि करती हुई श्रद्धापूर्वक भगवान्का भजन करो।।३।।

व्याख्यार्थ: जब भगवान् सिद्ध होते हैं तो उनमृ साधनृका उपयोग होता है. जब भगवान् स्वयं ही, मैं आउंगा ऐसा मानते हैं तब किये जानेवाले साधन भगवान्का बोध कराते हैं, प्राप्त होते हैं, भगवान्को वशमृ करते हैं और भगवान्का उत्पादन करते हैं. जैसे लोकमृ भी देखते हैं कि जो भोजन करना चाहता है ऐसे अतिथिको निमन्त्रण आदिसे अपने वशमृ करके उसे भोजन कराते हैं किन्तु भोजन नहीं करना चाहता उसे तो सैकडृ उपायृसे भी भोजन नहीं करा सकते. जब कि भगवान् स्वयं आयेगें अतः साधन करने चाहिए. उन साधनृमृ

कुछ साधन तो पहले देह शुद्धिकेलिए करनेके होते हैं उन साधनॄको तो तुझे नहीं करना है क्यॄकि तुम तो पहलेसे ही धृतव्रत हो तुमने पातिव्रत्य व्रत धारण कर ही रक्खा है वो व्रत(साधन) तेरे पास है ही. जब आप वनमॄ चले जायॄगे तब मेरा पातिव्रत्य भी चला जाएगा, इसका उत्तर कर्दमजी 'भद्रं ते'से देते हैं. तेरा कल्याण हो अर्थात् हमारे वाक्यसे ही तेरे व्रत न करने पर भी व्रत करनेवालेकी तरह तुझे फल होगा ऐसा आशीर्वाद दिया. तेरा व्रत जब सिद्ध हो जाएगा तब भगवान्की कृपासे प्राप्तिकेलिए तुझे पांच साधन ह्यॄगे उन्हॄ कहते हैं. १.दम(इन्द्रिय निग्रह करना), २.भगवत्सम्बन्धी धर्मोंसे ही व्यवहार करना नियम है, अथवा स्नान आदि देहके नियम हैं. 'च'से पहलेके नियम ग्रहण किए जाते हैं, ३.तप कृच्छ्र चान्द्रायण आदि प्रसिद्ध हैं, ४.द्रविणदान, द्रविणसे सुवर्ण आदि लिए जाते हैं उनको भगवान्केलिए काममॄ लेने चाहिए यह भी एक साधन है, ५.सुवर्ण आदिका दान करना यह भी अन्य साधन है अथवा दान करना. यहां एक प्रश्न हो सकता है कि द्रविण पदका दानमॄ अन्वय कर दिया जाय तो क्या दोष है ऐसी व्याख्या क्यॄ की गई है. इसका उत्तर देते हैं द्रविण पदको दानका विशेषण मानने पर मूलमॄ जो बहुवचन दिया है उसे अवान्तर परत्व मानना पडेगा परन्तु फिर भी द्रविण और दानमॄ ही मुख्यता होनेसे द्रविण दान इन दोनॄसे ही अवान्तर विशेषताका लाभ हो जायेगा इसमॄ कोई बाधक भी नहीं है तो फिर 'द्रविणदानयोः' ऐसा द्विवचन प्राप्त होगा अर्थात् बहुवचन व्यर्थ हो जायगा. श्रीभागवत्, गीताका ही विस्तृतरूप है अतः गीताके ''प्रयतात्मनः'' इस वाक्यसे दम आदि पांचॄकी आवश्यकता सिद्ध की गई है. दम तो नियत है. व्रत आदि भगवान्को प्रसन्न करनेवाले होनेसे भगवान्के आविर्भावमॄ वे भी प्रयोजक हैं. ''**यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्**'' इस प्रकार भगवान्के गीतामॄ वाक्य हैं अतः इसके अनुसार करनेसे भगवान् प्रसन्न होते हैं. इसलिए 'तपः' प्रभृतिका ग्रहण है. यहां द्रविण पदसे भगवन्मुखरूप यज्ञका कथन है श्रद्धा तो पांचो साधनॄका अंग है. जब व्रत सिद्ध हो जाता है तब इतने साधनॄकी क्या आवश्यकता रहती है. इसकेलिए 'ईश्वरं' पद दिया. है जो ईश्वर है वह किसीके अधीन नहीं रहता है इसलिए सिद्धकी तरह सब साधन करने चाहिए ।।३।।

आभासः इससे क्या होगा इस आशंका पर कहते हैं :

स त्वयाऽऽराधितः शुक्लो वितन्वन् मामकं यशः ।

छेत्ता ते हृदयग्रन्थिमौदर्यो ब्रह्मभावनः ।।४।।

श्लोकार्थः इस प्रकार आराधना करने पर श्रीहरि तुम्हारे गर्भसे अवतीर्ण होकर मेरा यश बढावृगे और ब्रह्मज्ञानका उपदेश करके तुम्हारे हृदयकी अहंकारमयी ग्रन्थीको काटृगे।।४।।

व्याख्यार्थः शुक्ल नारायणकी मैंने आराधना की है, तू भी उसी तरह आराधना करना. वे शुक्ल नारायण निर्दोष पूर्णगुण विग्रह हैं वे लोकमृ कर्दमके पुत्र हुए हैं इस तरह मेरे यशको बढाएंगे और तेरे हृदयकी ग्रन्थीका भेदन करृगे. निर्दोषता, आवश्यकता और विश्वासकेलिए उनको 'औदर्यः' शब्दसे कहा. वे तेरे उदरसे प्रकट हृगे, देवहूतिको यह आशंका हो कि वे मेरे पुत्र होकर मेरे अज्ञानको दूर करृगे ऐसी सामर्थ्य उनमृ कैसे होगी उसका उत्तर 'ब्रह्मभावनः'से दिया है. वे अपनेमृ भी ब्रह्मका अनुभव करृगे और दूसरेको भी ब्रह्मका अनुभव करायृगे. अतः वे तेरेमृ ब्रह्मका आविर्भाव कराके तेरे हृदयकी ग्रन्थीको काटृगे. इस तरहका उसे आश्वासन दिया ।।४।।

आभासः पतिने जैसा कहा था वैसा ही उसने किया :

मैत्रेयः उवाच

देवहूत्यपि सन्देशं गौरवेण प्रजापतेः ।

सम्यक् श्रद्धाय पुरुषं कूटस्थम् अभजद् गुरुम् ।।५।।

श्लोकार्थः मैत्रेयजी कहते हैं, हे विदुरजी ! प्रजापति कर्दमके आदेशमृ गौरव बुद्धि होनेसे देवहूतिने उसपर पूर्ण विश्वास किया और वह निर्विकार जगद्गुरु भगवान् श्रीपुरुषोत्तमकी आराधना करने लगी।।५।।

व्याख्यार्थः बीचमृ कर्दमजी भी ध्यानारूढ हो गए ऐसा समझना. देवहूति ने भी प्रजापतिके सन्देशको अत्यन्त आदरसे तथा उसमृ पूर्ण विश्वास रखकर उन्हीं शुक्ल नारायणरूप कूटस्थ अन्तर्यामीकी अथवा अविकृत ब्रह्मकी जो ज्ञानमार्गमृ भगवद्रूपसे सेव्य हैं उन गुरुकी उपासना की. जैसा प्रकार बताया था उसी प्रकारसे भजन किया यह समझना चाहिए ।।५।।

आभासः तब भगवान्का आविर्भाव हुआ उसे कहते हैं :

तस्यां बहुतिथे काले भगवान् मधुसूदनः ।

कार्दमं वीर्यम् आपन्नो जज्ञेऽग्निरिव दारुणि ।।६।।

श्लोकार्थः इस तरह बहुत समय बीत जाने पर भगवान् मधुसूदन

कर्दमजीके वीर्यका आश्रय ले उसके गर्भसे इस प्रकार प्रकट हुए जैसे काष्ठमूसे अग्नि।।६।।

व्याख्यार्थ: बहुत काल तक उसके भजन करने पर उसमू भगवान्का आविर्भाव हुआ अथवा उसमू बहुत काल तक रहकर भगवान् बाहर प्रकट हुए इस तरहका पूर्व जैसा ही अर्थ है. ये कौन प्रकट हुए, क्या ये अंशावतार थे? नहीं, भगवान् 'मधुसुदनः' जो योगनिद्रासे नेत्र बन्द करते हैं वे ही मधुसुदन ये हैं. 'कार्दमं वीर्यमापन्नः' का अर्थ है पुत्र प्रकारसे प्रकट हूगे. वे शुक्ल नारायण ही हूगे. अतः मर्यादा रक्षाकेलिए पहले कर्दमजीके वीर्यमू आविर्भूत हुए उसके पश्चात् प्रकट हूगे. तब तो भगवान्के आविर्भावमू भी प्राकृतता हो जायगी ऐसी आशंका करके कहते हैं 'जज्ञेऽग्निरिव दारुणि' लकडी अथवा गोमय पिण्डमू आविर्भूत होती हुई अग्नि उच्च-नीच भावको तथा वृद्धि-क्षयको प्राप्त होती हुई भी वह प्राकृत नहीं होती और न वह उत्पन्न होती है किन्तु उसका तो आविर्भाव होता है. अग्नि लकडीमू अथवा कण्डेमू रहती है और उसीमूसे आविर्भूत होती है इस बातको जतानेकेलिए 'दारुणि' ऐसा कहा ।।६।।

आभास: भगवान्का अवतार हुआ इसको जतानेकेलिए उसके लक्षणाूको 'अवादयन्' इत्यादि श्लोकाूसे कहते हैं भगवान्का समागमन तो एक है और देवताआूके वाद्यवादन आदि तो बहुत हैं उन्हू दो श्लोकाूसे कहते हैं :

अवादयंस्तदा व्योम्नि वादित्राणि घनाघनाः।
गायन्ति तं स्म गन्धर्वा नृत्यन्त्यप्सरसो मुदा।।७।।

श्लोकार्थ: उस समय आकाशमू घने बादल गरज-गरज कर बाजे बजाने लगे गन्धर्वगण गान करने लगे और अप्सराएं आनन्दित होकर नाचने लगीं।।७।।

व्याख्यार्थ: घनाघनाः= घने बादल मेघरूप वादित्राूको(बाजाूको) बजाने लगे. गन्धर्वोंने गान किया, अप्सराआूने नृत्य किया. उत्सवमू अन्यत्र जैसे किसी अन्यकी प्रेरणासे वाद्य गान और नृत्य होता है उस तरह नहीं हुआ किन्तु इन सबने प्रसन्न होकर स्वयं ही वाद्य गान एवं नृत्य किया ।।७।।

आभास: पुष्पवृष्टि भी हुई उसे कहते हैं :

पेतुः सुमनसो दिव्याः खेचरैर् अपवर्जिताः।
प्रसेदुश्च दिशः सर्वा अम्भांसि च मनांसि च ।।८।।

श्लोकार्थ: आकाशसे देवताआूसे बरसाये हुए दिव्य पुष्पाूकी वर्षा होने

लगी, सब दिशाॠमृ आनन्द छा गया, जलाशयॠका जल निर्मल हो गया और सभी जीवॠके मन प्रसन्न हो गए।।८।।

व्याख्यार्थ: वे पुष्प अन्यकृत नहीं थे किन्तु दिव्य थे. भगवान्को देखनेकेलिए आए हुए देवताॠने उनकी पुष्पॠसे वर्षा की थी. पुष्पॠकी वर्षा करनेसे ऐसा सूचित होता है कि वे प्रेमसे विकल भी हो गए थे. दिशाएं, जल और प्राणियॠके मन ये सब स्वच्छ हो गए इन तीनॠका स्वच्छ होना अलौकिक आधिदैविकरूप है, वादित्र(बाजे) आधिभौतिक है ।।८।।

आभास: ब्रह्माजीका आगमन आधिदैविक है उसे तीन श्लोकॠमृ कहते हैं :

तत् कर्दमाश्रमपदं सरस्वत्या परिश्रितम् ।
स्वयम्भू: साकमृषिभि: मरीच्यादिभिर् अभ्ययात्।।९।।

श्लोकार्थ: सरस्वती नदीसे घिरे हुए कर्दमजीके उस आश्रममृ मरीचि आदि मुनियॠके सहित श्रीब्रह्माजी आए।।९।।

व्याख्यार्थ: बिन्दु सरोवररूप कर्दमजीके उस आश्रम पर–वह आश्रम सरस्वती नदीसे घिरा हुआ था अतः ब्रह्माजीको वहां आनेमृ कोई शंका नहीं थी. ब्रह्माजीको अलौकिक ज्ञान था इसे 'स्वयम्भू:' पदसे जताया है. 'ऋषिभिः' से सनकादि और मरीचि आदिका ग्रहण है अर्थात् ब्रह्माजी सनकादि और मरीचि आदि ऋषियॠके सहित कर्दमजीके आश्रम पर आये ।।९।।

आभास: केवल कर्दमजीके दर्शनकेलिए ही नहीं आए किन्तु भगवान्का आर्विभाव हुआ है ऐसा जानकर आए :

भगवन्तं परं ब्रह्म सत्वेनांऽशेन शत्रुहन् ।
तत्त्वसङ्ख्यानविज्ञप्त्यै जातं विद्वान् अजः स्वराट्।।१०।।

श्लोकार्थ: हे शत्रुदमन विदुरजी ! स्वतः सिद्ध ज्ञानसे सम्पन्न ब्रह्माजीको यह ज्ञात हो गया था कि साक्षात् अजन्मा परब्रह्म भगवान् विष्णु सांख्यशास्त्रका उपदेश करनेकेलिए अपने विशुद्ध सत्त्वमय अंशसे अवतीर्ण हुए हैं।।१०।।

व्याख्यार्थ: स्वयं परब्रह्मभूत ही भगवान्. सत्त्व जो भगवान्का अंश है उससे सत्त्वको लेकर ज्ञान–कलासे तत्त्वॠकी जिसमृ संख्या है ऐसा सांख्यशास्त्र है उसका उपदेश देनेकेलिए अजन्मा ही स्वयं अवतीर्ण हुए हैं ऐसा जानते हुए कि ये भगवान् स्वराट् अपनेमृ शोभित होते हैं ।।१०।।

आभास: आकर पहले उन्हृने कर्दमजीको सम्मानित किया :

सभाजयन् विशुद्धेन चेतसा तच्चिकीर्षितम्।

प्रहृष्यमाणैरसुभिः कर्दमं चेदम् अभ्यधात् ।।११।।

श्लोकार्थ: भगवान् जिस कार्यको करना चाहते थे उसका उन्हृने विशुद्ध चित्तसे अनुमोदन एवं आदर किया और अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियृसे प्रसन्नता प्रकट करते हुए कर्दमजीसे इस प्रकार कहा।।११।।

व्याख्यार्थ: जितना उन कर्दमजीने किया उस सबको विशुद्ध चित्तसे तुमने जो कुछ किया है वह ठीक ही किया है ऐसा अंगीकार करते हुए और प्रव्रज्या(सन्यास ग्रहण)का भी अनुमोदन करते हुए. इन्द्रियृसे प्रसन्नता प्रकट करते हुए अथवा हर्षसे फूले हुए प्राणृसे, आगे कही जानेवाली बात कर्दमजीसे कही ।।११।।

आभास: उन कर्दमजीने पहले तीनृ ऋणृसे मुक्ति प्राप्तकी, उसमृ ब्रह्माजी पिता हैं अतः उनके मनकी बात पूरी की उसे कहते हैं :

ब्रह्मा उवाच

त्वया मेऽपचितिस्तात! कल्पिता निर्व्यलीकतः।

यन् मे सञ्जगृहे वाक्यं भवान् मानद! मानयन् ।।१२।।

श्लोकार्थ: श्रीब्रह्माजीने कहा, प्रिय कर्दम ! तुम दूसरृको मान देनेवाले हो. तुमने मेरा सम्मान करते हुए जो मेरी आज्ञाका पालन किया है इससे तुम्हारे द्वारा निष्कपट भावसे मेरी पूजा सम्पन्न हुई है।।१२।।

व्याख्यार्थ: ब्रह्माजीने कहा– मेरे पुत्र तो बहुत हुए परन्तु तेने ही मेरी प्रत्युपकाररूप परम पूजा की है और वह पूजा भी 'निर्व्यलीकतः' निषकपटभावसे की. भगवान्के प्रसन्न होनेपर और शास्त्रार्थका ज्ञान हो जानेपर तथा उत्कट(अधिक) कामके न होनेपर जो मेरे वाक्यके अनुरोधसे विपरीत की तरह अपकर्ष(अनौचित्य)को सहन करके बडे कष्टसे तुमने मेरी आज्ञाका पालन किया. इसे 'यन्मे संजगृहे वाक्यं'से बताया है संजगृहेका अर्थ है अच्छे प्रकारसे ग्रहण करना यही तो अच्छे प्रकारसे ग्रहण करना है कि अन्तःकरणपूर्वक सम्मान सहित मेरे वाक्यको तुमने माना. 'मानद!' यह सम्बोधन है, तुम्हारी इच्छाके विपरीत होते हुए भी ब्रह्माजीने मेरे ऊपर महान् उपकार किया है इस तरह ब्रह्माजीके वाक्यको तुमने हृदयमृ सम्मान दिया है. १.वाक्यका करना, २.अपनेमृ

रागका अभाव होते हुए भी करना, ३.उसमृ दोषृका आरोप न करके करना, ४.वे मेरे महान् उपकारी हैं ऐसा समझकर करना, ५.इसका करना मेरेलिए हितकर है, इस तरह पांच प्रकारसे अंगीकार करना ही सर्वोत्कृष्टता(सबसे उत्तमता) है ।।१२।।

आभास: इतना ही तो करण(करने योग्य) है :

एतावत्येव शुश्रूषा कार्या पितरि पुत्रकैः ।
बाढम् इत्यनुमन्येत गौरवेण गुरोर्वचः ।।१३।।

श्लोकार्थ: पुत्रृको अपने पिताकी सबसे बडी सेवा यही करनी चाहिए 'जो आज्ञा' ऐसा कहकर आदर पूर्वक उनके आदेशको स्वीकार करे।।१३।।

व्याख्यार्थ: पिताकी सेवा पुत्रृको इतनी करनी चाहिए. कायिक सेवाका अनुरोध होनेसे तो वह सेवा लौकिक होती है. अतः पितृत्वसे अथवा गुरुत्वसे जो सेवा की जाती है वह तो अलौकिक ही करनी चाहिए, अर्थात् उनके वाक्यका पालन करना. इसका मन तो उसीमृ था ऐसा पूर्वरूपसे निश्चित होता है 'पुत्रकैः' इस वचनका तात्पर्य यह है कि एक-एक यदि उसमृ अशक्त हो तो सभीको मिलाकर शुश्रूषा करनी चाहिए. गुरुके वचनको 'जो आज्ञा' ऐसा कहकर आदरपूर्वक स्वीकार करना, पितामृ गौरव बुद्धिसे अपनी कृतार्थता होती है. यहां 'बाढम्'का अर्थ मात्सर्यका अभाव तथा 'अनुमनन'का अर्थ यथावत् करना. गुरोः पदसे गुरुमृ कोई दोष नहीं होता है ऐसा समझना. एतावत्ये यहां पीछे 'एव' को कहा है उससे उनमृ कोई राग नहीं था, अर्थात् प्रजाकी सृष्टि ठीक तरहसे की, यह इसका तात्पर्य है ।।१३।।

आभास: उसका विनियोग कहते हैं :

इमा दुहितरः सभ्य! तव वत्स! सुमध्यमाः ।
सर्गम् एतं प्रभावैः स्वैः बृंहयिष्यन्त्यनेकधा ।।१४।।

श्लोकार्थ: हे बेटा! तुम सभ्य हो तुम्हारी ये सुन्दर कन्याएं अपने वंशृ द्वारा इस सृष्टिको अनेक प्रकारसे बढावृगीं।।१४।।

व्याख्यार्थ: सभ्य ऐसा इसलिए कहा है कि कर्दमजीमृ किसी प्रकारका राग नहीं था यह इससे विदित हुआ. वत्स(हे बेटा) यह आदर वाचक है. सुमध्यमा इस पदसे सौन्दर्यके द्वारा उन कन्याआृके गुण कहे गए अतएव अपने ही प्रभावसे अर्थात् अपनेमृ भर्त्ताके ग्रहणरूप धर्मोंसे इस सृष्टिको अनेक प्रकारसे

बढावेंगीं ये कन्या ही जगत्को पूर्ण कर दूगीं इससे अधिक तुम्हू कुछ नहीं करना है ।।१४।।

आभास: इसलिए सृष्टिकी वृद्धिकेलिए इन्हू ऋषियाृको दे दो :

अतस्त्वम् ऋषिमुख्येभ्यो यथाशीलं यथारुचि ।

आत्मजाः परिदेह्यद्य विस्तृणीहि यशो भुवि ।।१५।।

श्लोकार्थ: अब तुम इन मरीचि आदि मुनिवराृको इनके स्वभाव और रुचिके अनुसार अपनी कन्याएं आज ही समर्पण करो और पृथ्वी पर अपने यशको फैलाओ।।१५।।

व्याख्यार्थ: मरीचि आदि जो ऋषियाृमृ मुख्य हैं इनकेलिए इनके स्वभाव और रुचिके अनुसार कन्याएं दे दो भगवत्कृत सम्बन्ध स्वाभाविक होता है. 'अद्य' इसलिए कहा है कि यह समय बहुत अच्छा है. यद्यपि यह सम्बन्ध भगवत्कृत है और सहज है अतः इसमृ तुम्हू कुछ करनेकी आवश्यकता नहीं है तथापि तुम इन कन्याआृका स्वयं दान करोगे तो पृथ्वी पर तुम्हारा यश फेलेगा ।।१५।।

आभास: इस तरह अग्रिम आज्ञा देकर कपिलजीको ये भगवान् ही हैं ऐसा जताते हैं :

वेदाहम् आद्यं पुरुषम् अवतीर्णं स्वमायया ।

भूतानां शेवधिं देहं बिभ्राणं कपिलं मुनिम् ।।१६।।

श्लोकार्थ: मुने ! मैं जानता हूं जो सम्पूर्ण प्राणियाृके निधि हैं उनके अभिष्ट मनोरथको पूर्ण करनेवाले हैं वे आदि पुरुष नारायण ही अपनी योगमायासे कपिलके रूपमृ अवतीर्ण हुए हैं।।१६।।

व्याख्यार्थ: ब्रह्माजीने जब कहा कि मैं जानता हूं अतः 'अहं वेद' यह प्रमाण है. आद्यपुरुष भगवान् अपनी मायासे जो अपनी इच्छाको पूर्ण करनेवाली है तथा लोगाृको कुछ दिखाती है ऐसी मायाके सहित प्राणियाृके निधिरूप(कोष खजाना) देहको धारण करते हैं. लोकमृ कपिल नामसे प्रसिद्ध हैं. इससे पुत्रके जो–जो गुण हैं उन्हू कह दिया. कपिलजीको मुनि बतानेसे यह सूचित होता है कि उन कपिलजीकेलिए तुमको कुछ नहीं करना है ।।१६।।

आभास: अपना स्वरूप कहकर अब कार्यको कहते हैं :

ज्ञानविज्ञानयोगेन कर्मणाम् उद्धरन् जटाः ।

हिरण्यकेशः पद्माक्षः पद्ममुद्रापदाम्बुजः।।१७।।

श्लोकार्थः जिन कपिलजीके सुनहरे बाल, कमल जैसे विशाल नेत्र और कमलके चिह्नसे अंकित चरणकमल हैं और जो ज्ञान, विज्ञान, योगसे कर्मोंकी वासनाओंका मूलोच्छेदन करनेकेलिए(प्रकट होंगे)।।१७।।

व्याख्यार्थः वह कपिल ज्ञान, विज्ञान और योगको प्रकट करेंगे. ज्ञानसे सांख्य, विज्ञानसे साधनके सहित अनुभव, योगसे अष्टांगयोग लिया जाता है. जितने भी आधिभौतिक कर्म हैं उनका सांख्यसे मूलोच्छेदन किया जाता है और आध्यात्मिक कर्म हैं उनका मूलोच्छेदन अनुभवसे होता है और जो आधिदैविक कर्म हैं उनका मूलोच्छेदन योगसे होता है इस तरह इन तीनोंसे आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक कर्मोंके आपसमें मिल जानेसे जो जटा(जड़ें) जम जाती है उन जड़ोंको ये मूलसे उखाडनेकेलिए अवतार लेंगे. ज्ञान, विज्ञान और योगके ये प्रवर्त्तक होंगे इसके लक्षण बताते हैं. सुवर्णके समान वर्णवाले बाल होंगे ये सांख्यकी सिद्धिके हेतु हैं. कमलके समान दोनों नेत्र ये अनुभवका लक्षण है और कमलकी मुद्रा(चिह्न) दोनों चरणोंमें होगी यह योगका लक्षण है ।।१७।।

आभासः इस तरह कर्दमजीसे कहकर देवहूतिको आश्वासन देते हैं :

एष मानवि ते गर्भं प्रविष्टः कैटभार्दनः।

अविद्यासंशयग्रन्थिं छित्वा गां विचरिष्यति।।१८।।

श्लोकार्थः फिर देवहूतिसे बोले हे राजकुमारी ! कैटभासुरको मारनेवाले साक्षात् श्रीहरिने तेरे गर्भमें प्रवेश किया है. ये अविद्या जनित संशयकी ग्रन्थीको काटकर पृथ्वी पर स्वच्छन्द विचरण करेंगे।।१८।।

व्याख्यार्थः हे मनुकी पुत्री! इस सम्बोधनसे अपने वंशमें भगवान्का आविर्भाव दोषजनक नहीं है. कैटभार्दनसे मूलपुरुष ही कहा गया है. क्रियापरक भगवान् मधुसूदन कहलाता है और ज्ञानपरक भगवान् कैटभार्दन कहलाता है ये दोनों क्रिया एवं ज्ञानके प्रतिबन्धकोंका नाश करनेवाले हैं इसलिए अविद्याजनित ग्रन्थीको सब शास्त्रोंके सुनने पर भी हृदयमें जो मोहकी गांठ पड जाती है उसे काटकर स्वयं भी लोकमें उसका प्रचार करते हुए पृथ्वी पर विचरेंगे ।।१८।।

आभासः और भी परमार्थतः(वास्तवमें) ये महान् होंगे लौकिक और अलौकिक प्रसिद्धिसे भी महान् होंगे. उसमें परमार्थ उत्कर्षको कहते हैं :

अयं सिद्धगणाधीशः साङ्ख्याचार्यैरभिष्टुतः।

लोके 'कपिल' इत्याख्यां गन्ता ते कीर्तिवर्द्धनः ।।१९।।

श्लोकार्थः ये सिद्धगणोंके स्वामी और सांख्याचार्योंके भी माननीय होंगे. लोकमें तेरी कीर्तिका विस्तार करेंगे और कपिल नामसे प्रसिद्ध होंगे।।१९।।

व्याख्यार्थः योग आदिसे जो सिद्ध होते हैं उनका जो नियामक होता है वह वास्तवमें सिद्ध होता है. जो सांख्यशास्त्रके प्रवर्तक हैं वे सांख्याचार्य कहे जाते हैं वे भी जिनकी स्तुति करेंगे यह उनका अलौकिक उत्कर्ष है. लोकमें कपिल इस नामसे प्रसिद्ध होंगे और ऐसा होते हुए भी ये देवहूतिका पुत्र कपिल है इस तरह तेरी कीर्तिको बढायेंगे ।।१९।।

आभासः इस तरह देवहूति और कर्दमजीको आश्वासन देकर अग्रिम कार्यकी सिद्धिकेलिए वहांसे गए :

मैत्रेयः उवाच

तावाश्वास्य जगत्स्रष्टा कुमारैः सहनारदः ।

हंसो हंसेन यानेन त्रिधाम परमं ययौ ।।२०।।

श्लोकार्थः मैत्रेयजी कहते हैं, हे विदुरजी ! जगत्की सृष्टि करनेवाले ब्रह्माजी उन दोनोंको इस प्रकार आश्वासन देकर नारदजी और सनकादिको साथ ले हंस पर चढकर ब्रह्मलोकको चले गए।।२०।।

व्याख्यार्थः शंका हो सकती है कि इस छोटेसे कामकेलिए ब्रह्माजी कैसे स्वयं आए और गए इस पर कहते हैं कि ब्रह्माजी जगत्की सृष्टि करनेवाले हैं अतः जिस कामके करनेपर जगत्की सृष्टि बढती वही तो उन्हें करना था इसलिए गए और अन्य कार्यकेलिए आए. सनकादिकुमार और नारदजी इनके साथ ब्रह्माजी गए. क्योंकि विवाहमें सनकादिकोंका और नारदजीका कोई उपयोग नहीं था. हंस दूध और जलको अलग करनेवाला है अतः ब्रह्माजी मरीचि आदि ऋषियोंको वहीं छोडकर और अन्योंको लेकर चले गए. ब्रह्माजीका यान(सवारी) हंस ही था इसलिए प्रसंगसे अन्य जगह न गए किन्तु त्रिधाम जो तीनों लोकोंका तेजोरूप है अथवा गुणोंकी समानताका स्थान है वहां गये. ब्रह्माजीके बहुतसे स्थान हैं वहां नहीं गए किन्तु सत्यलोकको ही गए यह 'परं' पदसे जाना जाता है ।।२०।।

गते शतधृतौ क्षत्तः कर्दमस्तेन चोदितः ।

यथोदितं स्वदुहितः प्रादाद् विश्वसृजां ततः ।।२१।।

श्लोकार्थः ब्रह्माजीके चले जानेपर कर्दमजीने उनकी आज्ञानुसार मरीचि

आदि प्रजापतिओनके साथ अपनी कन्याओनका विधिपूर्वक विवाह कर दिया।।२१।।

व्याख्यार्थ: ब्रह्माजीके चले जानेके बादमें ब्रह्माजीकी प्रेरणासे जैसा ब्रह्माजीने कहा था उसीके अनुसार सादृश्य रुचिका विचार करके प्रजापतियोंमें एक-एकको एक-एक कन्या दे दी. ब्रह्माजीके गाम्भीर्यको बतानेकेलिए यहां ब्रह्माजीको 'शतधृति' शब्दसे कहा है. अर्थात् सौ प्रकारका है धैर्य जिसमें ।।२१।।

आभास: मरीचि आदिके विवाहको ढाई श्लोकोंसे कहते हैं :

मरीचये कलां प्रादाद् अनसूयाम् अथाऽत्रये।
श्रद्धाम् अङ्गिरसेऽयच्छत् पुलस्त्याय हविर्भुवम्।।२२।।
पुलहाय गतिं युक्तां क्रतवे च क्रियां सतीम्।
ख्यातिं च भृगवेऽयच्छद् वसिष्ठायाऽप्यरुन्धतीम्।।२३।।
अथर्वणेऽददाच्छान्तिं यया यज्ञो वितन्यते।
विप्रर्षभान् कृतोद्वाहान् सदारान् समलालयत्।।२४।।

श्लोकार्थ: उन्होंने अपनी कला नामकी कन्या मरीचिको, अनसूया अत्रिको, श्रद्धा अंगिराको, हर्विभू पुलस्त्यको समर्पण की, पुलहको उनके अनुरूप गति नामकी कन्या दी, ऋतुकेलिए साध्वी कन्या क्रियाको दी, भृगुजीको ख्याति और वसिष्ठको 'अरुन्धति' समर्पित की. अथर्वाकेलिए शान्तिको दिया जिससे यज्ञकर्मका विस्तार किया जाता है. कर्दमजीने उन विवाहित ऋषियोंका पत्नियोंके सहित खूब सत्कार किया।।२२-२४।।

व्याख्यार्थ: 'हर्विभू' यह कन्याका नाम है और 'गति' भी कन्याका नाम है. 'युक्तां'का अर्थ है यथायोग्य क्योंकि पुलह और पुलत्स्य ये दोनों राक्षस प्रकृतिके थे अतः इन्हें इन्हींके स्वभावके अनुसार कन्या दी. 'क्रिया' भी कन्याका नाम है ऋतुके तो 'दक्षिणा'नामकी पत्नी ही उसके तुल्य है तथापि सत्य क्रिया भी उसके तुल्य है अतः सती क्रिया उसे दी. 'अथर्वा' वेदाभिमानी देवता है, अथर्वा और अंगिरा ये दोनों ब्रह्मके प्रतिपादक हैं अतः अथर्वाकी भार्या शान्ति हुई. अथर्वा भी ब्रह्माजीका ही पुत्र है ऐसा जानना. कदाचित् शंका हो कि अथर्वा तो निवृत्तिमार्गमें प्रवृत्त हैं वे स्त्रीको क्या करेंगे उसकेलिए यहां 'यया यज्ञो वितन्यते' जिस तरह ब्रह्मका प्रतिपादन कर्त्तव्य है उसी तरह यज्ञमें उपयोगीका ग्रहण भी आवश्यक है ऐसा होनेसे वे अथर्वा जिस शान्तिसे यज्ञका विस्तार करेंगे वह यह

शान्ति है. उन मुनियाृको कन्यादान करके भूषण आदिके दानसे भी उन (मुनियाृ)को प्रसन्न किया 'विप्रर्षभान्' ऐसा इसलिए कहा कि ब्राह्मण थे अतः उन्हाृने अपनी-अपनी समझके अनुसार ही विवाह किया और उन्हाृका स्वतन्त्र विवाह करनेमाृ सामर्थ्य थी. उन कन्याआृका भी उन मुनियाृमाृ स्त्रीभाव ही था इसलिए 'सदारान् सम्यग् लालयत्' उन मुनियाृका उनकी स्त्रियाृके साथ सत्कार किया ।।२२-२४।।

ततस्त ऋषयः क्षत्तः कृतदारा निमन्त्र्य तम्।

प्रातिष्ठन् नन्दिम् आपन्नाः स्वं स्वम् आश्रममण्डलम्।।२५।।

श्लोकार्थः हे विदुरजी ! इस प्रकार विवाह हो जाने पर वे सब ऋषि कर्दमजीकी आज्ञा ले अत्यन्त प्रसन्न होते हुए अपने-अपने आश्रमको चले गए ।।२५।।

व्याख्यार्थः विवाहके अनन्तर वे सब मन्त्रदृष्टा ऋषि अलौकिकको जानकर उन कन्याआृमाृ सृष्टि करनेकी इच्छासे उन्हृ अपनी पत्नी बनाया धर्म और धर्मीमाृ अभेद होनेसे 'कृतदाराः' ऐसा कहा* अर्थात् दारा तो है धर्मी उनमाृ रहनेवाला दारत्व धर्म है अतः दारत्व और दारामाृ कोई भेद नहीं है.(इसके अनन्तर) उनने श्वसुरको 'हम जाते हैं' ऐसा कहा कहकर अत्यन्त प्रसन्न होकर और सबने अलग-अलग अपने-अपने आश्रम मण्डलकी ओर प्रस्थान किया ।।२५।।

*.कर्दमजीकी उन कन्याआृमाृ उन मन्त्रदृष्टा मरीचि आदि ऋषियाृने दारत्व किया दारा तो वे थीं ही फिर उनको दारा कैसे किया उसका आशय यह है कि दारा तो थी परन्तु उनमाृ दारत्व(धर्म) उनने किया तो फिर धर्म दारत्व और धर्मी दारा इसमाृ भेद होगा इसके समाधानकेलिए धर्म और धर्मीमाृ कोई भेद नहीं होता अतः कृतदाराः ऐसा कहा.

आभासः उक्त वर्णनमाृ मुनिके ऐहिक(लौकिक) कर्मको समाप्त करके अब अध्यायकी समाप्ति तक उन(कर्दमजी)की मुक्तिको कहते हैं :

आज्ञां भगवतो लब्ध्वा तस्यैवाज्ञानुसारतः।

यदा सर्वं परित्यज्य विचरेत् स हि मुच्यते ।।का.१।।

कारिकार्थः भगवान्की आज्ञा पाकर उसी आज्ञाके अनुसार सबका परित्याग करके जब विचरण करता है तब मुक्त होता है।।१।।

आभास: पहले भगवान्को जानकर उनकी स्तुति करके, पीछे प्रार्थना करनी चाहिए ऐसा नियम होनेसे आरम्भमृ उन्हृ ज्ञान हुआ इसे कहनेकेलिए उनकी पुत्रमृ प्रतिपत्ति(सम्मान) कहते हैं :

स चाऽवतीर्णं त्रियुगम् आज्ञाय विबुधर्षभम्।
विविक्त उपसङ्गम्य प्रणम्य समभाषत ।।२६।।

श्लोकार्थ: कर्दमजीने देखा कि उनके यहां साक्षात् देवाधिदेव श्रीहरिने ही अवतार लिया है तो वे एकान्तमृ उनके पास जाकर पैरृको छूकर प्रणाम करके इस प्रकार स्तुति करने लगे।।२६।।

व्याख्यार्थ: त्रियुगका अर्थ है धर्म यज्ञात्मक भगवान् जैसे सृष्टिके आरम्भमृ क्रियात्मा वाराहका अवतार हुआ था उसी तरह ज्ञानात्मक कपिलका अवतार है ऐसा न होता तो भगवल्लीला होनेसे सृष्टिका अन्त न होता. 'विबुधर्षभं'से देवोत्तम विष्णु लिए जाते हैं क्यृकि विष्णु ही परम देवता हैं वैदिक मार्गमृ देवता ही सर्वोत्तम हैं. ब्रह्मा भी देवता ही हैं और आत्मा भी देवता है. अतः देवताआृमृ उनकी श्रेष्ठता कही गई है. पडौसी(पास रहनेवाले) ऋषियृको खबर न पडे और भार्याको भी दुःख न हो इसलिए एकान्तमृ पासमृ जाकर पैरृको छूकर प्रणाम करके ये भगवान् हैं ऐसा निश्चय करके स्तोत्ररूप वाक्य बोले ।।२६।।

अहो पापच्यमानानां निरये स्वैर् अमङ्गलैः।
कालेन भूयसा नूनं प्रसीदन्तीह देवताः।।२७।।

श्लोकार्थ: अहो ! अपने पाप कर्मोंके कारण इस दुःखमय संसारमृ नाना प्रकारसे पीडित होते हुए पुरुषृ पर देवगण भी बहुत काल बीतने पर प्रसन्न होते हैं।।२७।।

व्याख्यार्थ: अपने घरमृ भगवान्का होना अपने धर्मसे साध्य नहीं है, क्यृकि वैसा धर्म तो है नहीं जिससे भगवान्का अवतार हो किन्तु भगवदावतार सब देवताआृकी कृपा हो तो साध्य होता है क्यृकि देवता भगवान्के अवयव(अंग) हैं. देवता प्रसन्न हृ ऐसा भी हमारा धर्म नहीं किन्तु बहुत काल तक दुःखके अनुभवके कारण दीनता होती है और दीनताको देखकर दया आनेके कारण वे कृपा करते हैं. शास्त्रमृ तो देवताआृकी दयासे प्रसाद(कृपा) नहीं होती किन्तु कर्मसे देवताआृका प्रसाद होता है ऐसी विपरीत बात देखी जाती है अतः अहो! से आश्चर्यको प्रकट किया है. 'स्वैरमंगलैः'का अर्थ है अपने पाप जो

अपनेको ही भोगने पडते हैं अन्यको नहीं भोगने पडते हैं. उन पापॄसे जब अत्यन्त पीडित होते हैं तब कहीं बहुत कालमॄ देवता प्रसन्न होते हैं यह निश्चित् है. सात्त्विक स्वभाव होनेसे इसे निस्तारके उपायकी समझ नहीं है अतः इसके ऊपर दया आवश्यक है ।।२७।।

आभास: यह इतना दुर्लभ क्यॊ है, जिसको देवताओंके प्रसादका फल बताया है :

बहुजन्मविपक्वेन सम्यग्योगसमाधिना।
द्रष्टुं यतन्ते यतयः शून्यागारेषु यत् पदम् ।।२८।।

श्लोकार्थ: किन्तु जिनके स्वरूपको योगीजन अनेकॊ जन्मॊंके साधनसे सिद्ध हुए सुदृढ समाधिके द्वारा एकान्तमॆ देखनेका प्रयत्न करते हैं।।२८।।

व्याख्यार्थ: अनेक जन्मॊंमॆ सिद्ध किया हुआ योग परिपक्व हो जाता है तब चित्त निर्मल होता है और चित्तके निर्मल होने पर भगवान्‌को देखनेकी इच्छा उत्पन्न होती है किन्तु भगवान्‌के दर्शन नहीं होते. ऐसे दुर्लभ दर्शनवाले भगवान् यदि घरमॆ अवतार लेते हैं तब उस भाग्यका क्या वर्णन किया जाय. योगसे जो समाधि है उसका यहां ग्रहण है चिन्ता आदिसे होनेवाली समाधिका यहां ग्रहण नहीं है. 'शून्यागारेषु'का अर्थ है प्रव्रज्या(सन्यास) एवं सन्यासके धर्ममॆ निरत होना. इससे उसकी निर्भयता बताई है भगवत्स्वरूप जो हृदयमॆ स्फुरित होता है उसे 'यत्पदं'से बताया है ।।२८।।

आभास: तो फिर भगवान् नहीं ह्यॊगे इस आशंकाका समाधान करते हैं :

स एव भगवान् अद्य हेलनं वगणय्य नः।
गृहेषु जातो ग्राम्याणां यः स्वानां पक्षपोषणः।।२९।।

श्लोकार्थ: अपने भक्तॊंकी रक्षा करनेवाले वे ही भगवान् हम विषय लोलुपॊंके द्वारा होनेवाली अपनी अवज्ञाका भी विचार न करके आज हमारे घरमॆ अवतीर्ण हुए हैं।।२९।।

व्याख्यार्थ: ब्रह्माजीके वचनसे, अपने अनुभवसे और भगवान्‌के वचनसे निश्चय होता है कि ये वे ही भगवान् हैं. शंका होवे कि जो पुरुषोत्तम हैं वे अपने अपमानको सहन करके ग्रामीण लोगॊंमॆ कैसे अवतार लॆंगे. बाधित अर्थको वेदने भी नहीं बताया है. वह(भगवान्) तो सम्मानका पात्र है अतः ग्रामीणॊंमॆ उनका अवतार कैसे हुआ इस आशंकाका उत्तर 'अद्य नो हेलनं अवगणय्य' से दिया है

आजके पहले तो बराबर मर्यादा थी किन्तु आज ही उस मर्यादाका भंग हुआ है अतएव आप ग्रामीणाॅके घरमॅ जन्मे हैं. 'गृहेषु' घराॅमॅ कहनेका तात्पर्य यह है कि किसीके आप पुत्र हैं, किसीके भाई हैं किसीके साले हैं और किसीके मामा हैं इसीलिए यहां बहुवचन दिया है. आज आपने वैसा क्याॅ किया उसका उत्तर 'यः स्वानां पक्षपोषणः'से दिया है. पहले तो भगवान् सर्वत्र समभाववाले थे. इस समय तो भक्तिमार्गको उत्पन्न करके विषम हो गए हैं. भक्तके पक्षका पोषण जिससे(भगवान्से) होता है ।।२९।।

आभास: और भी जिस तरह वेद प्रमाण हैं उसी तरह भगवान्के वचन भी प्रमाण हैं क्याॅकि भगवान्ने कहा था मैं अपनी कला और अंशाॅके साथ तुम्हारे यहां अवतार लूंगा 'अथाहंस्वांशकलया' इस पर कहते हैं :

स्वीयं वाक्यम् ऋतं कर्तुम् अवतीर्णोऽसि मे गृहे ।
चिकीर्षुर्भगवान् ज्ञानं भक्तानां मानवर्धनः ।।३०।।

श्लोकार्थ: आप अपने भक्ताॅका मान बढानेवाले हैं. आपने अपने वचनाॅको सत्य करनेकेलिए और सांख्ययोगका उपदेश देनेकेलिए ही मेरे घरमॅ अवतार लिया है।।३०।।

व्याख्यार्थ: आपने अवतार तो लोकमॅ ज्ञान प्रचारकेलिए लिया है तथा भक्ताॅका मान बढानेकेलिए काष्ठ, वृक्ष आदिको छोडकर मेरे घरमॅ अवतार लिया है मेरे भाग्यसे या अन्य किसी कारणसे अवतार नहीं लिया है ।।३०।।

आभास: शंका होती है कि तथापि भगवान्की हीनभावना कैसे युक्ति संगत होती है उसमॅ युक्ति देते हैं :

तान्येव तेऽभिरूपाणि रूपाणि भगवंस्तव ।
यानि यानि च रोचन्ते स्वजनानामरूपिणः।।३१।।

श्लोकार्थ: भगवन् ! आप प्राकृतरूपसे रहित हैं आपके जो चतुर्भुज आदि अलौकिक रूप हैं वे ही आपके योग्य हैं तथा जो मनुष्यसदृशरूप आपके भक्ताॅको प्रिय लगते हैं वे ही आपको रूचिकर प्रतीत होते हैं।।३१।।

व्याख्यार्थ: पुरुषोत्तमका हीनभाव उचित नहीं है किन्तु यह हीनभाव नहीं है. भगवान्के दोनाॅ ही प्रकारके रूप उचित हैं. १.वे जो सर्ववेद प्रसिद्ध आनन्दमय हैं और २.वे जो भक्ताॅको रुचिकर होते हैं इतना होने पर भी भगवान् अरूप हैं. हे भगवन्! वे आनन्दमयरूप ही आपके योग्य हैं अर्थात् मनुष्याकार जो रूप हैं वे भी

भगवान्के अनुरूप(योग्य) हैं जिस तरहके पहलेके जितने रूप भगवान्ने किए थे उन सबको वेद कहता है और भक्तृके अनुरोधसे जो बादमृ भगवान्ने रूप धारण किए थे वे भी भगवान्के अनुरूप ही हैं क्यृकि सामग्री दोनृ ही मृ बराबर है. अब यह जो आपका रूप 'इदानीन्तन' इस समयका है उसका कथन नहीं है. परन्तु इतना अवश्य है कि उसका निषेध नहीं है अन्यथा मान तो अन्य लोगृको होता है इसमृ उनकी बुद्धिका दोष है. भक्तृकेलिए तो भगवान् आनन्दरूप ही हैं यदि आनन्दरूप न होते तो उन भगवान्मृ रुचि कैसे होती ।।३१।।

आभास: इस तरह कपिलजी भगवान्के अवतार हैं इसका समर्थन करके उनको नमस्कार करते हैं :

तं सूरिभिस्तत्त्वबुभुत्सयाऽद्धा सदाभिवादार्हणपादपीठम् ।
ऐश्वर्यवैराग्ययशोऽवबोध–वीर्यश्रियां पूर्तम् अहं प्रपद्ये ।।३२।।

श्लोकार्थ: आपका पादपीठ तत्त्वज्ञानकी इच्छासे विद्वानृ द्वारा सर्वदा वन्दनीय है तथा आप ऐश्वर्य, वैराग्य, यश, ज्ञान, वीर्य और श्री इन छहृ ऐश्वर्योंसे पूर्ण हैं, मैं आपकी शरणमृ हूं।।३२।।

व्याख्यार्थ: ऐहिक(लौकिक) और पारलौकिक दोनृ फलृके साधक आप हैं अतः मैं आपकी शरणमृ हूं. दोनृ फलृमृ मोक्षरूप जो फल है उसके आप साधक हैं उसे कहते हैं 'सूरिभिस्तत्त्वबुभुत्सया' तत्त्वज्ञानकी इच्छासे सदा अभिवादन करने योग्य है पादपीठ जिसका. ज्ञानसे मोक्ष होता है वह ज्ञान होता है गुरुसे वह गुरु भी सेवा करने पर ज्ञान देता है. इसलिए आपका चरणपीठ अभिवादनके योग्य होता ही है. ऐहिक फल भी उसीसे सिद्ध होता है उसे ऐश्वर्य वैराग्य आदिसे बताया है ऐश्वर्य आदि छः गुण हैं उनसे आप पूर्ण हैं इसलिए मांगनेवालेको आप इनका दान करते हैं क्यृकि कोई भी अपने पास विद्यमानका ही दान कर सकता है(दे सकता है) चाहे कैसा ही महान् दाता क्यृ न हो अविद्यमानका दान नहीं कर सकता इसलिए ऐहिक(लौकिक) कार्यकेलिए भी भगवान्की ही सेवा करनी चाहिए ।।३२।।

आभास: भगवान् फलरूप भी हैं और फल साधक भी हैं इसका प्रतिपादन करके ब्रह्मत्व प्रतिपादन करनेकेलिए भगवान्की सर्वरूपताका प्रतिपादन करते हैं :

परं प्रधानं पुरुषं महान्तं कालं कविं त्रिवृतं लोकपालम् ।

आत्मानुभूत्याऽनुगतप्रपञ्चं स्वच्छन्दशक्तिं कपिलं प्रपद्ये।।३३।।

श्लोकार्थ: हे भगवान् ! आप परब्रह्म हैं, सब शक्तियां आपके अधीन हैं, प्रकृति, पुरुष, महत्तत्व, काल, त्रिविध अहंकार, समस्त लोक एवं लोकपालाृके रूपमृ आप प्रकट हैं तथा आप सर्वज्ञ परमात्मा ही सारे प्रपंचकी चेतना शक्तिके द्वारा अपनेमृ लीन करते हैं अतः इन सबसे परे भी आप ही हैं. मैं आपकी (कपिलकी) शरण ग्रहण करता हूं।।३३।।

व्याख्यार्थ: सर्वरूप कपिलके शरणमृ मैं जाता हूं. उन सब रूपाृको गिनाते हैं. पर(अक्षर), प्रधान(प्रकृति), पुरुष(उस प्रकृतिका अधिष्ठाता), महान्(मुख्य पुत्र), काल(गुणाृमृ क्षोभ उत्पन्न करनेवाला), कविः(महत् तत्त्वका अभिमानी मूलब्रह्मा) अथवा सूत्रात्मक ब्रह्मा, त्रिवृत्तम् अहंकार, लोकपालाः (सभी देवता). इस तरह भगवान् कपिलकी कारणरूपताको कहकर आत्मानुभूत्या आदिसे कार्यरूपताको कहते हैं. 'अनुगतः'का अर्थ है अपनेमृ लीन, स्थित अथवा अपनेमृ उत्पन्न प्रपञ्च(जगत्) जिसका कार्य है श्रुतिका ऐसा पक्ष है कि ''जिसका ज्ञानमय तप है'',''उसने तप किया'', उसने तप करके इस सम्पूर्ण जगत्की सृष्टि की इन दो श्रुति वाक्याृसे ऐसा निश्चय होता है कि यहां उत्पत्ति पक्ष लिया गया है उस पक्षमृ अनुगत पदका अर्थ उत्पत्ति होता है. इस श्रुतिके पक्षको लेकर ही यहां अनुगतका अर्थ उत्पत्ति किया है(परन्तु) सांख्यके पक्षसे तो अनुगत पदका अर्थ प्रलय ही लेना होगा. इसीको ''ज्ञानशक्त्याऽपि उपत्तिपक्ष उत्पत्तिः, अन्यथा तु प्रलयः'' इससे कहा है. कपिलजी प्रपञ्चरूप भी हैं और प्रपञ्चरूपसे रहित भी हैं ऐसा ऊपरके कथनसे ज्ञात होता है ये दोनाृ कैसे हो सकते हैं ऐसी आशंका करके उसका उत्तर 'स्वच्छन्दशक्ति'से दिया है. अर्थात् कपिलजी इतने समर्थ हैं कि उनकी शक्ति उनकी इच्छाके अनुसार वर्त्तन(कार्य) करती है ।।३३।।

आभास: इस तरह स्तुति और नमस्कार करके अपनी बात कहते हैं :

आ स्माभिपृच्छेऽद्य पतिं प्रजानां त्वयाऽवतीर्णार्ण उताऽऽप्तकामः।
परिव्रजत् पदवीम् आस्थितोऽहं चरिष्ये त्वां हृदि युञ्जन् विशोकः।।३४।।

श्लोकार्थ: हे प्रभो ! आपकी कृपासे तीनाृ ऋणाृसे मुक्त हो गया हूं, और मेरे सभी मनोरथ पूर्ण हो गए हैं. अब मैं सन्यास मार्गको ग्रहणकर आपका चिन्तन करते हुए शोक रहित होकर विचरूंगा. आप समस्त प्रजाआृके स्वामी हैं अतएव

इसकेलिए मैं आपकी आज्ञा चाहता हूं।।३४।।

व्याख्यार्थ: ब्रह्माजीके अनुशासनसे कर्दमजीमृ प्रजापतिपन था इसी तरह ब्रह्माजीकी प्रार्थनासे कपिलजीमृ भी प्रजापतिपनकी सम्भावनासे यहां कपिलजीको प्रजाका पति कहा है. हे कपिल! आप प्रजाके पति हैं इसलिए आपसे आज्ञा चाहता हूं. 'आ' पद यह गमनमृ सम्मति सूचक है. 'स्म' का अर्थ ऐसा प्रसिद्ध है. पुत्रकी आज्ञासे और भगवान्की आज्ञासे जाना चाहिए. यहां 'अभि' शब्द सर्व प्रकारवाची है अर्थात् जानेमृ सब प्रकार कहने चाहिए. कर्दमजीको वैसा अधिकार था अतः अनुशासनकी तरह कपिलजीमृ प्रजापतित्व था. वेदका अधिकार होनेसे ''त्वं यज्ञः'' ऐसा कहा. तुम्हारे उत्पन्न होनेसे मेरे ऋण स्वयं चले गए इसको 'त्वयाऽवतीर्णार्ण' से कहा है. आपके कारण मेरे सब मनोरथ पूर्ण हो गए. यहां आत्मरूप भगवान् पुत्र हैं इसलिए पुत्र कामना भी आत्मकामना ही हो गई. अतः अब मैं अपना अधिकार आपको साृपकर तीनृ ऋणृसे मुक्त होकर ब्रह्मवेत्ता मैं पूर्णकाम होकर सन्यासमार्गको इस समय ग्रहण कर रहा हूं. परमहंस होकर जबतक यह देह नहीं गिरेगी तबतक ब्रह्मवेत्ताके जीवनका कार्य है पूर्ण पुरुषोत्तम आपका हृदयमृ ध्यान करते हुए विचरण करूंगा. क्यृकि शोक रहित होनेवालेकेलिए यह देहकी प्रतिपत्ति बताई गई है जब शोक नहीं रहा तो और दूसरा कर्त्तव्य ही क्या बाकी रहा. इससे यह सिद्ध होता है कि यदि ज्ञान होनेपर भी शोक सर्वथा दूर नहीं होता तो उसकेलिए यह कहना पडेगा कि उसे सम्यग्(पूरा) ज्ञान नहीं हुआ है ।।३४।।

आभास: इस तरह जब कर्दमजीने आज्ञाकी प्रार्थना की तो भगवान्ने समझ लिया कि ये ऋषि मेरे अवतारके प्रयोजनको विशेष रूपसे नहीं जानते हैं इसको कहते हुए उन्हृ आज्ञा देते हैं इसे छः श्लोकृसे कहते हैं :

श्रीभगवान् उवाच

मया प्रोक्तं हि लोकस्य प्रमाणं सत्य लौकिके।
अथाऽजनि मया तुभ्यं यदवोचम् ऋतं मुने ।।३५।।

श्लोकार्थ: भगवान्ने कहा, हे सत्य स्वरूप मुने ! वैदिक और लौकिक सभी कर्मोंमृ लोककेलिए मेरा कथन ही प्रमाण है. इसलिए मैंने जो तुम्हृ कहा था कि ''मैं तुम्हारे यहां जन्म लूंगा'' उसे सत्य करनेकेलिए ही मैंने यह अवतार लिया है।।३५।।

व्याख्यार्थ: मेरेमृ तुमको पूर्ण विश्वास करना चाहिए इसको कहनेकेलिए अपने वाक्य की सत्यताका उपपादन करते हैं क्यृूकि उससे आगे फल अवश्य होगा ऐसा विश्वास हो जायगा. 'सत्य!' यह सम्बोधन है जिसका अर्थ है हे सत्य स्वरूप! लौकिकमृ मैंने लोकका प्रमाण कह दिया है क्यृूकि मैं ही लोकका कर्त्ता और पोषक हूं मेरे वाक्य और वेद ही प्रमाण हैं. 'सत्य लौकिके' ऐसा एक पद मानने पर अर्थ होता है सत्य अर्थात् अलौकिकमृ अथवा लौकिकमृ अथवा सत्यरूप लौकिकमृ. इससे असुरृूकेलिए यह प्रमाण नहीं है यह कहा गया. अतः अपने वचनको प्रमाणित करनेकेलिए भिन्न क्रमसे लौकिक जड-जीवसे अलग होते हुए भी मैंने जन्म लिया उसे 'मयाऽजनि'से कहा. तुमसे मैंने पहले कहा था इससे पूर्वकी प्रतिज्ञा कही वो पूर्वकी प्रतिज्ञा यह थी कि ''मैं तुम्हारे यहां अपनी अंशकलाके सहित जन्म लूंगा'' मैंने यह जन्म तुम्हारेलिए लिया है यह सत्य है इसे 'तुभ्यं' और 'ऋतम्'(सत्य) इन दो शब्दृासे बताया. मुने! इस सम्बोधनका अर्थ है तुम पूर्वकी बातको और इस समयकी दोनृ बातृको जानते हो ।।३५।।

आभास: जन्मका प्रयोजन भी जो पहले कहा था वही है इसे दो श्लोकृासे कहते हैं:

एतन्मे जन्म लोकेऽस्मिन् मुमुक्षूणां दुराशयात्।
प्रसंख्यानाय तत्त्वानां सम्मतायाऽऽत्मदर्शने ।।३६।।

श्लोकार्थ: इस लोकमृ मेरा यह जन्म लिंग शरीरसे मुक्त होनेकी इच्छावाले मुनियृूकेलिए आत्मदर्शनमृ उपयोगी प्रकृति आदि तत्त्वृूका विवेचन करनेकेलिए ही हुआ है।।३६।।

व्याख्यार्थ: मेरा यह जन्म दुष्ट(दोषयुक्त) आशयसे जो मुक्त होना चाहते हैं उनकेलिए है. यहां आशयसे संघात, आत्माका ग्रहण है यदि वह दोषयुक्त हो तो आत्माको नष्ट कर देता है. जो इस प्रकारके संघातरूप आत्मासे मुक्ति चाहता है उस प्राणीके उद्धारकेलिए तत्त्वृूकी गणना करनी चाहिए. जो साक्षात् दिखाई देते हैं और जो अत्यन्त अलग-अलग हैं ऐसे स्थाणु(वृक्षके ठूंठ) आदिका भी पुरुष यह टेढा है इसमृ खोखला है आदि रूपसे विवेचन करते हैं तो फिर क्या जो इन्द्रियातीत हैं.(इन्द्रियृूसे जिनका ज्ञान नहीं हो सका) और परस्पर एकदूसरेसे मिले हुए हैं ऐसे काल, प्रकाश आदिका विवेचन क्यृू न किया जाय. अतः उन तत्त्वृूकी गणना उद्देश्य(नामसे) और लक्षणसे करनी चाहिए.

आत्मदर्शन उस गणनाका प्रयोजन है. 'आत्मदर्शने'मू जो सप्तमी विभक्ति है वह निमित्तमू है अर्थात् आत्मज्ञान(दर्शन)के निमित्त तत्त्वाूकी गणना करनी चाहिए. यदि ऐसा न किया गया तो संघातमू पडी हुई आत्मा अपनेको उनसे अलग नहीं जान सकेगी. शंका हो सकती है कि 'एकात्मज्ञान'की प्रतिपादक श्रुतिसे पृथक् ज्ञान विरुद्ध होगा एवं भेद व्यवहार जब रहेगा तब ही सांख्यशास्त्रकी प्रवृत्ति होगी स्वभावसे यह जगत् जैसा है उसका निर्धारण(निश्चय) जबतक न हो तबतक उसका आत्मज्ञानमू उपयोग नहीं हो सकता. ''**ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्**'' इस श्रुतिमू 'इदं' पदसे यह दिखाई देनेवाला जो सब जगत् है उस जगत्की जगत्रूपसे उद्देश्यता नहीं है क्याूकि इसमू प्रत्यक्षसे विरोध है अतः 'तत्सत्यम्' ऐसा कहकर सत्यत्व-स्वरूपसे जगत्की उद्देशयता और सद्रूपता सांख्यके द्वारा प्रतिपादन की जाती है. इसलिए उसके द्वारा आत्मज्ञानकेलिए यह सांख्य है ऐसा तत्त्ववेत्ता (सांख्यवादी) कहते हैं. अन्य सांख्यवादियाूका ऐसा कहना है कि इतर भिन्न ज्ञान द्वारा आत्मज्ञानकेलिए यह सांख्यज्ञान है. जो परलोककी लिप्सा रखनेवाले स्त्री-शूद्र और द्विजबन्धु(निष्कृष्ट ब्राह्मण आदि) हैं उनको वेदके सुननेका अभाव होनेसे वेद विरोध होगा ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए. उन्हाूकेलिए तो संघातजनित दोषरूप जो अहंकार है उस अहंकारका अभाव हो जाना ही फल है. अतः उस प्रकारके धर्मसे उपचित(समृद्ध) कालान्तरमू उत्पन्न जो ब्राह्मण देह है उसमू पुनः श्रुतिके अनुसार आत्मविचार हो जायगा इसलिए कोई भी बात अनुचित नहीं है. अतएव प्रसंख्यात(सांख्य) आत्मदर्शनकेलिए उपयोगी है. जो आत्मज्ञानी होते हैं वे सांख्यज्ञानका विरोध नहीं करते ।।३६।।

आभास: शंका होती है कि यह सांख्यशास्त्र यदि आधुनिक है तो यह अनावश्यक है और यदि कहो कि यह तो परम्परासे चला आया है नया नहीं है तो फिर इसकेलिए अवतारकी क्या आवश्यकता है इस पर कहते हैं :

एष आत्मपथोऽव्यक्तो नष्टः कालेन भूयसा।
तं प्रवर्तयितुं देहम् इमं विद्धि मया भृतम् ।।३७।।

श्लोकार्थ: आत्मज्ञानका यह सूक्ष्ममार्ग बहुत समयसे लुप्त हो गया था. इसे पुनः प्रवर्तित करनेकेलिए ही मैंने यह देह ग्रहण की है ऐसा जानो।।३७।।

व्याख्यार्थ: आत्ममार्गमू यह सांख्यशास्त्र अनादि सिद्ध था ही. परन्तु बहुत समयसे क्षीण होते-होते नष्ट हो गया. पीछे अव्यक्त(अप्रकट) होनेसे

लोकमृ कहीं ज्ञात नहीं होता. पुराण तो संकीर्णरूपसे(खिचडीकी तरह) वर्णन करता है अतः इस सांख्यकी अभिव्यक्ति नहीं होती. जब सब प्रकारसे अव्यक्त(अप्रकट) हो गया तो उसके जाननेवालाृको न तो उसकी स्मृति रही और न संस्कार; इसलिए वह(सांख्यशास्त्र) नष्ट हो गया. उसीको पुनः प्रवर्तित करनेकेलिए सबके उद्धारकेलिए मैंने इस देहको धारण किया है ऐसा जानो ।।३७।।

आभास: तो फिर सभी इस मार्गसे मुक्त होते हैं इसलिए देवहूति प्रभृतिकी भी मुक्ति हो जाएगी अतः आप अन्य चिन्ताको छोडकर मुक्त हो जाईए:

गच्छ कामं मयाऽऽदिष्टो मयि सन्न्यस्तकर्मणा।
जित्वा सुदुर्जयं मृत्युम् अमृतत्वाय मां भज।।३८।।

श्लोकार्थ: मुने ! मैं आज्ञा देता हूं तुम इच्छानुसार जाओ और अपने सम्पूर्ण कर्म मुझे अर्पण करते हुए दुर्जय मृत्युको जीतकर मोक्षपद प्राप्त करनेकेलिए मेरा भजन करो।।३८।।

व्याख्यार्थ: मैं आज्ञा देता हूं तुम जाओ. यहांसे जाकर सर्वदा भ्रमण करते रहना. उसके बादका कर्तव्य बताते हैं. सब कर्मोंको मेरेमृ समर्पित करके दुर्जय(न जीते जानेवाली) मृत्युको जीतकर परमानन्दकी प्राप्तिकेलिए मेरा भजन करना. कर्म अनेक प्रकारके हैं. मृत्युके जीतनेकेलिए साधनरूपसे बहुत कर्मोंका निरूपण किया है. कुछ लोगाृका तो कहना है कि सब कर्म भगवान्मृ समर्पित कर देना चाहिए. दूसरा ऐसा कहते हैं कि जो भगवद्भजनमृ बाधा उपस्थित करते हैं उन कर्मोंका भगवद्भजनकेलिए त्याग कर देना चाहिए. इनमृ सर्वप्रथम तो कर्मोंको मेरेमृ समर्पित कर देनेसे सुदुर्जय मृत्युको भी जीत लेता है तब बाधक मृत्युके अभावसे परमानन्दकी प्राप्तिकेलिए पीछे भजन करना चाहिए. परिभ्रमण और सर्व कर्मोंका समर्पण तो आदिमृ करना चाहिए. उसके करनेसे देह परिणाम श्वेत बाल एवं भूख प्यास आदि न हाृगे तब पीछे भजन करना चाहिए. स्वस्थ रहने पर ही भजन हो सकता है. पलित(बालाृकी सफेदी) आदिका अभाव मृत्यु पर विजयका बोधक है ।।३८।।

आभास: द्वेतका(दो का ज्ञान) कार्य भय है और संघात(देह)का कार्य शोक है ये दोनाृ उससे मिट जाएंगे इसे कहते हैं :

मामात्मानं स्वयंज्योतिः सर्वभूतगुहाशयम्.
आत्मन्येवाऽऽत्मना वीक्ष्य विशोकोऽभयम् ऋच्छति।।३९।।

श्लोकार्थः मैं स्वयंप्रकाश और सम्पूर्ण जीवोंके अन्तःकरणोंमें रहनेवाला परमात्मा ही हूं. अतः जब तुम विशुद्ध बुद्धिके द्वारा अपने अन्तःकरणमें मेरा साक्षात्कार कर लोगे तब सब प्रकारके शोकोंसे छूटकर निर्भय पद प्राप्त कर लोगे।।३९।।

व्याख्यार्थः सांख्यशास्त्रमें चैतन्यरूप आत्माको ही भगवान् कहते हैं. संघातसे निवृत्त आत्मा उसी भगवान्की आत्मासे भजन करती है. आत्मासे भजन करना ही मुख्य है. जैसे लोकमें शरीरसे की जानेवाली सेवा मुख्य होती है और द्रव्यसे की जानेवाली गौण होती है. उसी तरह आत्मासे किया जानेवाला भजन मुख्य और देह, इन्द्रिय आदिसे किया जानेवाला भजन गौण होता है. भगवान् उपासना करनेके योग्य हैं अतः उनके गुणोंको 'स्वयंज्योति' और 'सर्वभूतगुहाशयं' पदोंसे कहा है वह भगवान् स्वयंप्रकाश हैं अतः उसकेलिए अन्य प्रकाशकी आवश्यकता नहीं रहती तथा सब प्राणियोंके अन्तःकरणमें विद्यमान है, अतः उसकी प्राप्तिकेलिए अथवा पहचानकेलिए कोई प्रयत्न नहीं करना पडता. संघातसे वह आत्मा जब अलग समझमें आ जाता है तब वह आत्मा व्यापक उस आत्माको स्पष्ट कर देता है. जैसे बाहर रहनेवाली अग्नि जब लकडीसे सम्बन्ध करती है तब उस लकडीके अन्दर रहनेवाली अग्निको भी आपसमें दो लकडियोंके घिसनेके विना ही शीघ्र प्रकट कर देती है और उस काष्ठकी लकडीके साथ वह बाहरकी अग्नि मिल जाती है उसी तरह यहां बाहर रहनेवाली आत्मा उस अन्तःकरणमें आत्माको प्रकट करके उस आत्मामें मिल जाती है. तब सब आत्मा ही आत्मा हो जाती है तो भय और शोक अपने आप चला जाता है. उद्देश्य जिसे श्लोकमें 'मां' पदसे बताया है उस(आत्मा)का ज्ञान यदि नहीं होता है तो उससे सम्बन्धित यह सब अज्ञात ही रहता है. जैसे बाहरकी अग्निका संसर्ग(सम्बन्ध) होनेपर ही लकडीमें रहनेवाली अग्नि काष्ठके उपभुक्त होनेपर रहती है उसी बाह्य अग्निसे वह लकडीके अन्दरकी अग्नि प्रकाशित हुई है उसीको 'आत्मन्येवाऽत्मना'से स्पष्ट किया है. इस तरह जब वह आत्माको समझ लेता है तो फिर मेरा कहीं संघातमें पतन न हो जाय ऐसी शंका रहती नहीं अतः उसे शोक नहीं होता अभय होनेके विषयकी युक्ति तो पहले कही जा चुकी है. इसलिए स्वयं

ही सब हो जाता है ।।३९।।

आभास: इस तरह ऋषिको आदेश देकर माताकेलिए जो कर्त्तव्य हैं उसे कहते हैं :

मात्रे चाऽऽध्यात्मिकीं विद्यां शमनीं सर्वकर्मणाम् ।
वितरिष्ये यया चाऽसौ भयं चातितरिष्यति ।।४०।।

श्लोकार्थ: माता देवहूतिको भी मैं सम्पूर्ण कर्मोंसे छूडानेवाला आत्मज्ञान प्रदान करूंगा, जिससे संसाररूप भयसे पार हो जाएगी।।४०।।

व्याख्यार्थ: कपिलजीने कर्दमजीसे कहा, मैंने तुम्हारेलिए आधिदैविकी विद्या कही और माताकेलिए आध्यात्मिकी विद्या कहूंगा. उसमॄ विवेकसे आत्मज्ञान ही होगा. अतएव वह विद्या सब कर्मोंको शमन करती है. यद्यपि वह विद्या उसके साधनसे हो न सकेगी तथापि मैं ही उस विद्याका वितरण करूंगा अर्थात् वितरणके गुणसे ही उसे दूंगा. जिस विद्यासे मेरी कृपासे सब तरहके भयसे पार हो जाएगी. 'च'से शोकका भी ग्रहण होता है शोकसे भी मुक्त हो जाएगी. अतितरणका आशय यह है कि फिर कभी संघातकी प्रत्यापत्ति नहीं होगी ।।४०।।

आभास: इस तरह आत्मा सहित अपनेसे गृहीत देहद्वयकी प्रतिपत्तिको सुनकर स्वरूप प्राप्ति पर्यन्त उन्होॄने वैसा किया इसे सात श्लोकोॄसे कहते हैं :

आदौ ततो निर्गमनं व्रतानि च बहिस्तथा ।
आन्तरं मनसा ध्यानं दोषाभावस्तथान्तरः ।।का.१।।
ततो गुणाश्च तत्रैव ततो ज्ञानोदयस्तथा ।
ततः फलस्य सम्प्राप्तिः प्राप्ते ज्ञाने त्वियं क्रिया ।।का.२।।

कारिकार्थ: पहले तो वहांसे निर्गमन और फिर बाहर मनमॄ व्रतोॄका करना फिर मनसे आन्तर ध्यान उस ध्यानसे आन्तर(अन्दरके) दोषोॄकी निवृत्ति होनेपर गुण और ज्ञानका उदय हुआ ज्ञानोदयके अनन्तर फल प्राप्ति हुई इस तरह ज्ञान प्राप्त होनेपर यह क्रिया हुई यह सातोॄका समुदायार्थ है।।१-२।।

आभास: सबसे पहले आश्रमसे निकलनेको कहते हैं :

मैत्रेयः उवाच
एवं समुदितस्तेन कपिलेन प्रजापतिः।
दक्षिणीकृत्य तं प्रीतो वनमेव जगाम ह ।।४१।।

श्लोकार्थ: मैत्रेयजी कहते हैं, भगवान् कपिलके इस प्रकार कहने पर

प्रजापति कर्दमजी उनकी परिक्रमा कर प्रसन्नतापूर्वक वनको चले गए।।४१।।

व्याख्यार्थ: कपिलजीने जो पूर्वमॄ कहा था उसीके अनुसार किया यदि स्वयं वे नहीं करॄ तो अन्य भी नहीं करेंगे इसलिए स्वयं प्रजापति होते हुए भी अपने पुत्रकी प्रदक्षिणा करके कपिलजीके वचनसे प्रसन्न होकर वनको चले गए. 'ह' आश्चर्यवाचक है अर्थात् भगवान्को छोडकर वनमॄ चला जाना आश्चर्यकी बात है, किन्तु कपिलजीने जानेकी कही थी इसलिए चले गए ।।४१।।

आभास: वनमॄ जाकर जो व्रत किए उन्हॄ कहते हैं :

व्रतं स आस्थितो मौनम् आत्मैकशरणो मुनिः।
निःसङ्गो व्यचरत् क्षोणीम् अनग्निर् अनिकेतनः।।४२।।

श्लोकार्थ: वहां अहिंसामय सन्यास धर्मका पालन करते हुए वे श्रीभगवान्की शरण हो गए तथा अग्नि और आश्रमका त्याग करके निःसंग भावसे पृथ्वी पर विचरने लगे।।४२।।

व्याख्यार्थ: वाणी व्यापारके परित्यागको मौन कहते हैं जबतक देहपात न हो तबतक मौनव्रतको उन्हॄने रक्खा. मौन रखनेसे नाम प्रपञ्चका परित्याग हो जाता है नाम प्रपञ्चकी तरह रूप प्रपञ्चका भी उन्हॄने परित्याग किया इसे 'आत्मैकशरणः'से बताया है केवल आत्मा ही शरण(रक्षक) जिसके,''यह आत्मा ब्रह्म है'' वे मुनि(मननशील) थे अतः वासनामय प्रपञ्चका भी उनमॄ अभाव था. इस तरह स्वयंकृत प्रपञ्चके परित्यागको कहकर परकृत प्रपञ्चके अभावको कहनेकेलिए 'निःसंगः' कहा; चला गया है संग जिससे, अर्थात् संगका जब अभाव होगा तो 'परकृतप्रपञ्च'का स्वतः अभाव हो जायगा. 'परिभ्रमः' (विचरण) यह स्वयंका धर्म है. पाक आदिसे रहितको अनग्नि कहते हैं और घर आदि जिसके न हो उसे 'अनिकेतनः' कहते हैं तात्पर्य यह है कि अग्नि एवं घरके सम्बन्धसे रहित होकर विचरण करते थे. अग्निका धुंआ छुवा नहीं खाते थे और न कहीं घरमॄ प्रवेश करते थे ।।४२।।

आभास: अब आन्तर मनके ध्यानको कहते हैं :

मनो ब्रह्मणि युञ्जानो यत्–तत् सदसतः परम्।
गुणावभासे विगुण एकभक्त्याऽनुभावित ।।४३।।

श्लोकार्थ: जो कार्य और कारणसे अतीत है सत्त्वादिगुणॄका प्रकाशक एवं निर्गुण है और अनन्य भक्तिसे ही प्रत्यक्ष होता है उस परब्रह्ममॄ अपना मन लगा

दिया।।४३।।

व्याख्यार्थ: कर्दमजी वैदिक थे इसलिए उनने उपनिषद्मृ बताते हुए इस प्रकारसे अपने नेत्राृको बंद कर मनका ब्रह्ममृ नियमन कर अहंकार रहित होते हुए भक्ति और ज्ञानको प्राप्त करके गतिको प्राप्त हुए इस तरहका इस पञ्चम श्लोकसे सम्बन्ध है. ब्रह्म और प्रपञ्चसे अतीत उभयरूप उस ब्रह्मको जानकर. प्रपञ्च(जगत्)को तो ब्रह्मके माहात्म्यकेलिए जाना और ब्रह्ममृ मनको निविष्टकर(लगा) दिया. वह ब्रह्म कार्यकारणसे अजीत(परे) होते हुए भी गुणाृका अवभास जिसमृ होता है. कारण गुणका तो वह प्रवर्तक है और सद् आदि अंशोसे गुणाृका उत्पादक है. उस ब्रह्ममृ मनको लगानेका उपाय ''एक भक्त्यानुभावितः''से कहते हैं अनन्यभक्ति एवं प्रेमसे ही उस ब्रह्ममृ मन स्थिर होता है भक्तिसे उसमृ अनुभाव उत्पन्न हो गया था इसलिए निःसंगत्व आदि ब्रह्मधर्म बाधक नहीं हाृगे ।।४३।।

आभास: जब मन ब्रह्ममृ लग जाता है तब देह आदिमृ रहनेवाला अहंकार स्वतः(अपने आप) ही निवृत हो जाता है :

निरहङ्कृतिर्निर्ममश्च निर्द्वन्द्वः समदृक् स्वदृक्।
प्रत्यक् प्रशान्तधीर्धीरः प्रशान्तोर्मिरिवोदधिः।।४४।।

श्लोकार्थ: वे अहंकार, ममता और सुख-दुःख आदि द्वन्द्वाृसे छूटकर समदर्शी हो सबमृ अपनी आत्माको ही देखने लगे. उनकी बुद्धि अन्तर्मुख और शान्त हो गई. उस समय धीर कर्दमजी शान्त लहराृवाले समुद्रके समान जान पडने लगे।।४४।।

व्याख्यार्थ: 'अहन्ता' और 'ममता' ये दोनाृ अहंकारकी वृत्तियां हैं. ये दोनाृ ही उन मुनिमृ नहीं थीं इसे 'निरहंकृतिर्निर्ममश्च'से बताया है. 'च'से आकूति(भाव) आदिमृ भी उनके अध्यासका अभाव था. उसके अनन्तर ऊर्मिका अभाव भी हो गया इसे 'निर्द्वन्द्वः'से कहते हैं जो एकके आनेपर दूसरा आ जाय उसे द्वन्द्व कहते हैं जैसे लौकिक सुखके आने पर दुःखका आना भी आवश्यक है जैसे भुख और प्यास, जरा(बुढापा) और मृत्यु, शोक और मोह ये द्वन्द्व हैं एकके आनेके बाद दूसरा आ जाता है. मुनि तो निर्द्वन्द्व हो गए थे तब विषयाृमृ वैषम्य(विषमता)के ज्ञानका कोई प्रयोजन न होनेसे समदृक् हो गए. समका अर्थ है उस ब्रह्मको देखने लगे. आत्माको आत्मामृ जो देखता है उसे स्वदृक् कहते हैं.

'प्रत्यग्' पद इसलिए दिया है कि वे मुनि जब आत्माको आत्मामृ देखने लगे तब उनकी बहिर्मुखरूपसे आत्मस्फूर्ति नहीं हुई. किन्तु वह आत्मा स्वयं अन्तर्मुखतासे ही स्फुरित होती है. बुद्धिमृ जब कोई विक्षेप होता है तो बहिर्मुख हो जाता है इसकेलिए उनको 'प्रशान्तधीः' बताया, शान्त है बुद्धि जिसकी. प्रशान्त बुद्धि कैसी होती है इसे बाह्य दृष्टान्तसे बताते हैं 'प्रशान्तोर्मिरिवोदधिः' पूर्णरूपसे शान्त हो गई हैं तरंगे(लहरृ) जिसकी, ऐसे समुद्रकी तरह जिस तरह तरंगृासे रहित समुद्र चञ्चलतासे रहित होता है उसी तरह मुनिके चित्तकी सब वृत्तियां हो गईं ।।४४।।

आभास: इस तरह मुनि सब दोषृासे रहित हो गए तब उनमृ भगवान्की भक्ति हो गई :

वासुदेवे भगवति सर्वज्ञे प्रत्यगात्मनि।
परेण भक्तिभावेन लब्धात्मा मुक्तबन्धनः ।।४५।।

श्लोकार्थ: परम भक्ति भावके द्वारा सर्वान्तर्यामी सर्वज्ञ श्रीवासुदेवमृ चित्त स्थिर हो जानेसे वे सब बन्धनृासे मुक्त हो गए।।४५।।

व्याख्यार्थ: शुद्ध सत्त्वात्मक अन्तःकरणमृ षड्गुण सम्पन्न ज्ञानशक्ति युक्त भगवान्के प्रकट हो जाने पर शंका हो सकती है कि ज्ञान सहित भगवान्को तो परमहंस ही जान सकते हैं इसका उत्तर 'सर्वज्ञे'से दिया है. ये भगवान् सभीके जानने योग्य हैं. वह तो भगवान्का स्वरूप ही है उसे 'प्रत्यगात्मनि'से बताया है. अन्तर्मुखता मात्रमृ भगवान् ही उस तरहसे स्फूर्ति युक्त होगा अतः 'आत्मनि' ऐसा पद दिया 'पर'का अर्थ है माहात्म्यज्ञान पूर्वक स्नेहसे और 'भक्तिभावेन'का अर्थ है मानसिक भजन क्रियाके साथ परम आदरसे उस भगवान्मृ आत्मभावको प्राप्त हो गए. 'मुक्त बन्धनः' पद इसलिए दिया है कि बाहर निवर्त्तक जो बन्धन हैं वे सब वहांसे निवृत्त हो गए ।।४५।।

आभास: तब उन मुनिको जो ज्ञान हुआ उसका स्वरूप कहते हैं :

आत्मानं सर्वभूतेषु भगवन्तम् अवस्थितम्।
अपश्यत् सर्वभूतानि भगवत्यपि चाऽऽत्मनि ।।४६।।

श्लोकार्थ: सम्पूर्ण भूतृामृ(जड-चेतन आदिमृ) अपनी आत्मा भगवान्को और सम्पूर्ण भूतृाको आत्मस्वरूप श्रीहरिमृ स्थित देखने लगे।।४६।।

व्याख्यार्थ: भगवान् ही अपनी आत्मा है वह सब भूतृामृ(जड-चेतन आदिमृ) स्थित है. इस तरह सर्वत्र अपनी आत्माको भगवद्रूप देखा अथवा सब

भूतृको भगवद्रूप आत्मामृ देखा. जगत्के आधार और आधेयभूत अपने आत्मरूप भगवान्को साक्षात् कर लिया यह इसका अर्थ है ।।४६।।

आभास: इस तरह पूर्ण ज्ञान हो जाने पर जो फल हुआ उसे कहते हैं :

इच्छाद्वेषविहीनेन सर्वत्र समचेतसा।
भगवद्भक्तियुक्तेन प्राप्ता भागवती गतिः ।।४७।।

श्लोकार्थ: इस प्रकार इच्छा और द्वेषसे रहित सर्वत्र समबुद्धि और भगवद् भक्तिसे सम्पन्न हो श्रीकर्दमजीने भगवान्का परमपद प्राप्त कर लिया।।४७।।

व्याख्यार्थ: ब्रह्मरसका स्पर्श करनेवाला चित्त लौकिकसे तब ही निवृत्त होता है जब विषयामृसे इच्छा और द्वेष चले जाते हैं अर्थात् विषयामृकी इच्छा भी नहीं रहती और न उन विषयामृसे द्वेष होता है. सब जगह चित्त विषमताको ग्रहण नहीं करता चित्तमृ जब दोष होता है तभी विषयामृमें विषमताका ज्ञान होता है यदि चित्तमृ कोई दोष न हो तो एक ही विषयमृ क्रमसे राग और द्वेष नही होते. ब्रह्मरससे स्पष्ट चित्त सब जगह अर्थात् सबमृ ब्रह्म ही स्थित है इसलिए उनको समानरूपसे ग्रहण करता है इनमृ राग द्वेष या विषमताका भान ही नहीं होता. इससे उसकी ब्रह्मभावता कही गई. उस ब्रह्मभावके अनन्तर उनको मुख्य भक्ति प्राप्त हुई इसे 'भगवद् भक्ति युक्तेन'से कहा है ''मैं जितना हूं जैसा हूं'' इस प्रकारके ज्ञान सहित प्रेमलक्षणा भक्ति उत्पन्न हुई भगवत् शब्दके कथनसे विषय परिज्ञान ही है लक्षण जिसका, उस ज्ञानका भी ग्रहण होता है अर्थात् उन्हृ ज्ञान और भक्ति दोनृ ही प्राप्त हो गए. उनके होनेसे भगवत्सम्बन्धिनी गतिको प्राप्त हो गए. जिस गतिसे भगवान् जाते हैं उस गतिको प्राप्त किया अथवा भगवद्गतिका अर्थ ''भगवति गतिः भगवद्गतिः'' ऐसा करना भगवान्मृ गति भगवद्भाव अथवा सायुज्यको प्राप्त कर लिया ।।४७।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराणके तृतीय स्कन्धके २४ वृ अध्यायकी
श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्रीसुबोधिनी टीकाका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण.

अध्याय २५

श्रीकपिलदेवजी द्वारा देवहूतिजीको कहा हुआ भक्ति योग

उक्तश्चतुर्भिरध्यायैः सप्रसङ्गो हरेर्भवः।
ज्ञानरूपं चरित्रं तु नवभिः स्वस्य वर्ण्यते ।।का.१।।

कारिकार्थ : इक्कीससे चौबीस चार अध्यायमृ प्रसंग सहित भगवान्‌की उत्पत्ति कही गई. अब आगे नौ अध्यायमृ उनके(भगवान्‌के) ज्ञानरूप चरित्रका वर्णन किया जाता है।।१।।

प्रकाराः सगुणाः सर्वे नवाऽध्यायास्ततोऽत्र हि।
नवभावं गता साऽपि तदन्ते त्वभवो भवेत् ।।का.२।।

कारिकार्थ : वर्णन किये जानेवाले प्रकार सब सगुण हैं. अतः यहां नौ अध्याय हैं. भक्तिके नौ प्रकार हैं उस(नवधा भक्ति)के अनन्तर मुक्ति होती है।।२।।

भगवद्रूपनिष्पत्तौ भक्तिर्भूतानि सर्वथा।
मात्रास्तत्त्वानि सर्वाणि भुङ्क्ते सर्वं यतो हरिः।।का.३।।

कारिकार्थ : भगवान्‌का अवतार जब होता है तब भक्ति, पंचमहाभूत, तन्मात्रा, तत्त्व इन सबका सब प्रकारसे भगवान् उपभोग करते हैं।।३।।

आत्मा तस्येन्द्रियं प्रोक्तं येन सर्वं स पश्यति।
योग एव हरेर्बुद्धिः तस्मात् सर्वं प्रकाशते ।।का.४।।

कारिकार्थ : वे भगवान् सबको जिससे देखते हैं वह आत्मा उनकी इन्द्रिय कही गई है. योग ही भगवान्‌की बुद्धि है उसी योगरूपी बुद्धिसे सब ज्ञान होता है।।४।।

पञ्चविंशे तथाऽध्याये भक्तियोगो निरूप्यते।
वैतृष्ण्यं तस्य चाऽङ्गं हि इतरज्ञानमेव च ।।का.५।।

कारिकार्थ : पच्चीसवृ अध्यायमृ भक्तियोगका निरूपण है. उस भक्तियोगके वैराग्यका होना तथा आत्मज्ञान होना ये दो फलोपकारी अंग हैं. अर्थात् दो अंगोवाली भक्ति जो केवल भगवान् ही केलिए है, जो आधिदैविक संस्कार रूप है उसका यहां निरूपण किया जाता है।।५।।

परमं साधनं भक्तिः यथा भवति मुक्तये।

यथाशास्त्रस्य कथनं सन्तो भक्तेश्च साधकाः।।का.६।।

कारिकार्थ : जब भक्तियोगका विभाग हो गया तब इस अध्यायमृ धर्माध्यायता आ गई उसका वर्णन करते हैं. मुक्तिकेलिए भक्ति ही परमसाधन है उसका शास्त्रानुसार कथन इस अध्यायमृ है. सन्त ही भक्तिके धर्मसाधक हैं।।६।।

वंश एव मनोः पृष्टः तेन ज्ञानं न वर्णयेत्।

अतः शौनकसम्प्रश्नः चरित्रत्वं च बुध्यते।।का.७।।

कारिकार्थ : शौनकजीका प्रश्न मनुवंशके वर्णन करने मात्रका नहीं है यदि ऐसा होता तो ज्ञानका वर्णन नहीं होता. अतः यह ज्ञात होता है कि शौनकजीके प्रश्नमृ चरित्र विषयक प्रश्न भी है।।७।।

आभास : पूर्व(२४वृ) अध्यायमृ कपिलजीकी उत्पत्तिका निरूपण किया, परन्तु उनके ज्ञानरूप चरित्रका निरूपण नहीं किया इसलिए 'कपिलः तत्त्वसंख्याता' इत्यादि तीन श्लोकृसे शौनकजी ज्ञानरूप चरित्रके विषयमृ पूछते हैं :

शौनकः उवाच

कपिलस्तत्त्वसङ्ख्याता भगवान् स्वात्ममायया।

जात स्वयम् अजः साक्षाद् आत्मप्रज्ञप्तये नृणाम् ।।१।।

श्लोकार्थ : तत्त्वृकी संख्या करनेवाले भगवान् कपिल स्वयं अजन्मा हैं, किन्तु मनुष्यृको आत्मज्ञानका उपदेश देनेकेलिए अपनी मायासे उत्पन्न हुए थे।।१।।

चरित्रकथनप्रश्नः तत्राऽतृप्तिस्तथात्मनः।

सामान्यतोऽप्यतृप्तिश्च प्रकृतौ साधिका मता।।१।।

कारिकार्थ : सर्व प्रथम चरित्र कथनका प्रश्न किया उससे तृप्ति नहीं हुई, आत्मज्ञान विषयक प्रश्नसे भी सामान्यतः तृप्ति नहीं हुई यहां तो और भी अधिक उत्कण्ठा हो गई.

व्याख्यार्थ: तत्त्वृकी संख्या करनेवाले कपिलजीके चरित्रको पहले पूछते हैं. तत्त्वृके संदिग्ध होनेसे उन्हृ अन्य कोई कह नहीं सकता इसलिये कपिलजीको 'भगवान्' कहा है. ज्ञान भगवान्का गुण है. अतः विना भगवदवतारके वह(ज्ञान) प्रकट नहीं होता इसलिये सर्वभवन सामर्थ्यरूप अपनी मायासे भगवान् ही कपिल रूपसे प्रकट हुए यह 'साक्षात्' शब्दसे सूचित होता है. भगवान् स्वयं अजन्मा हैं

किन्तु लोग भगवान्‌को जब तक स्व–सजातीय नहीं जानते तब तक उन्हृ नहीं समझते. अतएव मनुष्याृको अच्छे प्रकारसे आत्माका ज्ञान करानेकेलिये स्वयं मनुष्यरूपसे प्रकट हुए. अतः जीवाृको आत्मज्ञान हो इसकेलिये भगवान् कपिलजीने सब कुछ किया है यह निश्चित है, वह आप हमृ सुनाईये ।।१।।

आभास : ऊपर कही गई बातको हेतु द्वारा सिद्ध करते हैं :

न ह्यस्य वर्ष्मणः पुंसां वरिम्णः सर्वयोगिनाम्।
विश्रुतौ श्रुतदेवस्य भूरि तृप्यन्ति मेऽसवः।।२।।

श्लोकार्थ : योगी प्रवर पुरुषश्रेष्ठ कपिलजीकी कीर्त्तिको निरन्तर सुनते रहने पर भी मुझे तृप्ति नहीं हो रही है।।२।।

व्याख्यार्थ: पुरुषाृमृ श्रेष्ठ, सब योगियाृके स्पृहणीय कपिलजीकी कीर्ति को निरन्तर सुनते रहने पर भी कपिलजीको 'श्रुतदेव' कहा है जिसका आशय यह है कि वे श्रुति(वेद)मृ प्रकाशमान हैं या वेदसे प्रकाशित हैं अथवा कीर्तिप्रिय किंवा कीर्तिगम्य हैं. मेरे प्राण(इन्द्रियां) पूर्णरूपसे तृप्त नहीं हुए हैं. अतः सामान्यरूपसे वर्णित चरित्रका विशेष रूपसे वर्णन करिये ।।२।।

आभास : सामान्य रूपसे पूरे भगवच्चरित्रको पूछते हैं :

यद्–यद्विधत्ते भगवान् स्वच्छन्दात्मात्ममायया।
तानि मे श्रद्दधानस्य कीर्तन्यान्यनुकीर्तय।।३।।

श्लोकार्थ : भगवान् भक्ताृकी इच्छाके अनुसार अपनी मायाके द्वारा जिन–जिन चरित्राृको करते हैं, उन्हृ आप मुझे सुनाइए, उनके सुननेमृ मेरी बडी श्रद्धा है।।३।।

व्याख्यार्थ: 'स्वच्छन्दात्मा'मृ 'स्व' शब्द भक्तवाचक है. अर्थात् भक्ताृ की इच्छाके अनुसार जिनकी आत्मा है, चरित्राृके करनेमृ आत्ममाया कारण है. ज्ञानरूप अथवा क्रियारूप चरित्राृका ही वर्णन करृ ऐसी कोई विशेष अपेक्षा नहीं है. किन्तु सभी प्रकारके भगवच्चरित्राृका वर्णन करृ इसको बतानेकेलिये 'यद् यत्' पद दिया है. उन सब चरित्राृको आप सब प्रकारसे कहृ. उनको सुनना मेरेलिये आवश्यक है क्याृकि मेरी उन चरित्राृको सुननेमृ श्रद्धा है. मेरी श्रद्धा भी आपकेलिये चरित्र वर्णनमृ कारण है।।३।।

आभास : जिस प्रकार शौनकने पूछा उसी प्रकार विदुरजीने भी पूछा था. इसको कहते हुए मैत्रेयजीके द्वारा इस चरित्रको कहलवाते हैं :

सूतः उवाच

द्वैपायनसखस्त्वेवं मैत्रेयो भगवांस्तथा।

प्राहेदं विदुरं प्रीत आन्वीक्षिक्यां प्रचोदितः ।।४।।

श्लोकार्थ : जिस प्रकार आपने प्रश्न किया है उसी तरह आत्मज्ञानके विषयमृ विदुरजीने प्रश्न किया था. तब प्रसन्न होकर व्यासजीके सखा भगवान् मैत्रेयजीने इस प्रकार कहा।।४।।

व्याख्यार्थः ''आन्वीक्षिकीके विषयमृ विदुरजीसे प्रेरित हो मैत्रेयजीने विदुरजीके प्रति कहा'' इस प्रकार यहां सम्बन्ध है. विदुरजीके प्रश्नका उत्तर देना मैत्रेयजीकेलिये आवश्यक इसलिये है कि मैत्रेयजीमृ तीन धर्म हैं: १.विदुरजीके पिताके मित्र हैं २.जगत्के मित्र हैं ३.भगवान् हैं. विदुरजी द्वैपायनजीके पुत्र हैं, प्राणी हैं और भक्त हैं. 'आन्वीक्षिकी'से आत्मविद्या ली गई है. कुछ लोग मननरूपा विद्याको आन्वीक्षिकी कहते हैं ।।४।।

आभास : मैत्रेयजी देवहूतिजी और कपिलजीके संवादको कहनेकेलिए कर्दमजीके चले जाने पर कपिलजी वहां ही रहे यह कहते हैं :

मैत्रेयः उवाच

पितरि प्रस्थितेऽरण्यं मातुः प्रियचिकीर्षया।

तस्मिन् बिन्दुसरेऽवात्सीद् भगवान् कपिलः किल ।।५।।

श्लोकार्थ : मैत्रेयजी कहते हैं कि पिताके वनमृ चले जाने पर कपिलजी माताको प्रसन्न करनेकी इच्छासे उसी बिन्दुसर पर रहने लगे।।५।।

व्याख्यार्थः महत् पुरुष घरमृ माता पिताकेलिये ही रहते हैं यह बतानेके लिये पिताके वनमृ चले जाने पर माताको प्रिय(प्रसन्न करनेकी इच्छासे (कपिलजी) बिन्दुसर पर रहने लगे ऐसा कहा. 'बिन्दुसर' पदमृ ''बिन्दुः सरसि यस्मिन् सः'' ऐसा बहुव्रीहि समास है. और समासान्तः 'डच्' प्रत्यय हुआ है. कपिलजी वहां केवल रहने ही लगे. उपदेश तो बिना जिज्ञासाके नहीं देना चाहिये इसलिये नहीं दिया. क्यृकि अन्नदान जैसे भूखेको ही दिया जाता है उसी तरह. कपिलजीको भावी अर्थका ज्ञान था इसीलिये उनको 'भगवान्' कहा. 'कपिल' पदसे यह सूचित होता है कि भावी अर्थका ज्ञान करानेकेलिये ही उनका अवतार है. भगवान् अपेक्षासे कहीं रहे यह अनुचित है यह 'किल' शब्दसे बताया, 'किल' शब्द प्रसिद्धि अर्थमृ है इससे स्वदोषका भी निवारण हो गया ।।१५।।

तम् आसीनम् अकर्माणं तत्त्वग्रामाग्रदर्शनम्।
स्वसुतं देवहूत्याह धातुः संस्मरती वचः।।६।।

श्लोकार्थ : तत्त्वमार्गके पारदर्शी कपिलजी जब शान्तिसे बैठे थे उस समय देवहूतिजीने ब्रह्माजीकी बातको याद करके उनसे कहा।।६।।

व्याख्यार्थ: अपने पतिके चले जानेका उत्कट शोक जब दूर हुआ तब देवहूतिजीने आसन पर बैठे हुए अपने पुत्रसे कहा इस प्रकार यहां सम्बंध है. ज्ञानोपदेशके समर्थनमृ ऐसी ही प्रसिद्धि है. उनमृ किसी प्रकारकी व्यग्रता नहीं थी उसकेलिये 'आसीनम्' ऐसा कहा. 'अकर्माणं' पदका तात्पर्य यह है कि वे तपोयोगादिरूप किसी भी कर्ममृ उस समय नहीं लगे थे. यदि वैसा होता तो उस समय प्रश्न नहीं होता. प्रश्नके विषयमृ उनका रूप योग्य था उसको 'तत्त्वगामाग्र-दर्शनं' पदसे बताया है. तत्त्वग्राम जहां पूर्ण होता है उसका जिन्हृ ज्ञान है. विश्वास, निर्भयता एवं दोषाभाव बतानेकेलिये 'स्वसुत' यह कहा. यद्यपि भर्ता(कर्दमजी)ने यह कहा था कि तुम्हारे गर्भसे भगवान्का जन्म होगा किन्तु पतिका ऐसा कहना आश्वासन भी हो सकता है इसलिये ब्रह्माजीकी कही हुई बातको यहां उसने प्रमाण माना यह 'धातुः संस्मरती वचः'से बताया है. ब्रह्माजी सबके पिता थे अतः उनकी कही हुई बातमृ किसी प्रमाणकी अपेक्षा नहीं होती है उन्हृने देवहूतिजीको स्पष्ट कहा था कि ''हे मनु पुत्रि! तुम्हारे गर्भमृ स्वयं भगवान्ने प्रवेश किया है''।।६।।

आभास : देवहूति अपनी प्रार्थनाको कहनेकेलिए स्वयंको प्रश्न करनेवाली तथा आपका अवतार उत्तर देनेकेलिए हुआ है इसका समर्थन करती हुई भगवानकी स्तुति तीन श्लोकृसे करती है. उसमृ भी पहले अपने वैराग्यको कहती है :

देवहूतिः उवाच
निर्विण्णा नितरां भूमन्! असदिन्द्रियतर्पणात्।
येन सम्भाव्यमानेन प्रविष्टाऽन्धं तमः प्रभो!।।७।।

श्लोकार्थ : देवहूति कहती है : हे भूमन्! हे प्रभो! इन दुष्ट इन्द्रियृको तृप्त करनेमृ मैं बहुत ही खिन्न हूं इनकी इच्छाऋको पूरी करनेके कारण अज्ञान रूप अन्धकारमृ पडी हूं।।७।।

व्याख्यार्थ: 'भूमन्!' ऐसा सम्बोधन देकर कपिलजीमृ सर्वसामर्थ्य सूचित किया. दुष्ट इन्द्रियृको तृप्त करनेमृ मैं दुःखी हो गई हूं. इन्द्रियृका उपयोग

स्वयंकेलिये नहीं करना चाहिये. भगवान् सर्वात्मा हैं इसलिये यदि भगवद्बुद्धिसे भी इनका पोषण किया जाय तो भी ये अपना गुण दिखाये बिना नहीं रहती क्यूंकि ये दुष्ट हैं. इन्द्रियां दुष्ट न हों तब भगवद्भजन होता है ऐसा सिद्धान्त है. अतएव असत्(दुष्ट) इन्द्रियूंसे अपरिचित भगवच्चरणसेवा न करे. भगवान्की अभिव्यक्ति न होने पर आश्रय धर्मोंमूं बलिष्ठता होती है. इसी हेतुसे कहती हैं कि ''असदिन्द्रिय तर्पणात् निर्विण्णा'' दुष्ट इन्द्रियूंको तृप्त करते-करते थक गई. निर्वेदमूं कारण इन्द्रियूंका अपराध है. यह 'येन सम्भाव्यमानेन' इससे बताती हैं. अर्थात् इन इन्द्रियूंको मैने निरन्तर आदरपूर्वक तृप्त किया. दुष्टूंका काम ही यह है कि पोषण करनेवालेका नाश करना. अतएव मैं महामोहमूं पड़ गई. जो किसीसे सताया जाता है वह दुःखी होकर स्वामीके पास जाकर पुकारता है. देवहूति भी इन इन्द्रियूंसे पीड़ित होकर कपिलजीको पुकारती हैं यह 'प्रभो!' इस सम्बोधनसे बताया है ।।७।।

आभास : आपका अवतार अज्ञानको दूर करनेकेलिए ही हुआ है यह कहती हैं :

तस्य त्वं तमसोऽन्धस्य दुष्पारस्याद्य पारगम् ।
यत् चक्षुर्जन्मनाम् अन्ते लब्धं मे त्वदनुग्रहात् ।।८।।

श्लोकार्थ : उस अपार अज्ञानान्धकारसे पार लगानेवाले आप ही हैं. आपको मैने आपकी कृपासे सुन्दर नेत्रूंके रूपमूं जन्मपरम्पराओंकी समाप्ति होनेके कारण ही प्राप्त किया है।।८।।

व्याख्यार्थ: इन्द्रियूंने जिसे अन्धा बना दिया है उस अज्ञानका, जो देश एवं कालसे भी परे है उसे, आप अलौकिक शक्तिसे दूर करते हैं. वे नेत्र अज्ञान रूपी अन्धकारको पार करते हैं वे नेत्र स्वयं आप ही हैं. उन नेत्रूं(आप)को मैने अनेक जन्मूंके अनन्तर प्राप्त किया है. उस नेत्र(आप)को प्राप्त करनेमूं भी मेरी सामर्थ्य नहीं है केवल आपकी ही कृपा है।।५।।

आभास : आप स्वयं भगवान् ही हैं इसे कहती हैं:

य आद्यो भगवान् पुंसाम् ईश्वरो वै भवान् किल ।
लोकस्य तमसोऽन्धस्य चक्षुः सूर्य इवोदितः ।।९।।

श्लोकार्थ : आप सब जीवूंके आदि पुरुष भगवान् हैं. आपका ही अज्ञानान्धकारसे अन्धे पुरुषूंकेलिए नेत्रस्वरूप सूर्यके रूपमूं अवतार हुआ

है।।९।।

व्याख्यार्थ: ब्रह्मा आदि जितने भी पुरुष हैं उन सबके कारण आप हैं. जो सबका कारण होता है वही ब्रह्म(भगवान्) होता है. आप कालादि रूप नहीं हैं किन्तु भगवान् हैं यह 'भगवान्' पदसे बताती हैं. यदि सबको उत्पन्न करने वाले ही हो तो उनमृ ब्रह्मता सिद्ध नहीं होती अतः कपिलजीको 'पुंसाम् ईश्वरो वै भवान्' कहकर उन्हृ नियामक-भी नियन्त्रण करने वाला भी बताया. और यह सर्वथा सत्य है इसकेलिये ऐसा कहा. और पालनकेलिये भी आपने अवतार लिया है इसीलिये अज्ञानरूप अन्धकारसे अन्धे लोगृकेलिये चक्षुरूप और सूर्यरूपमृ (आप) उदय हुवे हैं. अन्धकारसे अन्धा है उसकेलिये नेत्र प्रकाश हैं अथवा सूर्यरूप आप उसके प्रकाशक हैं. मेरेलिये भी आप चक्षु हैं और लोगृकेलिये भी आप चक्षु हैं ऐसा माननेसे पुनरुक्ति दोष नहीं होता. अथवा मेरेलिये आप चक्षुरूपमृ हैं और सब लोगृकेलिये सूर्यरूपमृ हैं ।।९।।

आभास : इस प्रकार भगवान्की स्तुति करके विज्ञापन करती हैं :

अथ मे देव सम्मोहम् अपाक्रष्टुं त्वम् अर्हसि।
योऽवग्रहोऽहं-ममेतीत्येतस्मिन् योजितस्त्वया ।।१०।।

श्लोकार्थ : हे देव! यह जो मैं और मेरेपनका दुराग्रह है यह भी आपहीका कराया हुआ है. अतः आप अब इस महामोहको दूर कीजिए।।१०।।

व्याख्यार्थ: हे देव! मोहनाशक मेरे मोहको दूर करनेमृ आप समर्थ हैं क्यृकि आप ही ने इस शरीरमृ अहंता-ममताका आग्रह कराया है अतः आपहीसे यह दूर किया जायेगा ।।१०।।

आभास : यदि ऐसी शंका हो कि मैं अहंता-ममता करा सकता हूं, दूर नहीं कर सकता तो इसकेलिए कहती हैं :

तं त्वा गताऽहं शरणं शरण्यं स्वभृत्यसंसारतरोः कुठारम्।
जिज्ञासयाऽहं प्रकृतेः पूरुषस्य नमामि सद्धर्मभृतां वरिष्ठम् ।।११।।

श्लोकार्थ : आप अपने भक्तृके संसाररूप वृक्षको काटनेकेलिए कुठार रूप हैं. मैं प्रकृति और पुरुष का ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छासे शरणागतवत्सल आपकी शरणमृ आई हूं. आप भगवद्धर्म जाननेवालृमृ सर्वश्रेष्ठ हैं. मैं आपको नमन करती हूं।।११।।

व्याख्यार्थ: शरणागतकी अहंता-ममताको तो दूर करनी ही चाहिये. उस

मोहके दूर करनेमृ समर्थ आपको मैने भाग्यसे प्राप्त किया है. अतएव मैं आपकी शरण आई हूं. आप शरण देनेमृ समर्थ हैं.

यथा विद्यासु या विद्या यस्य तत्रैव सा भवेत्।
शरणागतधर्मोऽपि शरण्ये सोऽपि कश्चन।
स्वस्वामी हरिरेवैकः शरण्य इति तद्वचः ।।का.१।।

कारिकार्थ : जिस प्रकार विद्याआमृ जो विद्या जिसकी होती है वह विद्या उसीमृ रहती है. इसी तरह किसी भी शरणागतका धर्म भी शरण्यमृ रहता है. अपना स्वामी एक हरि ही हमारा शरण्य(रक्षक) है ऐसा उनका कहना है।।१।।

व्याख्यार्थ : स्वभावसे ही भगवान् अपने सेवकृके संसारको दूर करते हैं, शरणागत भृत्यृके समान है इसलिए शरणागतृका संसार दूरीकरण स्वयं ही करृगे यह 'स्वभृत्यसंसारतरोः' से बताया है. यह संसार कल्पसे प्रारम्भ हो कर मोक्ष पर्यन्त बराबर रहता है. अथवा यह अनादि-सान्त है कर्म. अथवा कालसे नियत जो अन्त उससे रहित इस संसाररूप वृक्षकेलिए आप कुठार(कुल्हाडी)रूप हैं. जो कल्पसे आरम्भ होकर मोक्ष पर्यन्त रहता है एवं जो अनादि-सान्त है तथा जिसका कर्म तथा कालसे अन्त नहीं होता उस संसारमृ यदि भगवान् प्रविष्ट हो जाते हैं तब संसार नष्ट हो जाता है जैसे लकडीमृ जब कुठार प्रविष्ट होता है तो लकडी नष्ट हो जाती है. वह भगवान् भक्तृके ही संसारमृ प्रविष्ट होता है, पति-पुत्रादिरूपसे भक्तातिरिक्तके संसारमृ प्रविष्ट नहीं होता इसीलिए 'स्वभृत्य-संसारतरोः' कहा. भृत्य(दास) पोषणके योग्य होते हैं. काल अथवा कर्म उनका पोषण नहीं करता इसलिए संसारप्रवेश अद्भुत कर्मत्व होनेसे छेदक हो जाता है. 'तरोः' इस प्रकारका एकवचन यह सूचित करता है कि सभी भक्तृके भगवदीय होनेसे उनमृ भावाद्वैतादि धर्म होनेसे एक ही संसार है. यद्यपि भगवान् भक्तृके प्रयत्नके बिना ही अन्दर प्रवेश करके स्वयं ही संसारका नाश करते हैं. नमन करना यह प्रवेशनका प्रयत्न नहीं है किन्तु उत्कण्ठासे सर्व तत्त्वपरिज्ञानकेलिए यत्न किया जाता है इसे 'नमामि' यह पद प्रकट करता है. प्रकृति और पुरुष के ज्ञानकी इच्छासे गुरुरूपसे आपको मैं नमन करती हूं. माताका पुत्रको नमन करना अनुचित है किन्तु उपाधिभेदसे माताका नमस्कार करना भी दोषरहित है. जिस प्रकार मातासे देह उत्पन्न हुई है और पुष्ट हुई है उसी तरह ज्ञान अथवा गति जिससे उत्पन्न हो वह भले ही सेवक हो, पुत्र हो अथवा अन्य कोई हो वह नमस्करणीय

होता है, क्यूंकि ज्ञानदाता होनेसे उसकी उपाधि अन्य हो जाती है. प्रकृति-पुरुषका विवेक अवश्य करना चाहिए क्यूंकि पुरुष ही सेव्य है, प्रकृति सेव्य नहीं है इसका ज्ञान आवश्यक है. गुरुका लक्षण ''सद्धर्मभृतां वरिष्ठम्'' से कहती हैं. शम-दम आदि ब्रह्मधर्म सद्धर्म कहे जाते हैं. उनको वे धारण करते हैं. 'बिभ्रति' का तात्पर्य है शमादिक जिनमूं नियतरूपसे रहते हैं उनका पालन कदाचित् नहीं किया जाता है. जो शमादिको नियतरूपसे धारण करते हैं वे गुरु बननेके योग्य होते हैं. जो उनके भी गुरु हैं उनकेलिए तो कहना ही क्या।।११।।

आभास : इस प्रकार युक्तिपूर्वक माताके वचन सुनकर जितना पूछा उतना मात्र उसका स्वरूप कह देते तो उससे उसका ज्ञान नहीं हो सकता इसलिए पूरे शास्त्रूके अर्थको कहते हैं :

मैत्रेयः उवाच

इति स्वमातुर्निरवद्यम् ईप्सितं निशम्य पुंसाम् अपवर्गवर्द्धनम् ।
धियाऽभिनन्द्यात्मवतां सतां गतिः बभाष ईषत् स्मितशोभिताननः।।१२।।

श्लोकार्थ : मैत्रेयजी कहते हैं, इस प्रकार माता देवहूतिने अपनी पवित्र इच्छाको प्रकट की जो मनुष्यूके मोक्षमार्गमूं अनुराग उत्पन्न करनेवाली है उसे सुनकर आत्मज्ञानी सत्पुरुषूकी गतिका मन ही मन अभिनन्दन कर मुस्कराते हुए कपिलजी बोले।।१२।।

व्याख्यार्थ: देवहूति माता हैं अतः गुरुत्वरूपसे उसके वचनूका आदर करना चाहिये. प्रकृति-पुरुषका ज्ञान जो अत्यन्त पवित्र है उसीको वह चाहती हैं जो संसारातीत विषय है. जिसकेलिये कपिलजीने अवतार लिया वे दोनूं ही कार्य एकरूप ही हो गये इसलिये उन्हूंने संतोषके साथ 'पुंसाम् अपवर्गवर्द्धनम्' ऐसा कहा. यदि साधनके द्वारा कोई एक मुक्त होता है तो दूसरा भी उसे देखकर साधनमूं प्रवृत्त होता है. इससे मोक्षकी अभिवृद्धि होती है. यदि मुखसे प्रश्नका अभिनन्दन करते तो स्त्री होनेके कारण देवहूतिको अभिमान आ जाता इसलिये बुद्धिसे(मन ही मन) उसका अभिनन्दन किया. पूछने वालेके धर्मका विचार करके अभिनन्दन कर स्व(अपने) धर्मके विचारसे भी उसका निरूपण आवश्यक है यह 'आत्मवतां सतां गति'से प्रकट किया. जो श्रीकृष्णके सहित हो वे आत्मवान् होते हैं. जितेन्द्रिय होना यह आत्मवान्की बाह्य परीक्षा है, सज्जन आत्मवान् होते हैं. भगवद्धर्म एवं भगवद्धर्म वाले जो पूर्ण साधन वाले हैं उनके द्वारा जो प्राप्य है. इसी

हेतुसे यह फलरूप है, उस साधनके सिद्ध होने पर वह प्राप्त होने योग्य है इससे यह ज्ञात होता है कि स्वरूपदानमॄ उपायभूत साधन अवश्य कहॄगे. मन्द मुस्कानसे शोभित मुख होनेसे सन्तोष प्रकट होता है. प्रसन्न होकर जो कहा जाता है वह सफल होता है. मन्दहासमॄ भी मन्दता एवं अल्पमोहकता है. इसीलिये तो देवहूति इतना ज्ञान होते हुए भी कपिलजीको पुत्र ही समझती हैं ।।१२ ।।

आभास : सांख्यशास्त्रमॄ परित्याग नित्य है इसलिए उसे न कहकर अंग रूपसे उसे कहूंगा ऐसा विचार कर 'योगः आध्यात्मिकः' इत्यादि श्लोकॄसे योगके अनुसार शास्त्रार्थ कहते हैं :

पन्द्रह श्लोकॄका तात्पर्य साढे सात कारिकाओंमॄ कहते हैं.

योगः प्रशंसारूपेण प्रमाणेनाऽपि वर्ण्यते ।
चित्तालम्बनरूपो हि योगस्तत्र प्रतिष्ठितः ।।का.१।।
अन्तरात्मा स्वयं चित्तम् इन्द्रियाणि तथा तनुः ।
वेदे साङ्ख्ये च योगे च शैवे वैष्णव एव च ।।का.२।।
मूलरूपाणि शास्त्राणां नियमार्थं निरूपणात् ।
आत्मशेषो ह्यहङ्कारः स साङ्ख्ये विनिरूप्यते ।।का.३।।
एकीकृत्य मनश्चित्तं योगो ह्यत्र प्रवर्त्तते ।
ज्ञानक्रियारूपभेदात् शाास्त्रार्थे ज्ञानमुख्यता ।।का.४।।
अतश्चित्तं पुरस्कृत्य योगम् आह हरिः स्वयम् ।
चित्तस्य रूपभेदश्च यच्च रूपम् इहोचितम् ।।का.५।।
तादृशस्य फलं चाऽपि साधनानि बहूनि च ।
तत्राऽप्येकस्य निर्धारः तस्य साधनमेव च ।।का.६।।
तस्याऽपि विषयः प्रोक्तः चतुर्भिः षोडशात्मकः ।
तस्य साधनतारूपं तथात्वं मोक्षसाधने ।
बलिष्ठात्तु फलं सिध्येत् तस्माद् इति विनिर्णयः ।।का.७।।

कारिकार्थ : योगका प्रशंसारूपसे एवं प्रमाणसे भी वर्णन है. वह वर्णन दो श्लोकॄमॄ है. कपिलजीका अवतार सांख्य शास्त्रके वर्णन करनेकेलिए हुआ तो वे योगका उपदेश क्यॄ देते हैं? इस आशंकाका उत्तर यह है कि देवहूतिमॄ चित्तालम्बनरूप योग प्रतिष्ठित है. अर्थात् 'अथ मे देवसम्मोहम्' इत्यादि दो पद्यॄसे वह प्रतिष्ठाको प्राप्त हुआ है और अधिकारवशसे स्थिर है इसलिए

चित्तको मुख्य मानकर देवहूतिके अधिकारका विचार कर कपिलजीने योगका उपदेश दिया. यद्यपि माताके अधिकारके अनुसार योगका उपदेश कपिलजीने दिया परन्तु योग तो अनेक हैं उन्होने ये आध्यात्मिक योगका ही उपदेश क्यो दिया? इसमे क्या बीज है? इस आशंकाका उत्तर यह है कि कपिलजीका अवतार ही इसमे बीज है. इस उद्देश्य अंशको कहनेकेलिए सर्व प्रथम उपदेशके द्वारा जानने योग्य सर्व मोक्षशास्त्रसम्मत गुणको बताते हैं. अन्तरात्मा(अहंकार), स्वयं(जीव), चित्त, इन्द्रियां, शरीर इन गुणोका वेदमे, सांख्यमे, योगमे, शैव शास्त्रमे, वैष्णवशास्त्रोमे, मूलरूप(जानने योग्य)का शास्त्रोके नियमार्थ निरूपण है. अर्थात् वेद, सांख्य, योग, शैवशास्त्र, वैष्णवशास्त्र इन पांचो शास्त्रोका अपनी-अपनी रीतिसे नियमनकेलिए निरूपण है. इसलिए पूर्वोक्त ज्ञानकेलिए इनका ज्ञान आवश्यक है. सांख्यशास्त्रमे आत्मशेष बाधकरूपसे आत्मार्थ अहंकारका विशेषरूपसे नियम्यतासे निरूपण है. सांख्य और योग मे फलतः कोई भेद नहीं है अतः मन और चित्त को एक करके इस उपदेशमे निश्चय रूपसे योग प्रकर्ष रूपसे रहता है. इसका कारण यह है कि ज्ञानरूप और क्रियारूप इन दो भेदोमे विभक्त शास्त्रार्थमे ज्ञानकी मुख्यता है ज्ञानके होने पर अहंकारका निग्रह होता है और अहंकारका निग्रह चित्तनिग्रहके अधीन है. चित्तका निग्रह होता है योगसे. इसलिए आध्यात्म योगका उपदेश है. इस तरह योगोपदेशके तात्पर्यका निरूपण करके आगेके तेरह श्लोकोका तात्पर्य ''**चित्तस्य रूपभेदश्च**'' इत्यादि कारिकाओको बताते हैं. चित्तका रूप, भेद तथा जो रूप यहां उचित है उसका निरूपण एवं उसका फल, अनेक साधनोका निरूपण उन साधनोमे भी भक्तिरूप एक साधनका निर्धार(निश्चय) एवं भक्तिके संगरूप साधनका चार श्लोकोमे सोलह प्रकारसे वर्णन है उस संगका मोक्ष साधनमे साधनता प्रकारसे यत्नरूपसे उपयोग है. उसी बलिष्ठ हेतुसे फल सिद्ध होता है ऐसा निर्णय है।।१-७।।

आभास: आदिमे योगकी प्रशंसा दो श्लोकोमे कहते हैं उनमे पहले योगका स्वरूपसे उत्कर्ष कहते हैं:

श्रीभगवान् उवाच

योग आध्यात्मिकः पुंसां मतो निःश्रेयसाय मे।
अत्यन्तोपरतिर्यत्र दुःखस्य च सुखस्य च ।।१३।।

श्लोकार्थ: भगवान् कपिलने कहा, हे माता! आध्यात्मिक योग ही

मनुष्यॄकेलिए कल्याणकारी है ऐसा मैं मानता हूं. इसमॄ दुःख और सुख का अत्यन्त उपरम हो जाता है।।१३।।

व्याख्यार्थः योग अनेक प्रकारका है. भगवत्साक्षात्कारमॄ जिसका उपयोग होता है वह आधिदैविक योग है, आत्मसाक्षात्कारमॄ जिसका उपयोग हो वह आध्यात्मिक योग है. आधिभौतिक योग अणिमादि साधक, शरीर साधक, प्राण साधक भेदसे तीन प्रकारका है. पहला आधिदैविक योग भक्ति-ज्ञान शास्त्रका अङ्ग है, दूसरा आत्मकल्याणकारी माना है. जिन्हॊने प्रकृतिसे भिन्न स्वरूपको जान लिया है वे ही लोग लब्धविषय आध्यात्मिक योगके अधिकारी हैं. वह आध्यात्मिक योग ही उनकेलिये फल साधक है. इसीलिये यह आध्यात्मिक योग उनकेलिये कल्याणकारी माना गया है. आध्यात्मिक योग कल्याणकारी है इसमॄ हेतु है 'अत्यन्तोपरतिः' जिस योगमॄ दुःख एवं सुख की अत्यन्त निवृत्ति हो जाती है जिससे वे फिर कभी उत्पन्न नहीं होते. 'च'कारका तात्पर्य है कि दुःख-सुख जिन साधनॊसे उत्पन्न होते हैं उनकी भी उत्पत्ति नहीं होती अर्थात् आत्मासे अतिरिक्त सबकी निवृत्ति हो जाती है ।।१३।।

आभास : अन्य सब लोगॊको छोडकर उसी आध्यात्मिक योगको मैं तेरे लिए कहूंगा यह कहते हैं :

तम् इमं ते प्रवक्ष्यामि यम् अवोचं पुराऽनघे।
ऋषीणां श्रोतुकामानां योगम् उर्वङ्गनैपुणम् ।।१४।।

श्लोकार्थ : हे अनघे! अनेक अंगोसे युक्त जिस योगको मैने पहले जिनकी सुननेकी इच्छा थी उनको कहा था उसी योगको तुम्हॄ सुनाता हूं।।१४।।

व्याख्यार्थः जिस योगको मैंने कहा ऐसा कहनेसे इस योगकी अनादिता सिद्ध होती है. 'अनघे!' सम्बोधन निष्पाप लोगॊको ही यह फलप्रद होता है इसको समझानेकेलिये है. 'ऋषीणां' ऐसा कहनेका तात्पर्य है कि ऋषियॊको ही इसमॄ विश्वास होता है. उनको भी यह अपेक्षित है यह 'श्रोतुकामानां'से बताया है. अनेक अङ्गॊसे निपुणता जहां होती है तभी यह स्थिर होता है ।।१४।।

आभास : जब भगवान्की इच्छासे अथवा अज्ञानसे संसार होता है तो वहां योगसे क्या होगा ऐसी आशंकामॄ 'चित्ताधीनः संसारः' इस शास्त्रार्थका निरूपण करते हैं. चित्तकी वृत्तियॊका निरोध ही योग है 'योगाश्चित्तवृत्ति निरोधः'. यदि संसार चित्त मूलक ही हो तब योगका निरूपण युक्त है अन्यथा नहीं इसलिए

चित्तबन्ध तथा मोक्षका कारण है ऐसा निरूपण करते हैं :

चेतः खल्वस्य बन्धाय मुक्तये चात्मनो मतम् ।
गुणेषु सक्तं बन्धाय रतं वा पुंसि मुक्तये ।।१५।।

श्लोकार्थ : इस जीवके बन्ध और मोक्ष का कारण चित्त है. विषयामृ जब चित्त आसक्त होता है तो वह बन्धनका कारण बनता है एवं भगवान्मृ जब आसक्त होता है तब मुक्तिका कारण बन जाता है।।१५।।

व्याख्यार्थ: सर्व लोकप्रसिद्ध अनुभवको प्रमाणित करनेकेलिये 'खलु' शब्द है. इस एक ही के बन्ध और मुक्ति केलिये अपना ही चित्त कारण है. 'गुणेषु सक्तम्' आदिसे उसके रूपभेद कहते हैं. गुणृ अर्थात् विषयृ मृ आसक्ति या अनुराग बन्धन केलिये होता है. भगवान्मृ आसक्ति या अनुराग मुक्ति केलिये होता है. स्वभावसे एकरूप कारण रति, आसक्तिरूप धर्मोंके विषयभेदसे बन्ध-मोक्षको करते हैं. यहां शंका होती है कि लोकमृ रति एवं आसक्ति दोनृका एक ही अर्थ है, यहां इन दोनृको अलग बतानेका प्रयोजन क्या है? अतः इनका स्वरूप निम्न लिखित कारिकासे बताते हैं ।।१५ ।।

चित्तस्वभाव आसक्तिः यस्त्यक्तुं नैव शक्यते ।
स्नेहो रतिरिति प्रोक्तः संस्काराच्छास्त्रतश्च सः ।।१।।।।१५।।

कारिकार्थ : आसक्ति चित्तका स्वभाव है जिसे चित्त कभी नहीं छोड सकता. रतिका अर्थ है स्नेह, वह उसका स्वभाव नहीं है, वह स्नेह तो संस्कारसे या शास्त्रसे होता है।।१।।

आभास : लोकमृ विषय अनुभवसे ही सिद्ध है इसलिए उसे सिद्ध न कर 'अहं मम' इन तीन श्लोकृसे आत्मामृ शुद्धिका अधिक अनुभव सिद्ध करते हैं. जिस प्रकारका मन आत्माको ग्रहण करता है मनको उस तरहका बनानेकेलिए साधन कहते हैं :

अहं-ममाभिमानोत्थैः कामलोभादिभिर्मलैः ।
वीतं यदा मनः शुद्धम् अदुःखम् असुखं समम् ।।१६।।

श्लोकार्थ : जब यह मन अहंता-ममतासे उत्पन्न होनेवाले काम-लोभादि विकारृसे रहित एवं शुद्ध हो जाता है तब उस मनमृ सुख-दुःखकी स्फूर्ति नहीं होती, वह सम अवस्थामृ आ जाता है।।१६।।

व्याख्यार्थ: निर्मल मन ही आत्माको ग्रहण करता है. मनके मल हैं: काम

लोभ आदि. देह आदिमृ अहंता–ममताके अभिमानसे ही ये काम–लोभादि मल होते हैं. इन मलृसे रहित जब मन होता है इससे साधनृकी आवृत्ति सूचित होती है. उन साधनृको आगे कहृगे. ''लिङ्गं व्यपोहेत् कुशलोऽहमाख्यम्''(५।५।१३) यह फल है. ''हंसे गुरो''(५।५।१०) इत्यादि साधन हैं. ''असंकल्पाद् जयेत् कामम्''(६।१५।२२) इत्यादि उपाय भी आगे कहृगे. इन उपायृके द्वारा जब मल नष्ट होते हैं तब उनसे रहित मन शुद्ध होता है. शुद्ध मनकी पहचान है 'अदुःखम् असुखम्' अर्थात् उस मनमृ विषयजन्य सुख–दुःखृकी स्फूति नहीं होती. वह कैसे होती है? इस शंकाका समाधान करते हैं 'समम्'. जब विषयगत विषमताको मन ग्रहण नहीं करता, सर्वत्र ब्रह्मभावना होती है, तो उसके द्वारा मन सम हो जाता है. जब सम हो जाता है तो सुख–दुःखको ग्रहण नहीं करता ।।१६ ।।

आभास : ऐसे ही(सम) मनसे आत्माको देखता है यह कहते हैं :

तदा पुरुष आत्मानं केवलं प्रकृतेः परम् ।
निरन्तरं स्वयंज्योतिः अणिमानम् अखण्डितम् ।।१७।।

श्लोकार्थ : पुरुष तब प्रकृत्तिसे परे केवल आत्माको भेद शून्य, स्वयं प्रकाश, अतिसूक्ष्म, अखण्ड देखता है।।१७।।

व्याख्यार्थ: जब मन सम हो जाता है तब केवल आत्माका साक्षात्कार होता है, अन्य समयमृ संघातसे प्रतिष्ठ आत्मा प्रतीत होती है. 'केवल'का अर्थ है संघातसे निर्मुक्त. 'प्रकृति' शब्दका अर्थ यहां स्वभाव है. प्राकृतृमृ जब आत्मा प्रसक्त होती है तब आत्मा प्रकृति स्वभाव हो जाती है. प्रकृति–स्वभाव व आत्माका जब नियन्ता होता है तब स्वभाव जीता जाता है, ऐसा न होता तो पहले श्लोकमृ आत्माका केवलत्व वर्णित हो चुका तब पुनः इस श्लोकमृ उसका निरूण पुनरुक्ति दोष दूषित होगा. नियामक होने पर तो प्रकृति परत्व होगा. भगवान्के साथ निरन्तर आत्मा तब होती है जब जीव व ब्रह्म एक हो जाते हैं. यह एकता सायुज्यसे नहीं होती किन्तु ब्रह्मभावसे होती है. अतएव 'स्वयं ज्योतिः' ऐसा कहा है. अर्थात् जीव स्वयं ही स्वप्रकाश हो गया है. अणिमा कहते हैं अति सूक्ष्मको. प्रतीतिके समय अहङ्क आरादिके साथ उसकी स्फूर्त्ति नहीं होती इसीलिये उसे सूक्ष्म कहते हैं. जैसे विरलता(निर्लिप्तता)के कारण आकाशको सूक्ष्म कहते हैं आकाशकी सूक्ष्मता अणुपरिमाणसे नहीं. 'अखण्डितम्'का आशय यह है कि सर्वत्र देवता, पशु–पक्षी, मनुष्य आदिका वह आत्मभूत होता है, किसी भी

अंशसे खण्डित नहीं होता अर्थात् आत्माको सर्वात्मक देखता है ।।१७।।

आभास : इस प्रकारके आत्मसाक्षात्कारमृ केवलकी शुद्धि ही कारण नहीं है किन्तु तीन कारण और भी हैं यह कहते हैं :

ज्ञानवैराग्ययुक्तेन भक्तियुक्तेन चात्मना ।
परिपश्यत्युदासीनं प्रकृतिं च हतौजसम् ।।१८।।

श्लोकार्थ : ज्ञान वैराग्य और भक्ति युक्त मनसे आत्माको प्रकृतिसे पर उदासीन देखता है और प्रकृत्तिको शक्ति रहित देखता है।।१८।।

व्याख्यार्थ: ज्ञान और वैराग्य भक्तिके अङ्गभूत हैं, वे दोनृ फलोपकारी अङ्ग हैं, भक्तिजनक नहीं हैं. भक्ति भी योगरूपा है. साधनरूपसे निरन्तर क्रियमाणा(की जाती है). 'च' इसलिये कहा गया है कि भक्तिके अन्य साधनृसे युक्त आत्मासे. 'आत्मा'से यहां मन लिया गया है. अर्थात् आत्माके साथ एकताको प्राप्त हुए मनसे, जो विषयृको अभिलाषासे आत्मासे अलग नहीं होता उस मनसे, आत्माको यथावत् देखता है. ज्ञान होने पर प्रकृतिको प्रेरित करनेकी सामर्थ्य हो जाती है तब महाभोग उत्पन्न होते हैं. अतएव प्रकृतिज्ञानके अनन्तर आत्मज्ञान सम्भव है. उसका निषेध उस 'उदासीनम्'से करते हैं. प्रकृतिका तो किंचिन्मात्र भी बल नहीं रहता. इसकेलिये 'हतौजसं प्रकृतिं पश्यति' जिसका बल नष्ट हो चुका है ऐसी प्रकृतिको देखता है. प्रकृति केवल वासना मात्रसे ही रहती है ।।१८।।

आभास : इस प्रकार परिकर आत्मज्ञानका उपपादन(निरूपण) करके उसे आत्मज्ञानमृ चित्तकी रति अथवा आसक्ति यदि हो तब वह मनकी मुक्तिका कारण होता है यह कह दिया परन्तु यह आत्मज्ञान परम्परासे अथवा साक्षात् बहुसाधनसाध्य है ऐसा विचार करके एक ही साधन जो सर्वसाधनरूप है और सर्वफल साधक हैं जिसका करना भी सरल है उसका निरूपण करते हैं :

न युज्यमानया भक्त्या भगवत्यखिलात्मनि ।
सदृशोऽस्ति शिवः पन्था योगिनां ब्रह्मसिद्धये ।।१९।।

श्लोकार्थ : सर्वात्मा भगवान्मृ की गई भक्तिके समान योगियृकेलिए भक्ति प्राप्तिका कल्याणकारी कोई मार्ग नहीं हैं।।१९।।

व्याख्यार्थ: भगवद्विषयक भक्तिके समान कोई मार्ग नहीं है. सिद्धान्तान्तर होनेसे भगवन्मार्गके साथ विरोध होगा. जो योगाभ्यासमृ लगे हैं और

साधनकी अपेक्षा रखते हैं उनकी ब्रह्मसिद्धिकेलिये भक्ति ही साधन है. कुछ लोगॄका ऐसा कहना है कि चिद्रूप नारायणको सर्वात्मक भावसे जाननेके अनन्तर भगवद्भक्ति की जाती है. अन्य लोग ऐसा कहते हैं कि भगवान्की भक्ति सर्वदा करने योग्य है. स्पर्धा, असूया आदि न हो इसीलिये ब्रह्मज्ञान प्राप्त करके भक्ति करनी चाहिये. यहां, 'भगवान्'से ब्रह्म अथवा सत्वमूर्त्ति लिया गया है. ब्रह्म सिद्धिका अर्थ ब्रह्म प्राप्ति है ।।१९।।

आभास : उस भक्तिका कारण कहते हैं :

प्रसङ्गम् अजरं पाशम् आत्मनः कवयो विदुः ।
स एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारम् अपावृतम् ।।२०।।

श्लोकार्थ : ज्ञानीजन 'संग'को आत्माका कभी न खुलनेवाला बन्धन जानते हैं. यदि वही 'संग' सन्तोंके साथ हो तो मोक्षका खुला द्वार बन जाता है ।।२०।।

व्याख्यार्थ: यह भक्ति, त्यागके द्वारा नहीं होती, किन्तु चित्तकी तरह सङ्ग जब विषयभेदसे भिन्न-भिन्न होता है तब भक्तिको उत्पन्न करता है. प्रसंगको चित्तके तुल्य कहा है. 'अजरम्'का अर्थ है कभी जीर्ण नहीं होने वाला. 'पाश' कहते हैं बन्धन को. यह सङ्गरूप बन्धन देहादिका नहीं है किन्तु आत्माका है. अत्यधिक आसक्तिको 'प्रसंग' कहते हैं. 'कवयो विदुः' समझदार लोग प्रसंगको अच्छेद्य बन्धन जानते हैं. ऐसा कहनेसे इस कथनसे प्रामाणिकता भी आ गई. यदि वही प्रसंग आसक्ति साधुसन्तॄके साथ की जाये तो मोक्षका द्वार खुल जाता है. जिस तरह भगवान्मॄ स्नेह मुक्तिका कारण होता है उसी तरह सत्संग मोक्षका द्वार है. जैसे ज्ञानादिमॄ सहज सङ्गादि किवांड़रूप है, उन किवांड़ॄको खोलने पर ज्ञानादिके द्वारा मोक्ष होता है वैसे ही सत्सङ्गमॄ सहज कोई संसर्ग दोष नहीं है यह 'अपावृतम्'से बताया है ।।२०।।

आभास : सज्जनॄके लक्षणको कहते हैं :

तितिक्षवः कारुणिकाः सुहृदः सर्वदेहिनाम् ।
अजातशत्रवः शान्ताः साधवः साधुभूषणाः ।।२१।।

श्लोकार्थ : जो सहनशील, दयालु सब प्राणियॄके अकारण हितैषी, किसीसे शत्रुता न रखनेवाले शान्त, वे सज्जनॄके भूषण साधु होतॄ हैं।।२१।।

सन्तः षोडशधर्मा वै धर्मास्ते त्रिविधा मताः ।

भौतिकादिविभेदेन एकस्तु सहजः स्मृतः ।।का.१।।
उपयोगी तथा चैको भौतिकास्त्रय एव हि ।
आध्यात्मिकास्तु चत्वारः सप्त चैवाधिदैविकाः ।।का.२।।
पञ्चधा चेद् गुणा न स्युः सर्वेषां सिद्धयो न हि ।
भौतिकानाम् अभावे तु लौकिकास्ते न संशयः ।।का.३।।
अलौकिका हि ते सेव्या निर्दुष्टास्तदनन्तरैः ।
सप्तभिस्ते महात्मानः तदभावे न तैः फलम् ।।का.४।।

कारिकार्थ : संत सोलह धर्मवाले होते हैं. वे धर्म भौतिक आदि भेदसे तीन प्रकारके होते हैं. शंका होती है कि गुणोंके भौतिकादि भेदसे तीन प्रकार या नौ प्रकार होते हैं, सोलह भेद कैसे होंगे ? इसीलिए उनके भेद 'एकस्तु' इत्यादि कारिकासे बताते हैं. एक भेद तो सर्वसंग विवर्जितरूप है जिसे धर्मोंके कहनेके बाद स्मरण करके कहा. इसी तरह दूसरा भेद है 'उपयोगी' अर्थात् इस प्रकरणमें संगदोषको दूर करना उपयुक्त है उसे भी बादमें याद करके कहा है. भौतिक भेद तीन ही हैं, आध्यात्मिक तो चार हैं, आधिदेविक सात हैं. इस तरह सब मिलाकर सोलह भेद हो जाते हैं. पांच प्रकारके गुण यदि नहीं हो तो सबकी सिद्धि नहीं होती. भौतिक आदिका अभाव हो तो वे सन्त निःसन्देह लौकिक कहे जाएंगे. अलौकिक सन्त ही सेव्य और दोषरहित होते हैं, अजातशत्रुत्वादि चार धर्मोंसे संख्यत्व होता है अतः चार प्रकारके धर्मवाले आध्यात्मिक एवं सात प्रकारके धर्मवाले आधिदैविक धर्मवाले महात्मा हैं. उक्त धर्म जिनमें नहीं है उनकी सेवासे कोई फल नहीं।।१-४।।

व्याख्यार्थ: सबसे पहले भौतिक तीन गुणोंको कहते हैं. सब प्राणियोंके अपराधको सह लेते हैं इसलिये उन्हें 'तितिक्षु' कहते हैं. केवल अपराधको ही सहन करलें ऐसा नहीं किन्तु अपराध करने वालोंके ऊपर भी दया करते हैं और उनके दुःखको दूर करनेका प्रयत्न करते हैं इसलिये उन्हें 'कारुणिक' कहा है. और जो अपराधियों एवं निरपराधियोंके मित्र हैं, सदा उनका हित करते हैं तथा हितकी भावना करते हैं इसलिये वे 'सुहृद' हैं. 'सर्वदेहिनां' पदका सम्बन्ध तीनोंके साथ है. अर्थात् सभी देहधारियोंके अपराधोंको सहन करते हैं, उनके ऊपर दया करते हैं और उनके हितैषी हैं. लोकमें मित्र, देवता और गायें सुहृद होती हैं किन्तु वे सबके दुःखोंको दूर करनेका प्रयत्न नहीं करतीं. लौकिक दयालु किसी कारणसे अथवा

करुणासे दयालु होते हैं परन्तु दुःख दूर होनेके अनन्तर उनके हितकी भावना नहीं करते. परन्तु माता-पिता अपने बालकॄके अपराधको सहन करते हैं वे कारुणिक अथवा सर्वसुहृद नहीं होते इसलिये तीनॄ धर्मोंसे युक्त तो अलौकिक ही होते हैं. जो इस प्रकारके सन्त होते हैं उनमॄ सब प्रकारके दोषॄका अभाव होता है इसलिये उन्हॄ 'अजातशत्रु' कहते हैं. तितिक्षु आदि तीनॄ गुण विपरीतरूप हों तो वे काम-क्रोध-लोभात्मक दोष हो जाते हैं. इनमॄ क्रोध प्रकट-अप्रकट धर्मादि भेदसे अनेक प्रकारका है. स्वक्रोध स्वरूपसे अथवा साधनरूपसे परक्रोधमॄ जब निमित्त बन जाता है तब वह शत्रु हो जाता है. और उसका भी क्रोध अपने क्रोधका कारण हो जाय तो एकदूसरेके शत्रु हो जाते हैं. वे अनेक प्रकारके क्रोध बादमॄ राग आदिको उत्पन्न करनेवाले धर्मोंसे बाधित हो जाय तो निवृत्त हो जाता है. 'अजातशत्रु'का अर्थ है जिनके शत्रु उत्पन्न ही नहीं हुए हों. जिनके दोष दूर हो चुके हैं इसलिये उनके जन्मान्तरीय शत्रुओॄकी उत्पत्ति नहीं हुई तथा इस जन्ममॄ तो शत्रु उनके कोई होते ही नहीं, इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि उनके पूर्वके अनेक जन्मॄमॄ भी उनमॄ क्रोध नहीं रहा. कामादि राजस दोष भी उनमॄ नहीं हैं इसलिये उन्हॄ 'शान्त' कहा है. लय-विक्षेपसे रहित चित्तकी अवस्था शान्ति है. उस चित्तकी अवस्थाके साथ स्वभावसे ही जो अभेदको प्राप्त हो जाते हैं वे शान्त कहे जाते हैं. ऐसी स्थिति भी अनेक जन्मॄके साधनॄसे ही होती है. इस प्रकार अन्तःकरण और जीव मॄ दोषका अभाव निरूपित हुआ. यहां 'जीव' पदसे जीवलिङ्गभूत अहङ्कार मानना चाहिये. दैहिक दोषका भी उनमॄ अभाव है यह 'साधवः'से ज्ञात होता है. अच्छे आचरण वाले ही साधु होते हैं. सदाचार उसे ही कहते हैं जो अच्छा आचरण आत्माको तथा परको पीड़ाजनक न हो. अखेदनरूप क्रियाके कर्मभूत जो आत्मा एवं पर है उनके स्वरूपको स्पष्ट करते हैं. आत्मा तो अन्तःकरण जीवात्मक आत्मा है, शरीर आत्मा तो वेदमय है, 'पर' भी इसी प्रकार है. सब प्रकारसे जिनके आचरणसे किसीका कोई भी अपकार न हो वह सदाचार होता है. सदाचार धर्मसे और देह स्वभावसे एकताको प्राप्त साधु होते हैं. वैसा धर्म जिनके अलङ्कारमॄ कारण होता है लोकमॄ उसीसे प्रतिष्ठा होती है. इससे उनका सारा परिवार उनके साधुरूप हो जाता है ।।२१।।

आभास : इस प्रकार सब दोषॄका परिहार कहके उन सन्तॄमॄ सर्वपुरुषार्थ साधकता है इसकी सिद्धिकेलिए अपनेमॄ आधिदैविक गुणॄको कहते हैं :

मय्यनन्येन भावेन भक्तिं कुर्वन्ति ये दृढाम् ।
मत्कृते त्यक्तकर्माणः त्यक्तस्वजनबान्धवाः ।।२२।।

श्लोकार्थ : जो अनन्यभावसे मेरेमें दृढ भक्ति करते हैं. मेरेलिए सब कर्मोंका तथा अपने कुटुम्बियोंका एवं स्वजनोंका जिन्होंने त्याग किया है।।२२।।

व्याख्यार्थ: भक्ति आगे कही जायेगी, सब इन्द्रियोंकी मनके साथ अहमहमिकासे(होडसे) भगवत्कार्य तत्परताको अनन्यता कहते हैं. इन्द्रियां भी निर्दुष्ट और सगुण होनी चाहिये. अनन्यभाव उसे कहते हैं कि वैसा दूसरेमें न हो. भाव कहते हैं अन्तःकरणके धर्मको जिसका दूसरा नाम अभिप्राय भी है. जो सबका कारण है वही अन्तःकरण धर्म अथवा अभिप्राय भक्तिको उत्पन्न करता है तथा भावान्तरसे भी वह भक्तिको उत्पन्न करता है. वह भावान्तर फलविषयक ही होता है. अथवा भावान्तर सहित होता है. वह भाव देवतान्तर विषयक, पदार्थान्तर विषयक अथवा मार्गान्तरविषयक होता है. उसके सहभावका यहां निषेध है और फलाभावका भी निषेध है. इसलिये अन्य मार्गोंसे विचलित न हो ऐसी भक्ति ही दृढ कही जाती है. जिस भक्तिमें प्रमाणादि चार प्रकारकी बाधा नहीं है वह दृढ़ है. उसकेलिये ही पूर्वसिद्ध पदार्थोंका त्याग करना चाहिये. वे पदार्थ हैं: लौकिक एवं वैदिक. उसीकेलिये कहते हैं 'मत्कृते त्यक्तकर्माणः'. मेरेलिये ही अर्थात् भगवत्कार्यार्थ ही सब कर्मोंका जिनने त्याग किया है. क्योंकि निरन्तर भगवत्स्मरण करनेमें अथवा सेवा करनेमें सब कर्म बाधक हैं. ज्ञानपूर्वक भी उनका सेवन किया जाय तो भी वे कर्म अनन्य भावके प्रतिबन्धक हैं. 'मत्कृते'का आशय यह है कि आलस्य आदिसे उन कर्मोंका परित्याग नहीं है. किन्तु मेरे कारण उनका परित्याग है. 'त्यक्तस्वजनबान्धवाः'में स्वजनसे लौकिक स्त्री–पुत्र लिये गये हैं और 'बान्धव' शब्दसे दूसरे सजातीय लिये गये हैं. ये दोनों ही त्यागके योग्य हैं. स्वजन बान्धवोंके रहने पर भी उनमें स्वजनबंधुत्व नहीं रहता. अर्थात् जब भगवान्में दृढभक्ति होनेके कारण जिनमें साधुता होती है तो उन्हें स्वजन और बन्धुओंका परित्याग नहीं करना पड़ता वे तो स्वयं छूट जाते हैं. परित्यागरूप एक ही साधन लौकिक एवं वैदिक भेदसे दो प्रकारका गिना गया है. अथवा लौकिकोंके परित्यागकी असमर्थता बतानेकेलिये कहा है ।।२२।।

आभास : इस प्रकार रूपासक्तिमें तीन गुण कहे. नाममें तीन गुण कहते हैं :

मदाश्रयाः कथामृष्टाः शृण्वन्ति कथयन्ति च ।
तपन्ति विविधास्तापा नैतान् मद्गतचेतसः ।।२३।।

श्लोकार्थ : मुख्यरूपसे मेरी कथाओंको सुनते हैं तथा कहते हैं और मेरेमें ही चित्तको लगाए रहते हैं उन्हें अनेक प्रकारके कोई कष्ट नहीं पहुंचाते।।२३।।

भगवद्गतचित्तेन ये श्रुता भगवद्गुणाः ।
ये वा सङ्कीर्तिता नित्यं यावत् ते रसतां ययुः ।
तावत् त्यक्तैस्तदीयैश्च बाधा भवति सर्वथा ।।का.१।।
विविधा अपि ते तापाः सोढव्यास्तापसत्वतः ।
बलात् कृत्वा तपस्यन्ते ततः प्राप्ताः स्वतो वराः ।।का.२।।
भजनापेक्षया ते वै भगवत्प्रीतिहेतवः ।
दुःखेषु भगवांश्चाऽपि नित्यं साक्षात्क्रियेत वै ।
देहादिविषयान् त्यक्त्वा चित्तं तद्गतमेव यत् ।।का.३।।

कारिकार्थ : (शंका करते हैं कि जो भगवान्की कथा सुनते हैं और जिनमें तितिक्षा आदि धर्म रहते हैं उनमें तापकी सम्भावना ही नहीं होती तो फिर उनकेलिए ऐसा कहना कि उन्हें विविध ताप पीडा नहीं पहुंचाते यह कैसे संगत होगा? इस शंकाका उत्तर देते हैं.) भगवान्में ही जिनका चित्त लगा है ऐसे भगवद्भक्त सर्वदा भगवान्के जिन गुणोंको सुना है अथवा जिन गुणोंका कीर्तन किया है वे गुण जब तक रसताको प्राप्त नहीं होते तब तक परित्यक्त स्वजन बान्धवोंसे सब प्रकारसे बाधा होती है. वे विविध ताप सहन करने चाहिए. अर्थात् वे ताप जब सहने ही हैं तो दुःख नहीं होगा. भजनकी अपेक्षासे प्राप्त वे ताप निश्चित रूपसे भगवान्की प्रीतिमें कारण बनते हैं. दुःखोंमें सदा भगवान्का साक्षात्कार होता है. देहादि विषयोंको छोडकर चित्त भगवन्मय हो जाता है।।१-३।।

व्याख्यार्थ: 'मदाश्रयाः'का अर्थ है कि जो कथा मुख्यरूपसे भगवत्परक हो, न कि प्रसंगसे भगवद्विषयक हो. जो कथा उज्ज्वल निर्दोषपूर्ण हो उसे 'मृष्टा' कहते हैं. अथवा भक्तोंके द्वारा भाववर्णनसे उज्ज्वल की गई को ही 'मृष्टा' कहते हैं ।।२३।।

आभास : इस प्रकार उन साधुओंके लक्षण कहकर इस प्रकारके साधुओंमें ही साधुत्व कहते हैं:

त एते साधवः साध्वि! सर्वसङ्गविवर्जिताः।
सङ्गस्तेष्वथ ते प्रार्थ्यः सङ्गदोषहरा हि ते ।।२४।।

श्लोकार्थ : हे साध्वि! सर्व संगका परित्याग करनेवाले ही साधु होते हैं. उनके संगकी तुम्हृ इच्छा रखनी चाहिए क्यृकि वे संगके सब दोषृको दूर करनेवाले होते हैं।।२४।।

व्याख्यार्थ: जो कोई स्वभावसे साधु होते हैं वे भगवान्के निकट ही होते हैं इसलिये 'एते' ऐसा कहा है. वे ही साधु प्रसिद्ध हैं इसको 'ते' पदसे बताया है. 'साध्वि!' संबोधन स्वयं तुमको भी इसका विश्वास है यह बतानेकेलिये दिया है. शंका करते हैं कि यदि वैसे साधु बहुत हों तो जगत् अमुक्त कैसे रहा? इसका उत्तर देते हैं. 'सर्वसङ्ग विवार्जिता:'. लौकिक पुरुष स्वतः उनको नहीं जानते क्यृकि ऐसे साधुआृको किसीसे कोई अपेक्षा नहीं है. उनको किसी प्रकारसे कोई संशय ही नहीं है अतः लौकिक पुरुष उन साधुआृका संग नहीं करते इसलिये मुक्त नहीं होते. तो फिर उनके निरूपणसे क्या लाभ? इसका उत्तर देते हैं कि उनका सङ्ग तुम्हृ करना चाहिये. यद्यपि सङ्गका तो परित्याग करना चाहिये किन्तु वह तुमसे हो नहीं सकता अतः संग जनित दोषको दूर करने वाला और संगत्यागजनित गुणका जनक कोई अपेक्षित है. ऐसा न होता तो संगत्यागका कारण क्या है? अन्य शास्त्रृमृ भी संगत्यागके अनुकल्पमृ सत्संगका निरूपण किया है. ब्रह्मवैवर्त पुराणमृ मदालसाके उपाख्यानमृ कहा है कि ''सङ्ग सब प्रकारसे छोड़ देना चाहिये वह यदि छोड़ा न जा सके तो सज्जनृका ही संग करना चाहिये. सन्त ही संगकी औषधि है'' ''**सङ्गः सर्वात्मना त्याज्य स चेत् त्यक्तुं न शक्यते. स एव सत्सु कर्त्तव्यः सन्तः सङ्गस्य भेषजम्**''. इस तरह सत्संग दोनृ कार्योंको सिद्ध करता है. उन साधुआृंसे भी तुम्हारा सङ्ग होना कठिन है इसलिये तुम्हृ उनके सङ्गकी प्रार्थना करनी चाहिये. वह प्रार्थना भी संगदोषको दूर करेगी. साधुआृमृ संगदोषको दूर करनेका सहज धर्म है यह 'संगदोषहराः'से बताया है. सङ्ग कामको उत्पन्न करने वाला है. सङ्गसे ही कामादि दोष उत्पन्न होते हैं, उन सब दोषृको सन्त दूर करते हैं यह 'हि' पदसे बताया है. 'ते'का यह आशय है कि उनमृ सङ्गदोष दूर करनेकी शक्ति है तथा वे भगवदीय सङ्गदोष दूर करनेमृ प्रसिद्ध हैं ।।२४।।

आभास : सन्तृका निरूपण भक्तिके साधकरूपसे किया है. वे भक्तिके साधक कैसे हैं ऐसी शंका करके उसका प्रकार तीन श्लोकृसे बताते हैं:

सतां प्रसङ्गाद् मम वीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः ।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि श्रद्धा रतिर्भक्तिर् अनुक्रमिष्यति ।।२५।।

श्लोकार्थ : सज्जनोंके समागमसे ही मेरे पराक्रमोंका ज्ञान करानेवाली हृदय एवं कानोंको प्रिय लगनेवाली कथाएं होती हैं. उनके सेवन करनेसे शीघ्र ही मोक्षमार्गमें श्रद्धा, प्रेम और भक्ति अनुक्रमसे विकसित होती है।।२५।।

भक्त्या पुमान् जातविराग ऐन्द्रियाद् दृष्टश्रुताद् मद्रचनाऽनुचिन्तया ।
चित्तस्य यत्तो ग्रहणे योगयुक्तो यतिष्यते ऋजुभिर्योगमार्गैः ।।२६।।

श्लोकार्थ : मेरी सृष्टिका अनुचिन्तन करनेसे प्राप्त भक्ति द्वारा जब मनुष्य लौकिक और पारलौकिक सुखोंसे विरक्त हो जाता है तब योगसे युक्त मनुष्य सरल योग मार्गमें मनको निग्रह करनेका यत्न करेगा।।२६।।

व्याख्यार्थ: सज्जनोंसे सम्बन्ध रखने वाला जो उत्कृष्ट(उत्तम) सङ्ग उसीके कारण मेरे वीर्य पराक्रमको बताने वाली कथा होती है. उन कथाओंका प्रीतिपूर्वक सेवन करनेसे क्रमशः सर्वप्रथम श्रद्धा, तदनन्तर रति और रतिके बाद भक्ति होती है. निरन्तर वैराग्यसे मेरी स्मृति होती है, तदनन्तर योगमें प्रवृत्ति होती है. इस प्रकार परित्याग, ज्ञान, वैराग्य, योग, भक्ति जो विद्याकी अङ्गभूत हैं उनसे भगवत्स्वरूपकी प्राप्ति होती है यह ससाधन फल है.

यहां शंका होती है कि पहले सज्जनोंके सङ्गसे सुनी गई कथाओंसे उत्पन्न भक्तिका फल भगवदवरोध है तो भक्ति भगवदवरोधका ही कारण होगी वैराग्यका कारण कैसे होगी ? इसका समाधान करते हैं कि साधनसाधिका भक्तिका भी यहां निरूपण है अतः कोई विरोध नहीं है. अर्थात् भक्ति असहायशूर है(बिना किसीकी सहायतासे कार्य करना) इसको बतानेकेलिये ऐसे कहा है. इसलिये निम्न श्रेणीमें उसका प्रवेश न होनेसे भक्तिशास्त्रका विरोध नहीं है. 'सतां' यह बहुवचन सत्वमें प्रमाण है. सज्जनोंका सङ्ग सज्जनोंसे होता है. जब पहला सज्जन होता है तभी दूसरेका सज्जन होना संगत होता है. उनका प्रकृष्ट सङ्ग सजातीय ही होता है. अथवा जिनका एक ही मत हो एवं एक ही स्वभाव हो, उन्हींका प्रकृष्ट संग होता है. 'प्रसंग' पदसे यह सूचित करते हैं कि उनमें एकका दुसरेके साथ प्रकृष्ट सङ्ग हो एवं अन्यसे प्रासंगिक संग हो. सांसारिक लोगोंका संग होने पर एवं अन्य कथाओंके कथनका प्रसंग उपस्थित होने पर भी उनके द्वारा भगवत् कथा ही होती है यह भी इससे जताया है. यद्यपि भगवत्कथाएं सब जगह होती हैं परन्तु वे

भगवान्‌के पराक्रमका वर्णन करनेवाली नहीं होती, उनके मुखसे भगवान्‌की लौकिक सामर्थ्यका वर्णन होता है. सज्जनॄके प्रसङ्गसे तो भगवान्‌के पराक्रमका प्रतिपादन करनेवाली कथाएं होती है. सज्जनॄके द्वारा ही भगवान्‌के पराक्रम जाने जाते हैं. जो लोग स्वाभाविक कथाआॄको निरन्तर सुनते हैं तो उन कथाआॄका संस्कार ही हृदयमॄ जम जाता है तथा कान भी वैसे ही हो जाते हैं. इसलिये वे कान एवं वैसा हृदय भगवत्कथाको ग्रहण नहीं करता. जो प्राणी हिमालयमॄ रहते हैं वे धूपको ग्रहण नहीं कर सकते और जब वे दूसरे देशमॄ चले जाते हैं तब वे धूपको चाहने वाले हो जाते हैं. जिस देशमॄ जैसा द्रव्य(पृथिवी–जल– तेज आदि) होता है उसके अनुसार ही वहांके निवासियॊंका स्वभाव हो जाता है. उसी तरह भगवत्कथासे भी हृदय और कानॊंके पूर्वस्वभावका उपमर्दन हो जाने पर रसको उत्पन्न करने वाली हो जाती है. पहले तो सुनने पर हृदयमॄ रसको उत्पन्न करती है और बार–बार सुनने पर कानॊंमॄ रस उत्पन्न करती है. जैसे कामाभिनिविष्ट (कामी)के नेत्र कामिनीके रसमॄ आविष्ट हो जाते हैं तो वे हठात् हटाये जाने पर भी नहीं हटते, सदा उन(नेत्रॊं)को कामिनीको देखनेकी ही इच्छा होती रहती है. इसी तरह यह कथा भी रसोत्पादक होनेसे भावित करती है. अर्थात् निरन्तर सुननेकी इच्छा उत्पन्न होती है. इसीलिये उन कथाआॄका निरन्तर प्रेमसे श्रवण होता है. सुननेकी आवृत्ति होने पर कथाआॄमॄ प्रीति उत्पन्न होती है. ऐसी प्रीति होने पर मन लोकसे विरक्त होकर निष्पाप हो जाता है जिससे मनका सन्मार्गमॄ आग्रह हो जाता है. तब शीघ्र ही सर्वलोकनिवृत्तिरूप आत्मामॄ अथवा 'मोक्ष'नामक भगवान्‌मॄ यद्वा भगवन्मार्गमॄ प्रथम आस्तिक्य बुद्धि होती है. तब रति अर्थात् स्नेह होता है. अर्थात् सर्वथा मेरेलिये यह ही प्राप्त करने योग्य है, तब आगे कही जाने वाली भक्ति होती है.

विषयॊंका त्याग करने पर भी वे वासनासे हृदयमॄ स्थित रहते हैं इसलिये विषयॊंका राग जब हृदयसे हट जाता है तब विषय हृदयसे हटते हैं. भगवद् विषयक स्नेहसे होने वाली सेवासे या फलरूपताको प्राप्त हुई सेवासे यद्‌वा जिस सेवामॄ भगवान्‌के अतिरिक्त किसीका स्मरण ही न हो ऐसी सेवासे विषयॊंमॄ होने वाला अनुराग निवृत्त हो जाता है तभी वह जातविराग होता है. विषयॊंका सम्बन्ध इन्द्रियॊंसे है, आत्मा तक उनकी पहुंच नहीं है इसीलिये 'ऐन्द्रियात्' यह हेतु है. विषयॊंका सम्बन्ध इन्द्रियॊंसे है इसमॄ प्रमाण बताते हुए विषयॊंका भेद भी 'दृष्टात्

श्रुतात्' इनसे बताते हैं. लोकमृ प्रत्यक्ष दीखने वाले राज्य आदि दृष्ट हैं. प्रत्यक्ष नहीं है केवल सुने जाते हैं ऐसे स्वर्गादि श्रुत हैं. भगवद्भक्तिकी अनुवृत्तिकेलिये साधन बताया है 'मदर्चनानुचिन्तया'. भगवान्के द्वारा की गई कृतिको रचना कहते हैं. यहां 'रचना' शब्दसे अलौकिक निर्माण कहा गया है. उस अलौकिक भगवच्चरित्रके सुननेसे भक्ति स्थिर होती है तब चित्त(मन)को काबूमृ करनेका यत्न होता है. चित्त चञ्चल स्वभाववाला है, वह स्वतः कभी स्थिर नहीं रहता. चित्त सबका प्रेरक है. उपेक्षा करने पर वह कभी काबूमृ नहीं आता. अतः सावधान होकर चित्तको काबूमृ करनेकेलिये योग युक्त होता है. चित्तकी वृत्तियृाके निरोधको योग कहते हैं. अर्थात् योगसे चित्तकी वृत्तिका निरोध करना चाहिये, यही निश्चित अर्थ इसका है. हठ योगमृ अनेक प्रकारके कष्ट सहने पड़ते हैं इसलिये उस योगमार्गको यहां न लेकर 'ऋजुभिः योगमार्गैः' कहा. अर्थात् क्लेशरहित भगवद्ध्यानरूप सरल योगमार्गोंसे अथवा अचिन्तन दशामृ प्राणायाम आदिरूप योगमार्गोंसे चित्तको ग्रहण करनेका यत्न करता है. भक्ति जब सिद्ध हो जाती है तो अन्य सब सुलभ हो जाते हैं. इसीलिये मोक्षमृ भक्ति ही पांचवीं विद्या है ।।२५-२६।।

आभास : इस प्रकार साधनके सहित शास्त्रका अर्थ कहकर साधन परम्पराका निरूपण करते हुए फल कथनसे उसका उपसंहार करते हैं :

असेवयाऽयं प्रकृतेर्गुणानां ज्ञानेन वैराग्यविजृम्भितेन ।
योगेन मय्यर्पितया च भक्त्या मां प्रत्यगात्मानम् इहाऽवरुन्धे ।।२७।।

श्लोकार्थ : इस प्रकार प्रकृतिके गुणृाका त्याग करनेसे वैराग्यसे युक्त ज्ञानसे, योगसे और मेरेलिए की गई दृढ भक्तिसे पूर्वोक्त अधिकारी अन्तरात्मरूप मुझको इसी जन्ममृ प्राप्त कर लेता है।।२७।।

व्याख्यार्थ: यह पूर्वोक्त अधिकारी मुझ अन्तरात्माको इसी देह(जन्म)मृ ब्रह्माण्ड भेदन आादि न करके शीघ्र ही मुक्तिको प्राप्त कर लेता है. पूर्वोक्त अधिकारी सर्वतः प्रथम बन्धन करनेवाले प्राकृत विषयृाका अनुभव नहीं करता है, तब विषयृाके अभिनिवेश(आग्रह)के प्रभावसे अन्तर्मुख चित्त आत्माको ग्रहण कर लेता है. तब ज्ञान हो जाता है. और आत्मकाम हो जाता है. तब विषयगत राग निवृत्त होता है. उससे फिर ज्ञान उल्लसित होता है. ये तीनृा ही एक है. योग स्वतन्त्र है और चित्तकी चञ्चलताको दूर करनेमृ कारण है. मेरी दृढ भक्ति

विषयाृको वशमृ करती है. विषयाृसे आत्माको छुड़ाती है अर्थात् अलग करती है. भक्तिसे भगवान्को वशमृ करके लक्ष्यकी तरह स्थापित कर उसमृ सब प्रकारको जानकर जीवको संघातसे लक्ष्य तथा प्राप्त करने योग्य जानकर उसे योगारूढ बनाकर लक्ष्यमृ लगाना उचित ही है. इसलिये विषयभेदसे पांचाृका उपयोग है. माताका अभिप्राय है, प्राप्यरूपमृ ही हूं. तुम्हृ तो मैं प्राप्त ही हूं इसलिये तुम्हारेलिये तो केवल शास्त्रार्थ ही ज्ञापन किया है यह भी माताको सम्बोधित किया. बाहर प्रवेशकी आशंकाको दूर करनेकेलिये 'प्रत्यगात्मानम्' कहा. अर्थात् अन्तर्मुखतासे स्फुरित तथा आत्मासे अभिन्न ।।२७।।

आभास : यहां पहले भजन मात्रको ही भक्ति कहा, विशेषरूपसे नहीं कहा इसलिए विशेषरूपसे भक्तिको पूछती हैं:

देवहूतिः उवाच

काचित् त्वय्युचिता भक्तिः कीदृशी मम गोचरा।
यया पदं ते निर्वाणम् अञ्जसैवाऽश्नवा अहम् ।।२८।।

श्लोकार्थ : देवहूतिजीने कहा, आपकी समुचित भक्तिका स्वरूप क्या है? और मेरेलिए कैसी भक्ति उचित है जिस भक्तिसे मैं सहजमृ ही निर्वाण पदको प्राप्त कर सकूं?।।२८।।

व्याख्यार्थ: आराध्यत्वेन ज्ञानको 'श्रद्धा' कहते हैं और माहात्म्यज्ञान पूर्वक स्नेहको 'सेवा' कहते हैं. इन्हींमृसे आपमृ किस प्रकारके योगको 'भक्ति' शब्दसे कहा जाता है यह प्रश्न है. यद्यपि क्रमसे श्रद्धा रति भक्ति वैराग्य –ये चारृ ही युक्त हैं तथापि जो साक्षात् आपको प्राप्त कराती है उसे आप कहृ, यह 'त्वयि' इसकी सप्तमीसे सूचित हुआ.

भक्तियोग भी अनेक प्रकारका है इसलिये जीवके अधिकार सामने न रखकर तुम्हारे योग्य भक्ति कौनसी है यह प्रश्न है. 'उचिता' इस पदसे अविहित भक्तिका निषेध किया है. 'कीदृशी'का अर्थ है कि वह भक्ति सगुण है अथवा निर्गुण है? उनमृ भी मेरे योग्य भक्ति कैसी है? इसे 'मम गोचरा'से बताया है. 'गोचर' शब्द विशेष्य पर आधारित भी है अर्थात् गोचर शब्द यहां भक्तिका विशेषण होनेसे विशेष्यके अनुसार इसमृ स्त्रीलिंग हो गया है. आप ही ने सब मार्ग चलाये हैं और आप सर्वरूप हैं इसलिये सब भक्तिमार्ग यद्यपि आपमृ युक्त हैं तथापि जिस भक्तिसे निर्वाणरूप आपके चरणारविन्दको सहज ही प्राप्त कर सकूं

ऐसी भक्ति कौनसी है? 'अश्नवै' की जगह 'अश्नवान् 'ऐसा भी पाठ है. देव गतिसे सभी मार्ग कभी सुगम हो जाते हैं इस आशंकाको दूर करनेकेलिये 'एवं' पद दिया है. अर्थात् जो कदाचित् सुगम नहीं किन्तु सर्वदा ही सुगम हो. 'निर्वाण' नामका पद व्यापिवैकुण्ठ है. सब प्रकारके अधिकारासे हीन पुरुषको भी जो भक्ति व्यापि वैकुण्ठमा ले जाय और वहां गया हुआ पुरुष उस लोकमा रहने वालाके साथ आनन्दका अनुभव करनेमा समर्थ हो ऐसी भक्ति आप कहा ।।२८।।

आभास : योगको पूछती हैं :

यो योगो भगवद्बाणो निर्वाणात्मंस्त्वयोदितः।

कीदृशः कति चाऽङ्गानि यतस्तत्त्वावबोधनम्।।२९।।

श्लोकार्थ : निर्वाणस्वरूप प्रभो! जिसके द्वारा तत्त्वज्ञान होता है और लक्ष्यको वेधनेवाले बाणके समान भगवान्की प्राप्ति करनेवाला है वह आपका कहा हुआ योग कैसा है और उसके कितने अंग है।।२९।।

व्याख्यार्थ: भगवद्रूप लक्ष्यमा आत्माको योजित करनेकेलिये जो योग बाणरूप है उसे भी आप कहा. भगवान् सब जगह ले जाय इसमा भक्ति कारण है, और अपने आप जानेकी सामर्थ्य हो इसमा कारण योग है. 'त्वयोदित'से सत्ताईसवा श्लोकमा 'योग'के द्वारा सद्योमुक्तिको प्राप्त करता है यह कहा था उस योगका स्वरूप तथा उसके अङ्ग आप कहा, क्याकि शास्त्रमा अनेक प्रकारके योगाका निरूपण है इसलिये आपने जिस योगका उपदेश दिया है उसीके स्वरूप एवं अङ्गा का निरूपण करा. यहां यह शंका होती है कि स्वतन्त्र रूपसे योग निर्वाण पदको प्राप्त नहीं करता और प्रश्न भी भक्तिका है तो यहां योगकी चर्चा क्या की? इसका उत्तर देते हैं कि 'यतस्तत्त्वावबोधनम्'. अर्थात् योग ज्ञानका साधन है. यहां चार अर्थ पूछे गये हैं १.भक्ति २.योग योगका स्वरूप और उनके ३.अङ्ग. फल साधक रूपसे उसका अङ्ग सांख्य और ४.ज्ञान योगाङ्गमा मिलकर एक तथा अन्य तीन हैं ।।२९।।

आभास : यह सब आपको कहना है ऐसा निरूपण कर उपसंहारकी आवश्यकता केलिए कहती हैं :

तदेतद् मे विजानीहि यथाहं मन्दधीर्हरे।

सुखं बुद्ध्येय दुर्बोधं योषा भवदनुग्रहात्।।३०।।

श्लोकार्थ : हे हरे ! यह सब आप मुझे इस प्रकार समझाइये जिससे कि

आपकी कृपासे मैं मन्दमति स्त्री भी दुर्बोध विषयको सहज ही जान सकूं।।३०।।

व्याख्यार्थ: शास्त्रप्रसिद्ध एवं अनुभवमृ आ सके ऐसे प्रकारसे कहिये. 'विजानीहि'का अर्थ है समझाइये. समझानेमृ आपको अधिक प्रयत्न करना होगा इसकेलिये अपना निकृष्ट अधिकार बताती हैं 'अहं मन्दधीः'. अन्य कारण यह भी है कि भगवान्का स्वरूप सभीकेलिये दुर्बोध है. 'भगवदनुग्रहाद् बुध्येय' यह इसलिये कहा कि भगवत्सम्बन्धी अथवा पूर्वोक्त ज्ञान सरलतासे जिस प्रकार मैं जान सकूं, कहने मात्रसे उसका ज्ञान नहीं होगा किन्तु आपकी कृपासे ही वह ज्ञान प्राप्त हो सकेगा इसलिये उक्त पद दिया है ।।३०।।

आभास : यद्यपि माताने गूढरूपसे चारॄका निर्देश किया था परन्तु उन्हॄ जानकर उनका निरूपण करते हैं :

मैत्रेयः उवाच

विदित्वाऽर्थं कपिलो मातुरित्थं जातस्नेहो यत्र तन्वाऽभिजातः।
तत्त्वाम्नायं यत् प्रवदन्ति साङ्ख्यं प्रावोचद् वै भक्तिवितानयोगम् ।।३१।।

श्लोकार्थ : मैत्रेयजीने कहा, हे विदुरजी! जिसके शरीरसे उन्हॄने जन्म लिया था उस अपनी माताका ऐसा अभिप्राय जानकर कपिलजीके हृदयमृ स्नेह उत्पन्न हो गया और उन्हॄने तत्त्वॄका निरूपण करनेवाले शास्त्रका, जिसे सांख्य कहते हैं, उपदेश किया एवं भक्ति विस्तार तथा योग का भी वर्णन किया।।३१।।

योगो भक्तिः क्रियारूपा ज्ञानं साङ्ख्यं च वेदनम्।
तेषां यत्रोपयोगः स्यात् तदग्रे वक्ष्यते स्फुटम्।।१।।

कारिकार्थ : योग, क्रियारूप(सेवारूप) भक्ति, ज्ञान और सांख्यज्ञान इनका जहां उपयोग होता है वह सब आगे स्पष्ट कहा जाएगा।।१।।

व्याख्यार्थ: आप कपिल हैं, इसलिये इन सबको जाननेकी आपकी सामर्थ्य है. 'मातुः' पद इसलिये है कि उक्त प्रश्नॄका उत्तर देना कपिलजीकेलिये आवश्यक है. अर्थात् शेष प्रश्नॄका उत्तर देना आवश्यक होता है. 'जातस्नेहः'का तात्पर्य है कि जब अधिक स्नेह होता है तो गुप्त बातॄ भी कही जाती हैं. जिस मातासे कपिलदेहसे आपने जन्म लिया यही अधिक स्नेहका कारण है. जो कहॄगे उन्हॄ गिनाते हैं 'तत्त्वाम्नायम्' तत्त्वॄकी जिसमृ आवृत्ति है उद्देश्य-लक्षण भेदसे, कारणरूपसे, कार्यमृ अनुप्रवेशसे अनेक प्रकारसे आवृत्ति है उसकी लोकमृ 'साङ्ख्य' नामसे प्रसिद्धि है. उसमृ प्रमाण बतानेकेलिये 'वदन्ति' पद दिया. भक्ति

वितान और योग तथा 'प्रावोचत्'मृ आये हुए 'प्र' शब्दसे ज्ञान इस तरह इन चारृको कहा ।।३१।।

आभास : इन चारृका जो प्रयोजन है वह बताते हैं–

विवेचनं तु सङ्घातात् साङ्ख्यकार्यं प्रचक्षते ।
विविक्तस्य तु विज्ञानं ज्ञानकार्यं निरूपितम् ।
भक्त्या प्रसन्ने तु हरौ तं योगेनैव योजयेत् ।।२।।

कारिकार्थ : संघातसे विवेचन करना यह सांख्यका कार्य है. संघातसे अलग जो आत्मा है उसको जानना यह ज्ञानका कार्य है. भक्तिसे जब भगवान् प्रसन्न होते हैं तब उस आत्माको योगके द्वारा योजित करे. इस सांख्य, ज्ञान, भक्ति और योग इन चारृका प्रयोजन बताया।।२– १/२।।

आभास : 'देवानां' इत्यादि दो श्लोकृसे भक्तिका लक्षण बताते हैं :

श्रीभगवान् उवाच

देवानां गुणलिङ्गानाम् आनुश्रविककर्मणाम् ।
सत्व एवैक–मनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या ।।३२।।
अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी ।
जरयत्याशु या कोशं निगीर्णम् अनलो यथा ।।३३।।

श्लोकार्थ : भगवान्ने कहा, माता! जिसका चित्त भगवान्मृ ही लग गया है ऐसे मनुष्यकी वेदविहित कर्मोमृ लगी हुई तथा विषयृका ज्ञान करानेवाली इन्द्रियृकी जो सत्त्वमूर्ति श्रीहरिके प्रति स्वाभाविकी वृत्ति है वही भगवान्की अहैतुकी भक्ति है. वह मुक्तिसे भी बढकर है क्यृकि जठराग्नि(पेटकी अग्नि) जिस प्रकार खाये हुए अन्नको पचाती है उसी प्रकार यह भक्ति कर्मजनित लिंग शरीरको तत्काल भस्म कर देती है।।३२–३३।।

व्याख्यार्थ: उस सांख्यका सारा परिकर ग्यारह श्लोकृसे आगे कहा जायेगा. एकाग्र मनवाले पुरुषकी सब इन्द्रियृकी सत्त्वमूर्त्ति भगवान्मृ जो स्वाभाविक वृत्ति है वह भक्ति कही जाती है. ऐसे स्वभावसे ही इन्द्रियां दो प्रकारकी हैं: एक देवरूप और एक आसुररूप है जो ''द्वया ह प्राजापत्याः'' मन्त्रके अनुसार यहां निरूपित है. जो इन्द्रियां अलौकिक वेदोक्त ही कर्म एवं ज्ञान को उत्पन्न करती हैं वे देवरूप इन्द्रियां हैं और जो लौकिक कर्मादिको उत्पन्न करती हैं वे आसुरी इन्द्रियां हैं. इन दोनृ प्रकारकी इन्द्रियृमृ आपसमृ स्पर्धा(होड) रहती है.

जब आसुरी इन्द्रियां बलवान् होती हैं तब देवरूप इन्द्रियां अपने कार्यमॄ प्रवृत्त नहीं हो सकती. वे ही इन्द्रियां जब आसन्य(प्राण)की उपासना आदिसे आसङ्गादि दोषसे निवृत्त हो जाती हैं तब वे अपने देवभावको प्राप्त हो जाती हैं. तब कार्यसे भी वे देवरूप होती हैं. अनेक जन्मॊंके अभ्याससे ऋषियॊंकी और इन्द्रादि देवताओंकी इन्द्रियां देवरूप ही होती हैं. अथवा जो दैवीसंपत्तिमॄ उत्पन्न हुए हैं उनकी इन्द्रियां देवरूप भी होती हैं और आसुररूप भी होती हैं. एक ही गोलकमॄ दोनॊं ही रहते हैं. जो इन्द्रियां निषिद्धसे ग्लानि करती हैं अर्थात् जिस तरह अपवित्र वस्तुको देखकर ग्लानि करती हैं, उसी तरह कामिनीको देखकर भी ग्लानि करती हैं. और जो इन्द्रियां निषिद्धमॄ अथवा लौकिकमॄ अनुराग करती हैं उन्हॄ वे हठात् विहित कर्ममॄ प्रवृत्त होती हुई भी ठीक तरहसे पुष्ट नहीं होती हैं इसलिये वे इन्द्रियां आसुर हो जाती हैं. उनमॄ भी भक्ति दैव इन्द्रियॊंसे होती है, आसुर इन्द्रियॊंसे नहीं होती. इसलिये 'देव' पदसे निर्मित इन्द्रियां ली गई हैं. 'गुणलिङ्गानाम्' इस पदसे उनको समझानेकेलिये उनका लक्षण कहते हैं. गुण जो रूपादि हैं वे जिनके द्वारा जाने जाते हैं. गुण हैं चिह्न जिनॊंका, देवरूप इन्द्रियॊंका. यह लक्षण है कि वे लय-विक्षेपसे रहित होती हैं. अतः विक्षेपके अभावसे उनकी कार्योंमॄ प्रवृत्ति नहीं होनेसे उनकी स्पष्ट उपलब्धि नहीं होती है. लयका अभाव होनेसे मूढ़ इन्द्रियां पदार्थोंको भी ग्रहण नहीं करती हैं किन्तु चक्षु रूपमात्रका ग्रहण करती है अर्थात् देखती है, इसलिये आंख है ऐसा जाना जाता है. इसी तरह अन्य वैसी इन्द्रियां कैसे हॊंगी? इस आकांक्षामॄ कहते हैं कि 'आनुश्रविककर्मणाम्' गुरुके उच्चारणके अनन्तर जो सुना जाता है उसे 'अनुश्रव' कहते हैं. अर्थात् अनुश्रव हुआ वेद, इस वेदके द्वारा कहे गये कर्म आनुश्रविक हैं. और आनुश्रविक कर्म जिनके हैं उन्हॄ आनुश्रविक कर्म कहा जाता है. आशय यह है कि चक्षु आदि इन्द्रियां लोकमॄ केवल दर्शनादि मात्र ही कर्म करती है कार्य तो उनके वैदिक ही होते हैं. भाग्यसे वैसी इन्द्रियां जिनकी होती हैं उनको ही भक्ति होती है. और यदि वे ही इन्द्रियां कर्म, योग, ज्ञान आदि अनेक रूपवाले वैदिक कर्ममॄ अपनी पूर्व वासनाके अभ्याससे प्रवृत्त होती है उनकी भी यदि फलावस्था होती है तो शुद्ध सत्त्वरूप भगवत्स्वरूपमॄ ही स्वभावसे प्रवृत्त होती हैं यह 'सत्त्वे' पदमॄ बताया है. यह सांख्य मतके अनुसार कहा है. वास्तवमॄ तो इन्द्रियॊंकी स्वाभाविक प्रवृत्ति गुणातीत भगवान्मॄ होती है यह भगवच्छात्रमॄ बताया है ''**मन्निष्ठ निर्गुण स्मृतम्**'' ''**हरिर्हि निर्गुणः साक्षात्**'' इत्यादि

वाक्यॄसे भगवान्‌की सारी ही सामग्री निर्गुण है. 'सत्त्वएव' यहां 'एव'का तात्पर्य राजस एवं तामस को हटानेके अभिप्रायसे है. 'एकमनसः'का अर्थ है एक ही है मन जिसका. मन भी दैव-आसुर भेदसे दो प्रकारके होते हैं. उनमॄ आसुर मन सङ्कल्प-विकल्पात्मक नाना प्रकारके भावॄसे युक्त होता है और गुणॄसे वह क्षोभको प्राप्त होता है. दैव मन एकस्वभाव वाला और मनन करने वाला ही होता है. इन्द्रियां भले ही दैव अथवा आसुर ह्यॄ परन्तु उनमॄ आसुर कार्य होना अच्छा नहीं. परन्तु मन तो दैवके सिवाय दूसरा नहीं होना चाहिये. वैसा होनेसे इन्द्रियॄकी पूर्वोक्त प्रवृत्ति नहीं होगी. इसलिये जिसका मन एकस्वभावापन्न होगा उसीकी भक्ति होगी. दूसरॄमॄ तो यथाकथंचित् की गई भगवान्‌मॄ खण्डशः वृत्ति जिसका कि क्षय नहीं होता है इस कारण अनेक जन्मॄमॄ जब वह पुष्ट हो जाती है तब अन्तिम जन्ममॄ भक्तिरूप वृत्तिको उत्पन्न करती है, इसमॄ भी कोई आपत्ति नहीं है. तन्निष्ठताको 'वृत्ति' कहते हैं. केवल ग्रहण मात्रको वृत्ति नहीं कहते. और वह वृत्ति भी सहज होनी चाहिये जैसे प्रह्लादमॄ अथवा अन्य भक्तॄमॄ थी. दूरके जन्मॄकी वृत्ति(तन्निष्ठता)से इस जन्ममॄ साधनसाध्यता नहीं होती किन्तु पूर्व जन्मकी वृत्तिके द्वारा ही ऐसा होता है. आगे विशेषता बतानेकेलिये 'यत्' शब्द दिया है. अर्थात् 'स्वाभाविकी तु या' यहांका 'यत्' शब्द इस बातको बता रहा है कि जन्मान्तरका व्यवधान होनेसे पूर्वजन्मकी वृत्ति ही यहां ली गई है. फलरूप जन्ममॄ वह अनिमित्त होती है, स्वतन्त्र अथवा भगवन्निमित्तक होती है. भगवान्‌से प्राप्त होने वाले फल उसमॄ निमित्त होते हैं. इसलिए जो अनिमित्त(फलाकांक्षासे रहित) हो वह ही भक्ति होती है ऐसा आगे इसका सम्बन्ध है. और एक यह भी है कि वह भक्ति भागवती हो. अर्थात् साक्षात् भगवान् ही उस भक्तिके विषय ह्यॄ अथवा भगवद्भाव षड् गुणरूपताको प्राप्त हो अथवा पहले सत्त्वरूप देव जो विष्णु हैं उनमॄ वृत्ति हो वही वृत्ति जन्मान्तरमॄ भगवत्सम्बन्धी हो जाय. पञ्चाग्नि विद्यामॄ ज्ञानोपयोकी देहकी सिद्धिका निरूपण किया गया है उस देहमॄ जन्मज्ञान हो जाता है तो मुक्ति हो जाती है. उस मुक्त ब्रह्मज्ञानीका, जीवितका, मृतका, चलनेका, मिलनेका इत्यादिका व्यापार वर्णित है. सद्योमुक्तिमॄ भी सायुज्यका निरूपण किया गया है. वास्तवमॄ यह मुक्ति भक्तॄकी ही होती है ऐसा सिद्धान्त है. प्रकारान्तरसे मुक्ति प्राप्त होती हो ऐसा कहीं देखा नहीं गया तथापि सायुज्य मुक्तिसे भी यह भक्ति अतिश्रेष्ठ है इसीकेलिये 'सिद्धेर्गरीयसी' ऐसा कहा है.

सिद्धिका तो पहले निरूपण कर दिया. अब गरीयरूप अर्थात् श्रेष्ठताका निरूपण करते हैं. यह भक्ति कोश(लिङ्ग शरीर)को जीर्ण कर देती है. किसीके मनमॄ कोशका अर्थ बीजात्मक शरीर है उसको भक्ति जीर्ण कर देती है. यद्यपि सिद्धिमॄ भी कोशकी जीर्णता है परन्तु शीघ्रतासे कोशकी जीर्णता भक्तिसे ही होती है. बिना ही किसी प्रयत्नके भक्तिसे कोश शीघ्र जीर्ण हो जाता है इसमॄ दृष्टान्त देते है 'निगीर्णम् अनलो' जैसे खाये हुए ग्रासको जीर्ण करनेकेलिए औदर्य(पेटकी) अग्निके अतिरिक्त ओर कोई साधन नहीं है. अन्नको जीर्ण करनेकेलिये औषधि आदिका प्रयोग करते हैं वह भी अग्निको ही प्रज्वलित करती है. उक्त सबका अभिप्राय यह है कि इस भक्तिके द्वारा मेरा पद प्राप्त होता है ।।३२।।३३।।

आभास : ऊपर बताए गए भक्तॄका ज्ञानियॄकी तरह अग्रिम कृत्य इहलौकिक भोग और पारलौकिक भोग ऐसे दो प्रकारसे कहे जाते हैं. उनमॄ इहलौकिक भोगका वर्णन 'नैकात्मताम्' इत्यादि तीन श्लोकॄसे करते हैं. इच्छाके अभावका निरूपण करनेवाले इन तीन श्लोकॄका तात्पर्य आचार्यचरण कारिकासे बताते हुए उक्त प्रकारके भक्तॄका सद्योमुक्तिसे भिन्न होनेका कारण इच्छाआॄका अभाव ही है:

जीवतां साधनावस्था फलरूपा तथा परा ।
सायुज्यं च तृतीयं स्याद् अतो नोक्रान्तिप्रापणे ।।१।।

कारिकार्थ : प्रथम साधनावस्था, द्वितीय फलरूपावस्था, तृतीय सायुज्य इस तरह भक्तॄकी तीन अवस्था होती है अतः उनकी इन्द्रियॄका देहसे उत्क्रमण अथवा देवतात्वकी प्राप्ति नहीं कही गई है।।१।।

आभास : पहले भक्तॄकी साधनावस्था कहते हैं :

नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिद् मत्पादसेवाभिरता मदीहाः ।
येऽन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य सभाजयन्ते मम पौरुषाणि ।।३४।।

श्लोकार्थ : कितने ही भक्त मेरी चरणसेवामॄ आसक्त होते हैं और मेरी सेवामॄ तत्पर रहते हैं. ऐसे भक्त आपसमॄ मिलकर मेरे पराक्रमोंकी चर्चा करते हैं, मेरे गुणगान सर्व स्तुति करते हैं।।३४।।

व्याख्यार्थ: इस फलरूपा भक्तिको जानना चाहिये. तात्पर्य यह है कि वे भक्त जब तक जीवित रहते हैं तब तक फलरूप भगवद् भक्तिको करते हैं. फलरूपा भक्ति तभी होती है जब भजनसे उसमॄ बहुधा रस अभिव्यक्त होता है.

फलरूपा भक्तिकी अभिव्यक्तिकी पहचान यह है कि भगवान्के साथ एकात्मता रूप सायुज्य फलको वे नहीं चाहते, सायुज्यकी प्रार्थना करना तो दूर रहा. ऐसे लोग भक्तामृ विरले ही होते हैं. प्रसङ्गसे उनका निरूपण करते हैं. 'केचित्'का अर्थ है ऐसे लोग दुर्लभ हैं. ऐसे लोगाृकी कायिक, वाचिक मानसिक वृत्ति स्वभावसे ही भगवान्मृ होती है इसकेलिये 'मत्पादसेवाभिरता' यह पद दिया है. अर्थात् मेरे चरणाृकी सेवामृ ही जिनकी मनोवृत्ति रहती है. सब ओरसे हट कर भगवत्कार्य करना चाहिये. पादसेवा अर्थात् पैराृसे जाकर सेवा करना. आगे होने वाला सुख भी जानेके अनन्तर ही होगा. यह मनोवृत्तिका निरूपण हुआ. अब कायिकी(शारीरिक) वृत्तिका निरूपण करते हैं. 'मदीहाः' पदसे कहते हैं मेरे (भगवान्)से सम्बन्ध रखनेवाली ही जिनकी चेष्टा है. अब उन भक्ताृकी वाचनिकी वृत्तिका वर्णन 'अन्योन्यतः' आदिसे करते हैं. सब भगवदीय मेरेमृ आसक्ति करके मेरी(भगवान्की) लीलाआृका वर्णन करते हैं:

अन्योन्यमुक्तान्यति पौरुषाणि सम्मानयन्ति प्रकट सुहृष्टाः।
स्वकार्य–निर्धार–विचारहेतौ प्रमाणमेतद् गणयन्ति नाऽन्यत्।।का.१।।।३४।।

कारिकार्थ : इस कारिकासे स्पष्ट किया है कि मेरे भक्त आपसमृ मिलकर मेरी अमानुषिक लीलाआृका वर्णन करते हैं और प्रसन्न होते हैं. अपने कार्यके निर्धारणमृ एवं विचारमृ भी मेरी लीलाआृको ही प्रमाणरूपमृ मानते हैं अन्यको नहीं।।१।।

आभास : उन भक्ताृकी फलावस्थाको कहते हैं :

पश्यन्ति ते मे रुचिरावतंस–प्रसन्नवक्त्रारुणलोचनानि ।
रूपाणि दिव्यानि वरप्रदानि साकं वाचं स्पृहणीयां वदन्ति ।।३५।।

श्लोकार्थ : हे माता! वे साधु पुरुष मेरे कर्णाभरण(कानके भूषण) और अरूणनयन(लालनेत्र)से युक्त प्रसन्न मुखवाले वरदायक दिव्यरूपाृके दर्शन करते हैं तथा इसी शरीरसे भगवान्के साथ सप्रेम सम्भाषण भी करते हैं।।३५।।

व्याख्यार्थ: वे साधुपुरुष मेरे रूपाृका दर्शन करते हैं. उनको निरन्तर भगवान्का साक्षात्कार होता है. जैसे मित्राृके साथ खेलते हैं वैसे सबसे पहले भगवान्के दर्शन करते है. भगवान्के रूपाृका वर्णन करते हैं. सुन्दर है कर्णाभरण जिनके. इससे यह सूचित होता है कि वृन्दावन आदिमृ भगवान्का साक्षात्कार होता है. प्रसन्न मुख और अरूण लोचन हैं जिनके ऐसे राम तथा नृसिंह की तरह

भगवान्के दर्शन करते हैं. उनकी इष्टसिद्धिकेलिये राजसभाव तथा इष्टकी स्थितिकेलिये सात्विक भावको प्रकट करती है यह भी अर्थ है. मेरे उपासक किसी एक रूपका ही कदाचित् साक्षात्कार कर सकता है परन्तु मेरे तो अनेक रूप हैं और वे रूप भी कोई सामान्य नहीं हैं दिव्य हैं अर्थात् लौकिक बुद्धिसे नहीं जाने जा सकते हैं अथवा अलौकिक भावको प्रकट करते हैं. शंका हो सकती है कि जब भगवान्ने अवतार लिया है तो उनका दर्शन तो सब कर सकते हैं अतः अतिप्रसक्ति हो जायेगी तो फिर उन रूपाृको दिव्य कैसे कहा जाय? इसका उत्तर यह है कि भगवान्के जो दिव्यरूप हैं वे ही तो भक्ताृकेलिये पृथ्वी पर प्रकट होते हैं इसलिये दर्शन तो केवल भक्ताृको ही होते हैं. वे दिव्यरूप तो भक्ताृके ही लिये प्रकट हैं तो अतिप्रसक्ति(अतिव्याप्ति)दोष नहीं होगा. रूपाृमृ दिव्यता है इसकी पहचान 'वरप्रदानि'से होती है. बिना दिव्यताके वर देनेमृ समर्थ नहीं हो सकते. प्रसन्नरूपसे इनकी विलक्षणता बताते हैं कि वर्तमान शरीरसे ही ये इस लोकमृ भगवान्के साथ बातचीत करते हैं. ऐसी बातचीतकेलिये सब लालायित रहते हैं. जैसे मित्राृके साथ प्रेमभरी बातृ की जाती हैं ।।३५।।

आभास : इसके बाद उनका सायुज्य बताते हैं :

तैर्दर्शनीयावयवैर् उदार–विलास–हासेक्षित–वामसूक्तैः ।
हृतात्मनो हृतप्राणांश्च भक्तिर् अनिच्छतो मे गतिम् अण्वीं प्रयुङ्क्ते।।३६।।

श्लोकार्थ : दर्शनीय अङ्ग–प्रत्यङ्गग, उदार हास, विलास, मनोहर चितवन और मधुर वाणीसे युक्त मेरे सुन्दर रूपाृमृ उनका मन और इन्द्रियां फंस जाती हैं. ऐसी मेरी भक्ति न चाहने पर भी उन्हृ परमपदकी प्राप्ति कराती है।।३६।।

व्याख्यार्थ: वे मेरे पूर्वमृ बताये गये सुन्दर रूपके अनुभवके समयमृ ही आनन्दको उत्पन्न करते हैं. दर्शनीय हैं अवयव जिनके तथा उदार विलास, हासपूर्वक अवलोकन और मनोहर वचन जिनके ऐसे मेरे रूपाृसे जिनका अन्तःकरण विवश हो गया है तथा जिनकी इन्द्रियां उन रूपाृके वशमृ हो गई हैं ऐसे भक्ताृको मेरी भक्ति, उनके न चाहने पर भी, सायुज्य गति देती है.

भक्तके चाराृ प्रकारके पुरुषार्थकी सिद्धिकेलिये भगवान्के चार रूप इसमृ सिद्ध किये गये हैं. भगवान्के अङ्ग–प्रत्यङ्ग अत्यन्त सुन्दर हैं. अतः तृतीय पुरुषार्थ कामकी उससे सिद्धि होती है. उदार विलास द्वितीय पुरुषार्थ अर्थका देनेवाला है. हासपूर्वक देखना प्रथम पुरुषार्थ धर्मका उत्पन्न करने वाला है.

मधुरवाणी मोक्ष देने वाली है. काम विषयकी सुन्दरतासे और अन्तःशक्तिसे सिद्ध होता है इसलिये उसकेलिये 'दर्शनीय अवयव' ऐसा विशेषण है. यह विशेषण बाहर भी अलौकिक सुन्दरताको बताता है. विलास, अर्थकी अनेक प्रकारता केलिये है. सर्वोपकारता ही विलासकी उदारता है. इसलिये विलासकेलिये 'उदार' ऐसा विशेषण दिया है. भगवान्की लीला सबॄकेलिये सब पुरुषार्थोंको देनेवाली है इसलिये लीलामॄ भी भगवत्त्व है. हास देह आदिमॄ अध्यासको उत्पन्न करता है. यदि ऐसा न होता तो निरन्तर धर्मकी सिद्धि न होती. हास पूर्वक ज्ञान धर्मका उत्पन्न करने वाला है. 'सूक्त' अच्छा बोलना हितकारी है व अविद्याको नष्ट करता है. 'वाम'का अर्थ है परम आनन्ददायक. अण्वी गति(सूक्ष्म गति) एकरूप है आनन्दरूपा है. भगवान्का रूप अनन्तानन्दरूप है इसलिये भक्तॄको किसीकी इच्छा ही नहीं होती. भगवान्का रूप अनन्तानन्दरूप होनेसे वह सब इन्द्रियॄका सुखरूप है. अतः अन्तःकरणकी इन्द्रियॄको वह अपनी ओर आकर्षित कर लेता है. वे भगवान् जब अपने धामको पधारते हैं तो उन भक्तॄको भी अपने साथ ले जाते हैं. वे भक्त तो इन्द्रियां और मनको अपने साथ ले जाते हैं. भक्ति जिसका फल अवश्य ही होता है वह भक्तॄकेलिये काल आदिसे भी अगम्य अतिसूक्ष्म भगवत्प्राप्ति रूप फलको देती है ।।।३६।।

आभास : इस तरह सायुज्यरूप फल कहकर सालोक्यादिरूप फल कहते हैं:

अथो विभूतिं मम मायाविनस्ताम् ऐश्वर्यम् अष्टाङ्गम् अनुप्रविष्टाम् ।
श्रियं भागवतीं वा स्पृहयन्ति भद्रां परस्य मे तेऽश्नुवते नु लोके ।।३७।।

श्लोकार्थ : मध्यम भक्ति होने पर मुझ मायापतिकी पुत्र–धनादिरूपा अथवा स्वर्गादिरूपा विभूतिको जिसके आठ अंग हैं ऐसे ऐश्वर्यको और श्री तथा भगवत्कृत सम्पत्तिको यहां तक कि मोक्ष सम्पत्तिको भी नहीं चाहते वे व्यापि वैकुण्ठमॄ इन विभूति आदि सबको स्वयं ही प्राप्त कर लेते हैं।।३७।।

व्याख्यार्थ: वह भक्ति यदि मध्यम हो तो, ऐसा भिन्न क्रम बतानेकेलिये 'अथो' पद है. 'मायाविनः' पद सूचित करता है कि मुझ मायापतिकी ऐहिक पुत्र–धनादिरूपा विभूति और पारलौकिकी स्वर्गादिरूप विभूति इन्द्रजालवत् है. उसमॄ कोई भोग्य है ही नहीं. 'मायाविनः'मॄ पष्ठी इसलिये है कि भगवदीयॄके सब विषय भगवान्के ही अधीन हैं. 'ताम्'का अर्थ है अलौकिक अथवा सर्वलोक प्रसिद्ध

ऐश्वर्यसे अणिमा आदि आठ जिसके अङ्ग हैं ऐसी सर्वैश्वर्यकी प्राप्तिको भगवद्भजनके अनन्तर अथवा भगवत्प्राप्तिके अनन्तर प्रविट 'श्री'को अर्थात् मोक्ष पर्यन्त सम्पूर्ण सम्पत्तिको यद्वा भगवत्कृत सम्पत्तिका भी वे अनादर करते हैं यह 'वा'से बताया है. अथवा 'अस्पृहयन्ति' उक्तविध सब विभूत्यादिको वे नहीं चाहते. 'भद्रा' कल्याणकारिणी मोक्ष सम्पत्तिको भी नहीं चाहते. मध्यमा भक्ति फल तो अवश्य देती है इसलिये यदि उन्हू उक्त भोग रुचिकर नहीं होते हैं तो वैकुण्ठमृ ही उनकेलिये वह भोगॄका दान करती है उसे 'परस्य मे तेऽश्नुवते नु लोके'से बताया है. यहां 'पर' शब्दसे काल और अक्षरसे भी 'पर' मुझसे है. लोकसे यहां व्यापिवैकुण्ठ लिया गया है. सभी ऐश्वर्यादिका(वहां व्यापिकुण्ठमृ) उपभोग करता है।।३७।।

आभास : शंका होती है कि वैकुण्ठमृ सब प्रकारके भोगॄकी प्राप्ति होने पर भी उनको कालका भय तो लगा ही रहता है! ''जब पुण्य पूरा हुआ और मनुष्य लोककी प्राप्ति हो जाऐगी''. तब अपने स्थानके त्यागसे और वैकुण्ठमृ विषयॄके अनुभवसे क्या फल होगा :

न कर्हिचिद् मत्पराः शान्तरूपे नङ्क्ष्यन्ति नो मेऽनिमिषो लेढि हेतिः ।
येषाम् अहं प्रिय आत्मा सुतश्च सखा गुरुः सुहृदो दैवम् इष्टम् ।।३८।।

श्लोकार्थ : जिनका केवल मैं ही प्रिय, आत्मा, पुत्र, मित्र, गुरु, सुहृद, देव, इष्ट हूं ऐसे मेरे आश्रयमृ रहनेवाले भक्तॄके सर्वदोषवर्जित वैकुण्ठमृ कालचक्र उन्हू ग्रसित नहीं कर सकता है।।३८।।

व्याख्यार्थ: शान्त है रूप जिसका इसे जब सम्बोधन रखॄगे तो माताका विशेषण हो जायेगा और जब इसे सप्तम्यन्त रखॄगे तो वैकुण्ठका विशेषण हो जायेगा. अर्थात् शान्तरूप वाली है माता या शान्तरूप वाले वैकुण्ठमृ. 'मत्पराः'का अर्थ है मैं ही जिनका सब कुछ हूं उनके न क्षीण पुण्य नष्ट होते हैं और न वे गिरते हैं. और 'हेतिः' कालचक्र उनको ग्रसता नहीं है. उसका कारण यह है कि मैं ही उनका प्रिय–आत्मादि सब हूं. कालका विषय जहां होता है वहीं उसकी प्रवृत्ति होती है. कालके आठ विषय हैं: १.विषय २.देह ३.पुत्र ४.मित्र ५.गुरु ६.सम्बन्धी ७.इष्टदेवता ८.कामना. उस लोकमृ ये आठ हैं ही नहीं तब काल वहां क्या कर सकता है? किन्तु इन आठॄका काम अकेला मैं ही करता हूं इसलिये उनकेलिये आठ प्रकारका मैं ही हूं. मैं कालका विषय हो नहीं सकता. मेरेसे

अतिरिक्त उनके देह आदि कोई भी है ही नहीं. सबको विषय(उपभोगके साधन) प्रिय होते हैं परन्तु वैकुण्ठ तो मेरा ही रूप है तो मैं ही उनका प्रिय(विषय) हुआ. जब मेरे समान रूपको प्राप्त हो जाते हैं तो यह भी मैं ही होता हूं. पुत्रस्नेह भी वहांके रहनेवाले मेरेमृ ही करते हैं. वहां पर मित्र भी मैं ही हूं. क्यृकि वहांके पुरुष तो सब मेरे ही रूपवाले हैं. ये चार तो हुए ऐहिक और चार हैं पारलौकिक. उनमृ गुरु उपदेश देनेवाला होता है. वैकुण्ठमृ तो मैं ही उपदेश देता हूं इसलिये मैं ही गुरु हूं. उपदेशके अनन्तर जो हितके यत्न करते हैं वे बान्धव सुहृद है. सुहृदका कार्य तो वहांके रहने वाले ही करते हैं. देवका अर्थ है देवता अथवा पूज्य. फलको देनेमृ तो वह ही कारण है और जो अपना इष्ट है वह ही फल है. इस तरह उनका मैं ही सब कुछ हूं और मेरे ऊपर कालका अधिकार है नहीं अतः मेरे उन भक्तृका विनाश नहीं होता।।३८।।

आभास : सफल प्रथमा भक्तिका निरूपण करते हैं :

इमं लोकं तथैवाऽमुम् आत्मानम् उभयायिनम्।
आत्मानम् अनु ये चेह ये रायः पशवो गृहाः।।३९।।
विसृज्य सर्वान् अन्यांश्च माम् एवं विश्वतोमुखम्।
भजन्त्यनन्यया भक्त्या तान् मृत्योरतिपारये।।४०।।

श्लोकार्थ : जो लोग इस लोकको तथा परलोकको और दोनृ लोकृके साथ रहनेवाले आत्माको तथा देहसे सम्बन्ध रखनेवाले पुत्रादि एवं ओर भी जो ममतास्पद हैं जैसे धन, पशु, घर इनको और जिनको यहां नहीं गिनाया है उन सबको छोडकर अनन्य भक्तिसे, सब प्रकारसे मुझे ही भजते हैं उन्हृ मैं मृत्युरूप संसारसे पार कर देता हूं।।३९-४०।।

व्याख्यार्थ: जो पूर्वोक्त अधिकारसे रहित हैं और इस प्रकारके शरीर आदिसे रहित हैं केवल पुण्यके परिपाकके कारण ही जो इस तरहके हैं व आगे कहे जानेवाले प्रकारसे उपासना करते हैं उनमृ भक्तिका अभाव होने पर भी उनको मैं मृत्युसे पार कर देता हूं इस तरह दोनृका सम्बन्ध है.

यह सांख्यका सिद्धान्त है इसमृ परित्याग ही मुख्य है. मुख्य सिद्धान्तमृ इस लोक आदिमृ अपेक्षाका अभाव ही हेतु है. त्याग करनेयोग्यृकी गिनती करते हैं. प्रमाण-प्रमेय- साधन और फल इस भेदसे चार प्रकारका यह लोक त्याज्य है. ऐहिक प्रमाण तो प्रमाण ही नहीं है जिससे कि इनका कोई प्रमेय हो. यहां तो

केवल विषय ही जानने या ग्रहण करने योग्य होते हैं उनका ग्रहण नहीं करना चाहिये. जो इनका फल साधन है अथवा फल है ये दोनू ही उनकेलिये नहीं है. जो ऐसा करता है वह इस लोकको परित्याग करता है उसी तरहसे चार प्रकारसे परलोकका भी परित्याग करता है. उभय लोकका भी लौकिक और वैदिक उभय स्वभावापन्न आत्मा जो देह, इन्द्रिय, प्राण और अन्तःकरण इनके अध्याससे अलग है ऐसी चार प्रकारकी आत्मा इनका सर्वत्र त्याग अथवा उससे उदासीनता. 'आत्मानमनु'से देहादिकसे सम्बन्धित पुत्रादि लिये जाते हैं. 'च'से घर तथा घरसे सम्बन्धित सभी उपयोगी साहित्य लिया जाता है. 'इह'से यह सूचित होता है कि प्रत्यक्षरूपसे ये सब ममतास्पद(स्थान)रूपसे उपलब्ध हैं. 'रायः'से धन, 'पशवः' से गाय आदि इन सबको छोड़कर 'अन्यान्'से जिनको यहां नहीं गिनाया है, प्रतिष्ठा आदि धर्मोंको छोड़कर 'सर्वान्' यह सबका विशेषण है. 'अन्यांश्च'के 'च'से अभिमान आदिका भी परित्याग करना.

शंका होती है कि सबका जब त्याग किया जाता है तो सबने जो हमारे साथ उपकार किया है उसकी उपेक्षा होनेसे कैसे निस्तार होगा? इस शंकाका निवारण 'मामेवं विश्वतो मुखम्'से किया है. मैं विश्वतोमुख हूं. अर्थात् मैं सबकी आत्मा हूं, इसलिये मेरेलिये जिनका परित्याग करता है मैं उनकेलिये उतने रूपवाला हो जाता हूं. इस प्रकारके रूपवाले मुझको भजते हैं. अर्थात् भगवान् केलिये नयी बात कोई करनी नहीं है यह इससे सूचित होता है. वहां भजनमू साधन तो भक्ति ही है. केवल उस भक्तिमू अनन्यताकी आवश्यकता है. परलोक, भगवत्कृपा अथवा अन्य किसी केलिये भक्तिके विना अथवा भगवान्के विना जिनकेलिये दूसरा कोई नहीं है. 'मृत्योरतिपारये'का आशय यह है कि पुनः इस आत्माका मृत्युसे ग्रस्त होने वाले देहसे सम्बन्ध नहीं होगा. अर्थात् उनकी न तो मुक्ति होती है और न मृत्यु ही होती है, सनकादिककी तरह रहते हैं. इस तरह सायुज्य, वैकुण्ठ और जीवन्मुक्ति इन तीनू प्रकारके भेदूका निरूपण किया।।३९-४०।।

आभास : भक्तिसे अतिरिक्त अन्य किसी मार्गसे भी ऐसा हो सकता है या नहीं? ऐसी आशंका करके उसका निराकरण करते हैं :

नाऽन्यत्र मद्भगवतः प्रधानपुरुषेश्वरात्।
आत्मनः सर्वभूतानां भयं तीव्रं निवर्तते ।।४१।।

श्लोकार्थ : मैं भगवान् हूं, प्रकृति और पुरुषका स्वामी हूं, सब प्राणियोंकी आत्मा हूं, मेरे सिवाय अन्य किसीसे मृत्युरूप यह तीव्र भय निवृत्त नहीं हो सकता है।।४१।।

भक्त्यैव तुष्टिम् अभ्येति विष्णुर्नाऽन्येन केनचित्।
स एव मुक्तिदाता च भक्तिस्तत्रैव कारणम्।।१।।

कारिकार्थ : विष्णु भगवान् भक्तिके सिवाय दूसरे किसीसे प्रसन्न नहीं होते हैं. वे ही मुक्ति देनेवाले हैं और इसमें भक्ति ही कारण है।।१।।

व्याख्यार्थ: 'मत्'का अर्थ है मेरे सिवाय तीव्र जो यह संसाररूप भय है वह अन्यसे निवृत्त नहीं होता. संसारकी निवृत्ति ज्ञान आदिसे होती है. वे सब 'भगवत्' शब्दसे वाच्य हैं इसलिये ये भगवान् ही में होते हैं. उसीको बतानेकेलिये 'भगवतः' पद दिया है. यदि विचार किया जाय तो संसार होता है प्रकृति और पुरुषसे. उन दोनोंका जो नियामक होता है उसीसे ये निवृत्त हो सकते हैं. ऐसा ही उचित है. भगवान् सब प्राणियोंकी आत्मा हैं तो आत्मा ही वैसा उपकार कर सकती है. आत्मासे अतिरिक्त अन्य कोई बिना स्वार्थके उपकार नहीं कर सकता है. इसलिये ज्ञानादिरूप होनेसे उसमें निवर्त्तकरूपता है. जब प्रकृतिका वह निवारक है तो फिर संसार उत्पन्न ही नही होगा. भगवान् आत्मा हैं इसलिये उसमें अवश्य ही हितकारिता होगी. अन्यसे भयकी निवृत्ति न होना ठीक ही है. तीव्रका अर्थ यह है कि संसार शीघ्रतासे आता है तो उसकी निवृत्ति पासमें रहने वाले नियामकसे ही हो सकती है. आत्मा होनेसे उसकी निकटसे स्थिति तो सिद्ध ही है ।।४१।।

आभास : भगवान् नियामक हैं इसे सिद्ध करते हैं :

मद्भयाद् वाति वातोऽयं सूर्यस्तपति मद्भयात्।
वर्षतीन्द्रो दहत्यग्निः मृत्युश्चरति मद्भयात्।।४२।।

श्लोकार्थ : मेरे भयसे यह वायु चलती है, मेरे भयसे सूर्य तपता है, मेरे भयसे इन्द्र वर्षा करता है, अग्नि जलाती है और मेरे भयसे मृत्यु अपना कार्य करती है।।४२।।

व्याख्यार्थ: उक्त श्लोकमें भी ''भीषाऽमाद् वातः पवते भीषादेति सूर्यः, भीषास्माद् अग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः'' इस श्रुतिके अर्थको कहा है. मेरे भयसे यह वायु चलती है अन्यथा उसके चलनेमें कोई कारण न होनेसे सब जगह

तथा सर्वदा कभी न चलती. सूर्य भी मेरे भयसे ही तपता है. श्रुतिमृ सूर्यकेलिये 'उदेति' पद आया है. वहां भी उदय शब्दसे तपना ही कहा गया है अन्यथा तो ज्योतिश्चक्रकी गतिसे उदय तो होता ही है, उसमृ भय व्यर्थ होता है. अग्नि और इन्द्रकी क्रिया श्रुतिमृ नहीं कही थी. उसे यहां 'वर्षतीन्द्रो दहत्यग्निः'से बता दी है. यदि इन्द्रको भय न होता तो वह अपने घरके जलको क्यॄ खर्च करता! इसी तरह यदि भय न होता तो अग्नि सब अपवित्र पदार्थोंको तथा उसको जो अच्छे नहीं लगते हैं उन्हॄ क्यॄ जलाती. मृत्यु भी दयालु है, उसे यदि भय न होता तो प्राणियॄको मारनेका प्रयत्न क्यॄ करती! इसलिये वायु, सूर्य, इन्द्र, अग्नि, मृत्यु इनकी उपासनासे मृत्युको दूर करना चाहिये यह मत–'सिद्धांत' निरस्त हो जाता है. और इससे यह भी सिद्ध होता है कि अन्यसे निवारण करने पर भी मृत्यु निवृत्त नहीं होती है ।।४२ ।।

आभास : इस तरह इतर(अन्य)के निषेधसे अपने सिद्धांतका निरूपण करके इसमृ पूर्वोपचारॄको प्रमाणित करते हैं :

ज्ञान–वैराग्ययुक्तेन भक्तियोगेन योगिनः।
क्षेमाय पादमूलं मे प्रविशन्त्यकुतोभयम् ।।४३।।

श्लोकार्थ : योगी लोग ज्ञान–वैराग्यसे युक्त भक्तियोगसे अपने कल्याण केलिए मेरे निर्भय चरणकमलॄका आश्रय ग्रहण करते हैं।।४३।।

व्याख्यार्थ: ज्ञान और वैराग्य भक्तिके सहकारी हैं. योग यह अधिकारी का विशेषण है. भक्ति ही असाधारण कारण है. 'क्षेम'का अर्थ मोक्ष है अथवा स्व–स्वरूपरक्षा भी अर्थ है. 'पादमूलम्'का अर्थ है पादपीठ अक्षरब्रह्म उसमृ प्रवेश करते हैं. किसीसे भी जहां भय न हो उसे 'अकुतोभय' कहते. 'अकुतोभय' ही तो प्रवेशमृ कारण है ।।४३ ।।

आभास : इस तरह पूरे शास्त्रके अर्थका निरूपण करके स्पष्ट परिज्ञानके लिए कर्त्तव्यका अनुवाद करते हुए उपसंहार करते हैं :

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां निःश्रेयसोदयः।
तीव्रेण भक्तियोगेन मनो मय्यर्पितं स्थिरम् ।।४४।।

श्लोकार्थ : इस मनुष्यलोकमृ मनुष्यॄकेलिए सबसे अधिक कल्याणकी प्राप्ति यही है कि उनका चित्त तीव्र भक्तियोगके द्वारा मुझमृ अर्पित होकर स्थिर हो जाय ।।४४।।

व्याख्यार्थः 'पुंसां'का अर्थ है परलोककी प्राप्तिकेलिये यत्न करने वाला॒का इस लोकम॒ मोक्षका कारण इतना ही है यह 'एतावानेव निःश्रेयसोदयः'से बताया है. पहले मन ही जिसका मूल है ऐसा संसार कहा है. मोक्षम॒ भी वह ही निमित्तकारण है. यदि वह मन किसी तरहसे भगवान्‌म॒ स्थिर हो जाय तो कृतार्थता हो जाती है. उसके स्थिर करनेका साधन भक्ति ही है यह 'तीव्रेण' पदसे बताया है. अर्थात् शीघ्र फलको सिद्ध करनेवाले भक्तियोगसे. सब प्रकारके प्रतिबन्धका॒से रहित है उससे यदि मन मेरेम॒ अर्पित तथा स्थिर हो जाता है तो यही निःश्रेयसका उदय कहा जाता है. योगिया॒का सिद्धान्त है कि किसी भी प्रकारसे भगवान्‌म॒ स्थिर किया गया मन परम पुरुषार्थका साधक होता है. मनको भगवान्‌म॒ स्थिर करनेवाली भक्ति ही है इसलिये उनके सिद्धान्तके अनुसार भी भक्तिका ही निरूपण है. और भागवतके अनुसार भी भक्तिका ही निरूपण है इसलिये भक्ति सर्ववादिसम्मत है इसलिये भक्ति ही करनी चाहिये।।४४।।

इति श्रीमद्‌भागवत महापुराणके तृतीय स्कन्धके २५ वृ अध्यायकी
श्रीमद्‌वल्लभाचार्य चरण विरचित श्रीसुबोधिनी टीकाका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण.

अध्याय २६

कपिलदेवजीका माता देवहूतिको सांख्य तत्त्वोंका उपदेश देना

आत्मानात्मविवेकाय षड्विंशे साङ्ख्यम् उच्यते।
तत्त्वानां लक्षणान्यत्र निरुक्तिश्चेयम् अत्र च*।।का.१।।
जीवब्रह्मविभागार्थं प्रक्रियाद्वितयं स्मृतम्।
संसारे मूलभावे च पुरुषः प्रकृतिर्मता।।का.२।।

कारिकार्थ : आत्मा और अनात्मा का भेद समझनेकेलिए छब्बीसवें अध्यायमें सांख्य शास्त्र कहा जाता है. इसमें तत्त्वोंके लक्षण और उनके नाम कहे गए हैं।।१।।

कारिकार्थ : जीव और ब्रह्मका भेद जाननेकेलिए दो प्रक्रिया कही गई है. संसारकी प्राप्ति तथा मूल स्थितिकी प्राप्तिकेलिए पुरुष और प्रकृतिका निर्णय किया गया है।।२।।

*गोस्वामि पुरुषोत्तमजी महाराज कृत 'प्रकाश' का अर्थ:

१.छब्बीसवें अध्यायका विवरण(व्याख्या) करनेकी इच्छासे इसकी संगति पहले कही जा चुकी है अतः उसे यहां न कहकर भगवान्के द्वारा विचारित 'अर्थ' नामके दूसरे पुरुषार्थको स्पष्ट करनेकेलिये यह सारा विचार है. इसे बतानेकेलिये मुख्य रूपसे प्रयोजन ही 'आत्मानात्म' इस कारिकासे कहते हैं. आत्मा और अनात्मा भेद भगवद्विचारित 'अर्थ'है. वह यहां मैत्रेयजीकी उक्तिमें अध्यायका अर्थ है. उसकेलिये यहां तत्त्वों के लक्षण और उनकी निरुक्ति(नाम)का कथन है.

२.और फिर यहां जीवब्रह्मके विभागकेलिये बन्ध-मोक्षरूप प्रक्रियाएं कपिलदेवजीने स्मरण करके कही है. यदि बन्ध-मोक्षरूपसे प्रक्रियाएं न होती तो विभाग जाना ही नहीं जाता. उसे कहते हैं- संसारका कारण प्रकृति है. और मूलभाव अर्थात् पूर्वरूपकी प्राप्तिमें पुरुष कारण है. यहां 'संसारे प्रकृति मताः मूलभावे पुरुषो मतः' ऐसा अन्वय करना. पूर्व अध्यायमें भक्ति कही गयी है. किन्तु जिनका भक्तिमें अधिकार नहीं है उनकेलिये यहां भक्तिके अंगरूपसे भक्तिके अनुरूप ही फल देने वाले सांख्यको कहा है. सांख्यके विचारमें भक्तिके साथ इसकी अङ्गाङ्गिभाव संगति होगी अथवा एक कार्यतारूप संगति होगी. शास्त्रार्थका विचार करने पर तो भगवद्बोध्य तत्त्वोंका यहां निरूपण होनेसे यह मात्राध्याय है इसमें किसी प्रकारका कोई भी सन्देह नहीं है. इस प्रकार सब व्यवस्थित है.

आभास : पूर्व अध्यायमृ उत्तम भक्तिके द्वारा हृदयका विलय कहा तथा अन्य भक्तियृके फलका निरूपण करके वे सब भक्ति सत्संगसे ही होती है और देवहूति केलिए सत्संगका होना सम्भव न होनेसे देवहूतिको केवल शास्त्रार्थका ज्ञान हो जाए उसकेलिए ही उनका निरूपण है ऐसा मान कर उसकेलिए सांख्यको कहनेके लिए 'अथ ते' यह श्लोक कहा गया है:

श्रीभगवान् उवाच

अथ ते सम्प्रवक्ष्यामि तत्त्वानां लक्षणं पृथक् ।
यद् विदित्वा विमुच्येत पुरुषः प्राकृतैर्गुणैः ।।१।।

श्लोकार्थ : भगवान्ने कहा, हे माता! अब मैं तुम्हृ प्रकृति आदि सब तत्त्वृके लक्षण अलग-अलग बताता हूं जिन्हृ जानकर मनुष्य प्रकृतिके गुणृसे मुक्त हो जाता है।१।।

व्याख्यार्थ: पूर्व अध्यायमृ उत्तम भक्तिसे लय तथा अन्य भक्तिका फल निरूपण किया था, भक्ति सत्संगके बिना होती नहीं. देवहूति सत्संग कहां करने जाये! सांख्यमृ इस प्रकारकी पराधीनता नहीं है. इस भिन्न क्रमको बतानेकेलिये यहां 'अथ' शब्दका प्रयोग किया है. ''सांख्य मैं तुम्हारेलिये ही कहूंगा''. सांख्यका स्वरूप बताते हैं: सांख्य शास्त्रमृ तत्त्वृके अलग-अलग लक्षण हैं. एक तत्त्वका लक्षण दूसरे तत्त्वसे मिल न जाये इस तरह तत्त्वृके लक्षण बताऊंगा. उन तत्त्वृके लक्षण ऐसे कहूंगा, जिससे दूसरेके साथ उसका भेद समझमृ आ जाये. इसलिये तत्त्वृके लक्षण अलग-अलग कहूंगा. शंका होती है कि संसार तो अन्दर स्थित है बाहर रहने वाले तत्त्व आदि पदार्थोंके जाननेसे भी क्या होगा. उसका उत्तर देते हैं कि अलग-अलग तत्त्वृके लक्षणको जानकर पुरुष स्वयं आध्यात्मिक (शरीरमृ रहने वाले और वासनामय) तत्त्वृसे, प्राकृत गुणृसे मुक्त हो जाता है. संघातमृ रहते हुऐ भी पुरुष तत्त्वृके लक्षणृसे उन्हृ अलग-अलग समझकर मुक्त हो सकता है ।।१ ।।

आभास : यह आत्मा और अनात्मा का भेद जिसकेलिए है वह ज्ञान तुम्हृ कहूंगा:

ज्ञानं निःश्रेयसार्थाय पुरुषस्यात्मदर्शनम् ।
यद् आहुर्वर्णये तत् ते हृदयग्रन्थिभेदनम् ।।२।।

श्लोकार्थ : आत्माका साक्षात्कार ही पुरुषके मोक्षका कारण है.

आत्मसाक्षात्कारसे ही हृदयका मोह नष्ट हो जाता है ऐसा विद्वान् कहते हैं. उस ज्ञानको मैं तुम्हारे आगे वर्णन करता हूं।।२।।

व्याख्यार्थः जो ज्ञान मोक्षकेलिये है और पुरुषको मोक्ष देता है उस ज्ञानका वर्णन मैं करूंगा ऐसा सम्बन्ध है. शंका होती है कि आत्माके अज्ञानसे संसार होता है इसलिये आत्मज्ञान ही कहना चाहिये. दूसरे ज्ञानकी क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर देते हैं कि 'जिस ज्ञानके द्वारा आत्माका दर्शन होता है'. अर्थात् जो ज्ञान आत्मसाक्षात्कारका कारण है अथवा आत्मसाक्षात्कार ही है उसे मैं स्वरूपसे और कारणसे तुम्हृ कहूंगा. यह आत्मसाक्षात्कार भी भक्तिकी तरह हृदयका लय करने वाला है. यह 'हृदयग्रन्थिभेदनम्'से बताया है हृदयमृ चित्-अचित् दोनृ गुंथे हुए हैं, अर्थात् इनकी गांठ पड़ गई है. इसे हृदयग्रन्थि, मोह या कोश(लिङ्ग शरीर) कहते हैं उसका भेदन इससे होता है. सांख्यके सहित जो ज्ञान है वह स्वतन्त्र साधन है यह इसका तात्पर्य है ।।२ ।।

आभास : उनमृ पहले पुरुषका लक्षण कहते हैं :

अनादिरात्मा पुरुषो निर्गुणः प्रकृतेः परः।
प्रत्यग्धामा स्वयंज्योतिः विश्वं येन समन्वितम् ।।३।।

श्लोकार्थ : यह सारा जगत् जिससे व्याप्त होकर प्रकाशित होता है वह आत्मा ही पुरुष है. वह अनादि निर्गुण प्रकृतिसे पर अन्तःकरणमृ स्फुरित होनेवाला और स्वयं-प्रकाश है।।३।।

व्याख्यार्थः जो इतर(अन्य)से भिन्न है वह उसका लक्षण होता है, जैसे गन्ध पृथ्वीसे अतिरिक्तमृ नहीं हैं. अतः गन्धवत्व पृथिवीका लक्षण है. इसको जान लेने पर जिसमृ वह नहीं होगी उसीको उससे अलग किया जा सकता है. इस प्रकार मुख्यरूपसे आत्माका लक्षण है. पुरुष लक्ष्य है. और आत्माका यह लक्षण है जो यह(आत्मा) 'मैं हूं' इस प्रकारके ज्ञानसे जाना जाता है. अर्थात् जैसे किसीसे आप शरीर इन्द्रियां मन बुद्धिके विषयमृ प्रश्न करृगे तो वह कहेगा कि ''यह मेरा शरीर है, ये मेरी इन्द्रियां हैं, ऐसा मेरा मन है, ऐसी मेरी समझ है'' इससे स्पष्ट है कि इन सबसे परे जिसे 'मैं' शब्दसे कहा जाता है वह ही आत्मा है. इसीको 'यो अयम् अहं प्रत्ययवेद्यः' कहा जाता है. देह इन्द्रियां अन्तःकरण लोक जिनमृ अपनी ममता होती है और जो यज्ञ आदिसे सिद्ध होने वाले परलोक(स्वर्गादि) अपने उपकारी जितने भी पदार्थ हैं उन सबमृ जो व्याप्त है, उसे आत्मा[1] कहते हैं

और वह 'यह मैं हूं' इस प्रकारकी समझसे जाना जाता है, वह ही पुरुष है. जीवभावको प्राप्त उस आत्माकी देह आदिकी उत्पत्तिसे उत्पत्ति होगी? इस शंकाके समाधानकेलिये आत्माको अनादि बताया है. अनादि उसे कहा जाता है जो जन्म समागम [२]आविर्भाव भेदसे भिन्न, ऐसी कोई उत्पत्ति जिसकी नहीं हो वह अनादि है. आत्माकी उत्पत्ति नहीं होती है. उसमृ निर्गुणता कारण है. आत्मासे गुण निकल गये हैं. सबको उत्पन्न करने वाले तो गुण ही हैं. वे गुण ही जब आत्मासे उत्पन्न होते हैं तो आत्माकी उत्पत्ति करेगा कौन? निवृत्ति पक्षमृ आत्मा सुतरां गुणृके सम्बन्धसे रहित है यह इसका आशय है. शंका होती है कि जब आत्मासे गुणृकी उत्पत्ति होती है अतः अथवा आत्माका स्वतः गुणृसे कोई सम्बन्ध नहीं है अतः आत्मा निर्गुण और अनादि है परन्तु प्रकृतिसे उत्पन्न होने वाले गुण ही आत्मामृ आदिता सिद्ध कर द्वगे इसका उत्तर देते हैं 'प्रकृतेः परः' जो प्रकृतिके ऊपर अपना नियन्त्रण रखता है वह प्रकृतिके गुणृसे कैसे बन्ध सकता है? जो कि प्रकृतिसे अलग है अथवा प्रकृतिके सम्बन्धसे अलग है इसमृ प्रमाण है. 'प्रत्यग्धामा' यह विशेषण प्रत्यग्(अन्तर्मुख) रूपसे है धाम(स्फुर्ति) जिसकी उसको 'प्रत्यग्धामा' कहा जाता है. अर्थात् जो 'अहम्'–मैं इस प्रकारके ज्ञानसे समझा जाता है. शंका होती है कि 'मैं' शब्दसे आत्मा ही जाना जाता है. ऐसा तो नहीं है, अहंकार भी तो 'मैं' शब्दसे जाना जाता है? उसका उत्तर देते हैं अहंकार अज्ञानरूप है और आत्मा स्वयंज्योति है. स्वयं ही प्रकाशरूप है अतः आत्माकेलिये किसी दूसरे प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है. अहंकार तो स्वप्रकाश नहीं हो सकता. यह आगेके अध्यायमृ कहा जायेगा. आत्माका एक और असाधारण धर्म(लक्षण) कहते हैं 'विश्वं येन समन्वितम्'. जिस आत्मासे यह सारा विश्व ओतप्रोत है. तत्त्व तो एक दूसरेसे भिन्न हैं. स्वभाव, काल और कर्म भी अनेक हैं अतः यदि किसी एकसे सारे जगत्का सम्यक् सम्बन्ध है तो वह आत्मासे ही है, अन्यसे नहीं. 'समन्वित'का अर्थ है कि सम्यक् अन्वय. अर्थात् जिनमृ आत्मा सम्यक् रूपसे अन्वित है, ओतप्रोत है. उनमृ होने वाले गुण–दोषृका इसके साथ कोई सम्बन्ध[३] नहीं है, केवल समन्वित सम्बन्ध ही है. यहां पुरुषका लक्षण है आत्मा. आत्माको संघातसे व्यावृत्त(अलग) करनेकेलिये अन्य लक्षण है. जैसे आत्माको अनादि कहा तो देहकी व्यावृत्ति(निवृत्ति) हो गई. देह अनादि नहीं है अतः आत्मा नहीं हो सकता है. निर्गुण पदसे प्राकृत[४] सब पदार्थ निवृत्त हो

गये. आत्मा प्रकृतिका नियामक है अतः प्रकृतिसे भिन्न हो गया. 'प्रत्यग्धामा' पदसे कालकी व्यावृत्ति हो गई. इस प्रकार इन चार पदोंसे आत्माका एक लक्षण लौकिक हुआ और 'स्वयंज्योति' यह अलौकिक लक्षण हुआ. ज्ञानमें साक्षात् उपयोगी लक्षण है 'विश्वं येन समन्वितम्'. इस प्रकार आत्माके तीन लक्षण हुए.

शंका होती है कि 'प्रत्यग्धामा' पदसे ही देहकी व्यावृत्ति हो जायेगी तो फिर 'अनादि' पद क्यों दिया? इसका उत्तर देते हैं कि 'प्रत्यग्धामा' अर्थात् 'मैं हूं' इस प्रकारकी समझसे जाना जाये ऐसा ज्ञान देह और आत्माका जब भेद ज्ञान नहीं हुआ था उस समय भी था इसलिये इससे देहकी व्यावृत्ति नहीं होती. इसी तरह 'प्रकृतेः परः' इस विशेषणसे कालादिकी व्यावृत्ति नहीं हो सकती. क्योंकि शास्त्र सहकृत बुद्धि भी स्वभावको नियन्त्रित करती है ऐसा देखा गया है ।।३ ।।

१.आत्मा ही पुरुष है ऐसा पुरुषका लक्षण है. यहां आत्मा ''अहमात्मा गुडाकेशः'' इस गीता वाक्यमें बताया हुआ विभूतिरूप आत्मा ही जानना.

२.आविर्भाव पदसे बाहर प्रकट होना जानना चाहिये.

३.इस प्रकारके सम्बन्धको समन्वित शब्दसे कहा जाता है.

४.प्राकृत(महत्तत्त्व आदि) हमारे देहकी अपेक्षा उनमें अनादिता है उसकी व्यावृत्तिकेलिये निर्गुण पदका प्रयोग किया है. निर्गुण पदमें गुणको उत्पन्न करना ऐसा अर्थ यदि लेंगे तो प्रकृतिमें उसकी अतिव्याप्ति हो जायेगी. उसको दूर करनेकेलिये 'प्रकृतेर्नियामकत्वेन' ऐसा कहा.

५.शंका होती है कि प्रथम लक्षणमें चार पदका क्या प्रयोजन है ?

१. केवल अनादिपद ही देते तो अनादि तो काल भी है. और २.अनादित्व और गुणजनकत्व ये दोनों प्रकृतिमें हैं. इसलिये 'अनादि' और 'निर्गुण' पदसे इन दोनोंको हटाया. 'प्रकृतेः परः' और 'प्रत्यग्धामा' इन दो पदोंके कहनेसे विशेषणदलसे कालबुद्धि और प्रकृति आदिका तथा विशेषणदलसे देहका निराकरण हो जाता है इसलिये अनादि और निर्गुण पद यद्यपि अत्यन्त आवश्यक नहीं हैं फिर भी अनादि पद अविकारमें और निर्गुण पदका अनञ्जनमें उपयोग होता है यह अग्रिम अध्यायके प्रारम्भमें उपपादन किया जायेगा यहां केवल उनका स्वरूपमात्र कहा गया है. प्रत्यग्धामत्वकी देहमें भी अतिव्याप्ति बताई है. परन्तु मेरी आत्मा है ऐसा पराक्प्रत्यय भी विवेकके अभावसे किया गया है उससे आत्मामें प्रत्यग्धामताकी क्षति नहीं है यह भी ज्ञापित होता है.

आभास : वह आत्मरूप पुरुष वास्तवमें निर्लिप्त है और प्रकृतिका

नियामक है अतः उसमृ जीवत्व सहज नहीं होता है इसको कहनेकेलिए जीवकी[1] उपाधिको कहते हैं:

स एष प्रकृतिं सूक्ष्मां दैवीं गुणमयीं विभुः ।
यदृच्छयैवोपगताम् अभ्यपद्यत लीलया ।।४।।

श्लोकार्थ : वह सर्वव्यापक पुरुष अपने पास आई हुई दुर्ज्ञेय गुणमयी प्रकृतिका उपभोग करनेकेलिए एकताको प्राप्त हो गया।।४।।

व्याख्यार्थ: जिसे पहले लक्षित किया जा चुका है और जिसे [2]कारण बताया है वह पुरुष ही आत्मा है और उसे 'मैं हूं' इस प्रकारसे जाना जाता है. उसमृ ऐसी विपरीतता कैसे आ गयी? इस शंकाका समाधान करते हैं. सांख्यके [3]एकदेशी मतमृ प्रकृति आत्मासे अलग है और वह पुरुषकी तरह नित्य है. जो भगवदीय सांख्य है उसमृ तो प्रकृतिको भगवान्की शक्ति माना है. सांख्यशास्त्र भगवान् तक पहुंचता ही नहीं है. भगवान् ही प्रकृतिके [4]प्रवर्तक और प्रकृतिके नियामक होनेसे अक्षरब्रह्मसे पहले तक ही सांख्यशास्त्रकी प्रवृत्ति है. भगवान् [5]पांच प्रकारसे अनादि हैं: १.पुरुषोत्तम २.अक्षर ३.काल ४.प्रकृति और ५.पुरुष. इस मतको लेकर जहां सांख्य सिद्धान्तकी प्रवृत्ति होती है. वहां पुरुष जो प्रकृति का नियमन करता था वह उस अवस्थाको छोड़कर प्रकृतिके अधीन रहनेकी अवस्थाको प्राप्त हो जाता है तो उसी पुरुषकी 'जीव' संज्ञा हो जाती है. सूक्ष्म, दुर्ज्ञेय, कोमलाङ्गी 'एषः'का तात्पर्य यह है कि प्रकृतिमृ जो कामना हुई वह भी भगवान्की इच्छासे ही हुई ऐसा जानना चाहिये. ऐसा न होता तो भगवान्की आसक्ति उसमृ नहीं होती. श्रुतिसे भी यह बात स्पष्ट है 'काममय एव अयं पुरुषः'. अतः कामनावश भगवच्छक्तिरूपा प्रकृतिको जो 'देवी' अर्थात् देव सम्बन्धिनी तथा 'मोहिका' बन्धनको करने वाली गुणमयी है उसका आदिमृ विभु भगवान् उपभोग करनेमृ समर्थ हैं. वह प्रकृति भी भगवान्की प्रेरणासे स्वयं ही भोग्यरूपसे भगवान्के पास आई. जब भोगकेलिये आई तब भगवान्ने भी उसे लीलाके उचित समझ कर उसका उपभोग करनेकेलिये उसके साथ एकताको प्राप्त हो गये ।।४।।

१.जीवोपाधिका अर्थ है जीवत्वका प्रयोजक धर्म.

२.'कारणत्वेन'का अर्थ है गुण जनकता होनेसे

३.सांख्यके एकदेशीसे निरीश्वर सांख्यवादी लिये गये हैं.

४.'तत्प्रवर्तकत्वात्'का अर्थ है भगवान् ही सांख्यमतके प्रवर्तक हैं. सांख्यशास्त्रकी

पहुंच यदि भगवान् तक हो तो फिर वह(सांख्य) ब्रह्मवादसे अलग नहीं होगा. ऐसा होने पर उस सांख्यमृ और ब्रह्मवाद के फलमृ भी कोई भेद न होगा. इसलिये भगवान्ने जब सांख्य मतको प्रकट किया है तो वह ब्रह्मवादसे अलग ही है. इस सांख्यशास्त्रमृ पुरुषको संसारकेलिये प्रकृतिके अधीन बताया है वह भगवान् प्रकृति नियामक होनेसे असंगत होगा.

५.अन्य सांख्यसे इस सांख्यमृ विशेषता है इसे समझानेकेलिये यहांकी शास्त्र मर्यादा बताते हैं. कालादित्रय अर्थात् काल, प्रकृति और पुरुष इन तीनृकी अनादिता यहां स्पष्ट है. पुरुषोत्तम और अक्षरकी गीतामृ सिद्ध है उसे ही यहां लिया है. प्रकृति शक्ति मानी गई है. इसीलिये उसकेलिये दैवी पद दिया है. अतः यह मत अन्य सांख्यसे अलग ही है इसीलिये तो कहा है 'नतु प्राकृतम्'. 'तत्र'का अर्थ है (इस) सांख्यमृ.

आभास : उस प्रकृत्तिके द्वारा उपभुज्यमान(भोगे जाते हुए) पुरुषकी अवस्थाको कहते हैं :

गुणैर्विचित्रां सृजतीं सरूपाः प्रकृतिं प्रजाः ।
विलोक्य मुमुहे सद्यः स इह ज्ञानगूहया ।।५।।

श्लोकार्थ : प्रकृत्ति अपने सत्त्व आदि गुणृके द्वारा उन हीं गुणृके अनुरूप प्रजाकी सृष्टि करने लगी. यह देखकर पुरुष ज्ञानको आच्छादित करनेवाली उसकी आवरण शक्तिसे मोहित हो गया, अपने स्वरूपको भूल गया।।५।।

व्याख्यार्थ : वह प्रकृति गुणृसे पुरुषको वशमृ करनेके लिये नित्य नवीन और विचित्र होती है तथा पुरुषके अन्तरङ्गभूत अंशोको अपने समान कर देती है, अर्थात् अंशोके द्वारा पुरुषमृ अपने स्वरूपको प्राप्त करा देती है. अतएव सभी अंश जो प्रकृतिके भावको प्राप्त हो चुके हैं तो स्वयं पुरुष भी प्रकृतिभावको प्राप्त हो जाता है.

शंका होती है कि पुरुष तो भगवद् रूप है, नित्य सिद्धज्ञान शक्ति वाला है फिर वह प्रकृतिको देख कर मोहको कैसे प्राप्त होता है? इसका उत्तर है 'ज्ञानगूहया' पुरुषके ज्ञानको प्रकृति ढक देती है और इतनी शीघ्रतासे ढकती है कि पुरुष किसी प्रकारका विचार तक नहीं कर सकता. 'सः'(वह) विभु होते हुए भी, इह(इसमृ) प्रविष्ट होने पर उसे मोह हो जाता है अपने स्वरूपको भूल जाता है ।।५।।

आभास : मोहके अनन्तर वह पूर्ण होते हुए भी जीव-भावको प्राप्त हो जाता है:

एवं पराभिध्यानेन कर्तृत्वं प्रकृतेः पुमान्।
कर्मसु क्रियमाणेषु गुणैर् आत्मनि मन्यते ।।६।।

श्लोकार्थ : इस प्रकार अपनेसे भिन्न प्रकृत्तिको ही अपना स्वरूप समझ लेनेसे प्रकृत्तिके गुणॉ द्वारा किये जानेवाले कर्मोंमॅ पुरुष अपनेको ही कर्त्ता मानने लगता है।।६।।

व्याख्यार्थ: 'परा' अर्थात् अपनेसे भिन्न जो प्रकृति है उसके अभिध्यानसे पुरुष अपनेको प्रकृति समझने लगता है. 'अभिध्यान'का अर्थ है आत्मारूपसे समझना. वह प्रकृति ही सब कुछ करती है, क्रिया शक्ति सब उस प्रकृतिकी है. पुरुषकी तो ज्ञान शक्ति ही है. वह प्रकृति मोहसे खिचडीकी तरह इकट्ठी हो जाती है. प्रकृतिके द्वारा किये हुए कर्मोंको वह अपना कहता है, क्यॉकि वह पुरुष है. लोकमॅ भी देखा गया है कि स्त्रीके द्वारा किये गये कार्यको पुरुष अपने द्वारा किया हुआ मानता है. वह प्रकृति गुणॉसे कर्म करती है परन्तु पुरुष फल ही है मुख्य जिसमॅ, ऐसे कर्तृत्वको अपनेमॅ मानता है ।।६।।

आभास : आत्मामॅ कर्तृत्वका अभिमान ही संसारका कारण है यह कहते हैं :

तद् अस्य संसृतिर् बन्धः पारतन्त्र्यं च तत्कृतम्।
भवत्यकर्तुरीशस्य साक्षिणो निर्वृतात्मनः ।।७।।

श्लोकार्थ : इस कर्तृत्वाभिमान(कर्त्तापनके अभिमान)से ही अकर्ता, स्वाधीन, साक्षी और आनन्दरूप पुरुषको जन्म-मृत्युरूप बन्धन एवं परतन्त्रताकी प्राप्ति होती है।।७।।

व्याख्यार्थ: कर्त्तापनके अभिमानसे ही उस जीवको संसार होता है. तब उन कर्मोंसे बन्धन और प्रकृतिके अधीन भी हो जाता है. वह सब भी कर्त्तापनके अभिमानसे ही होता है, केवल प्रकृतिसे उसे संसार और कर्म बन्धन नहीं होता. वह सब उसका स्वाभाविक नहीं है ऐसा कहनेकेलिये आत्माके चार विशेषण दिये हैं. वह आत्मा भगवान्का अंशरूप होनेसे चिदानन्दरूप है और ऐश्वर्य आदिसे युक्त है. उसमॅ किसी प्रकारका दोष नहीं है यह 'अकर्तुः' विशेषणसे सिद्ध है. अर्थात् जो कुछ कोई करता ही नहीं उसमॅ दोष कहांसे ह्यॅगे ? भगवान्के सम्बंधके कारण वह भी 'ईश' है. चैतन्यरूप होनेसे साक्षी है. आनन्दरूप होनेसे वह 'निर्वृतात्मा' है. इस तरह उस निर्वृतात्माको अकर्त्ता होने पर भी संसार, ईश होते

हुए भी बन्धन और साक्षी होते हुए भी परतन्त्रता ये तीनॄ होते हैं. 'च' शब्द बताता है कि उक्त तीनॄ बातॄ होती हैं अथवा मैं दुःखी हूं यह भी(भान) होता है ।।७।।

आभास : ज्ञान–इच्छा–प्रयत्नादि एक ही मॄ रहते हैं अतः उपादानगोचर प्रत्यक्ष ज्ञानवालेमॄ ही कर्तृत्व होता है अन्य मॄ कर्तृत्व कैसे हो सकता है? इस आशंकाका समाधान करते हैं:

कार्य–कारण–कर्तृत्वे कारणं प्रकृतिं विदुः ।
भोक्तृत्वे सुखदुःखानां पुरुषं प्रकृतेः परम् ।।८।।

श्लोकार्थ : कार्यरूप शरीर, कारणरूप इन्द्रियां तथा कर्त्तारूप अन्तःकरण इनमॄ पुरुष अपनेपनका आरोप कर लेता है उसमॄ विद्वान लोग प्रकृत्तिको ही कारण मानते हैं और प्रकृत्तिसे पर पुरुषका सुख–दुःखॄके भोग करनेमॄ कारण मानते हैं।।८।।

व्याख्यार्थ: यद्यपि कर्तृत्व और भोक्तृत्व एकमॄ ही प्रतीत होते हैं अर्थात् पुरुष और प्रकृति दोनॄ जब मिले हुए हैं तो करने वालेका और भोगने वालॄका अलग–अलग निश्चय नहीं हो सकता. जो सबके मूलभूत भगवान् हैं उनमॄ तो कर्त्तापन और भोक्तापन सहज ही है. तथापि कर्त्तापन प्रकृतिका है और भोक्तापन पुरुषगत ही है. इस विषयमॄ प्राचीन आचार्य प्रमाण हैं. कर्त्तापन प्रकृतिका धर्म क्यॄ है? इसको बताते हैं ''कार्यकारणकतृत्वे कारणं प्रकृतिं विदुः''. कार्य है आधिभौतिक देह और कारण है आध्यात्मिक इन्द्रियां तथा कर्त्ता है आधिदैविक अन्तःकरण. चैतन्यरूप पुरुष उक्त तीन प्रकारके जड़भावको प्राप्त हुआ इसमॄ कारण तो प्रकृति ही है. बिना कारणके कोई अन्यभावको प्राप्त नहीं हो सकता. अर्थात् चैतन्य ब्रह्म बिना किसी कारणके जड़भावको प्राप्त नहीं हो सकता. अतः जड़भावकी प्राप्तिमॄ कारण प्रकृति ही है. भगवान्की इच्छाको इसका कारण तब माना जाय जब तीन प्रकारके धर्म प्राकृत(प्रकृतिके) न ह्यॄ. जब धर्म प्राकृत हैं तो उन्हॄ स्वस्वरूप प्राप्तिमॄ स्वयंको ही कारणता हो जायगी, विशेष कल्पनाकी आवश्यकता क्या है. सुख–दुःखके साक्षात्कारका नाम ही 'भोग' है. ''सत्वात् संजायते ज्ञानम्'' इस गीताके वाक्यके अनुसार सत्त्वसे ज्ञान होता है अतः वह प्रकृतिगत है ऐसी कल्पना भी तब की जा सकती है जब कि पुरुष ज्ञानरूप न हो. अतः पुरुषके सम्बन्धसे ही प्राकृत ज्ञान भी होता है. पुरुष ज्ञानरूप होनेमॄ ही सुखदुःखके भोगमॄ उसको कारण समझते हैं. ''सत्वात् संजायते ज्ञानम्'' इसका

तात्पर्य तो यह है कि सत्वोपाधिमृ ही पुरुषका ज्ञान उत्पन्न होता है ऐसा कहा है, न कि ज्ञान प्रकृतिका स्वरूप है अथवा धर्म है. पुरुषमृ प्रारम्भसे कर्त्तापन नहीं है. वह कर्त्तापन तो प्रकृतिके अध्याससे होता है. प्रकृतिका सम्बन्ध होने पर जब पुनः प्रकृतिका अध्यास होता है तब उसमृ भोक्तृत्त्व(भोक्तापन) आता है. इसलिये समझमृ नहीं आ सकता कि दोनृ मृसे भोक्ता कौन है.

'स्वकृतं भुङ्क्ते' इस वाक्यसे जब कार्य-कारणकी करने वाली प्रकृति है तो भोक्ता भी उसे ही मानना उचित होगा? इस आशंकाका उत्तर देते हैं 'प्रकृतेः परं पुरुषं भोक्तत्वे कारणं विदुः' प्रकृतिसे पर पुरुष ही सुख-दुःखृके भोगनेमृ कारण है. प्रकृति जो भोग्य है वह भोक्ता कैसे होगी? इसलिये भोगदशामृ पुरुष प्रकृतिका नियन्ता ही रहता है. स्वयंका भोग तो हो नहीं सकता, अन्यके भोगमृ रस आता है. इससे यह स्पष्ट है कि प्रकृति कर्ता है, व्यामोहिका है और भोग दशामृ प्रकृति नियामक जो पुरुष है वह भोक्ता होता है. पुरुष अपनेको कर्त्ता इसलिये मानता है कि वह प्रकृतिसे मुग्ध हो जाता है तब अपनेको देह आदि मानने लगता है. इस तरह प्रकृति और पुरुषके लक्षण कहे गये हैं ।।८।।

आभास : देवहूति शंका करती है :

देवहूतिः उवाच

प्रकृतेः पुरुषस्याऽपि लक्षणं पुरुषोत्तम।
ब्रूहि कारणयोर् अस्य सदसच्च यदात्मकम् ।।९।।

श्लोकार्थ : देवहूतिने कहा, पुरुषोत्तम! इस विश्वके स्थूल-सूक्ष्म कार्य जिनके स्वरूप हैं तथा जो इसके कारण हैं उन प्रकृत्ति-पुरुष का लक्षण भी आप मुझसे कहिए।।९।।

व्याख्यार्थ: देह भावको प्राप्त होने पर ही पुरुषमृ कर्त्तापन होता है परन्तु यह देह कैसे उत्पन्न होती है यह विचारणीय है' जीव ने स्वयं ही अपने लिये इस जगत्को रचा है ऐसा कहोगे तो जीव अनेक हैं तो उनके द्वारा अनन्त जगत्की उत्पत्ति होगी और यदि मूलपुरुष जीवृकेलिये जगत्की रचना करता है तो हित आदिक नहीं करना तथा असम्बद्ध करना, सर्वदा प्रकृतिके सम्बंध बिना ही करना -ये दो दोष आयृगे. अतः यह कर्त्तापन और भोक्तापन प्रकृति तथा पुरुष के अंशृमृ ही है, मूलप्रकृति और मूलपुरुषमृ नहीं है. इसलिये प्रकृति और पुरुष के लक्षणृका यहां प्रश्न है. प्रकृति और पुरुष दोनृ ही भगवद्रूप हैं अतः उनके

सम्बन्धका विचार नहीं करना है. 'हे पुरुषोत्तम!' इस संबोधनसे ज्ञात होता है कि भगवान् उससे भी उत्तम हैं और उसीको जाननेके विषयमें पूछा है. 'अस्य'(इस जगत्के) 'कारणयोः' अर्थात् कारणभूत वे दोनों हैं, और उपादानकारण भी वे दोनों ही हैं. सत् और असत्, कार्य तथा कारण अथवा मोक्ष और बन्धन का कारण, सत्य-असत्य सब कुछ मूलभूत प्रकृतिपुरुषात्मक है. इसलिये उन दोनोंका ज्ञान होने पर सब समझमें आ सकता है यह इसका आशय है. पुरुष तो एक ही है. पुरुष और ईश्वरमें अणुमात्र भी भेद नहीं है. अतः इनमें भेदकी कल्पना वास्तविक नहीं है. जीव और ईश्वर [२]अवस्थाके भेदसे ही भिन्न हैं, स्वतः कोई भी भेद उनमें नहीं है. जो पुरुषका लक्षण है वह ही प्रकृतिका भी लक्षण है. यदि प्रकृति ही केवल होती तो अवस्थाभेद न होता. प्रकृति तो केवल मोह करने वाली ही है. प्रकृति-पुरुषका भेद होने पर ही पुरुष जब अपनेको प्रकृतिरूप मानता है तब जीवकी अवस्थाको प्राप्त होता है. जब प्रकृतिको इसका मूल मानता है तब स्वरूपमें ही स्थित रहते हुए जगत्का कारण होता है अथवा प्रदेशभेदसे कारण होता है. मूल प्रकृति और व्यामोहक प्रकृति दोनों ही पुरुषसे सम्बन्धित हैं. जैसे आकाशमें कहीं ग्रह दिखाई देते हैं कहीं नहीं दीखते इसलिये उस[३] मोहक प्रकृतिमेंसे भी जब मोहकता दूर हो जाती है तो वह मूल पुरुषके तुल्य ही हो जाती है. परन्तु मूलभूत प्रकृतिके साथ पुरुषका सम्बन्ध नहीं रहता है तो उसमें कर्त्तापन नहीं होता है. दोनोंका सम्बन्ध जिस तरहसे घटित हो वैसा ही पुरुष है ऐसा मानना चाहिये क्योंकि दोनों ही अवस्था देखी गई हैं.

आशंका हो सकती है कि जीवोंको मूलपुरुषसे भिन्न ही क्यों न माना जाय? ऐसा मानने पर श्रुतिस्मृतिका विरोध[४] आता है. प्रपञ्च(जगत्)को मिथ्या (असत्य) मानने पर [५]शास्त्रविरोध होता है, जीवोंका मोक्ष नहीं होगा. जीव एक है ऐसा मानने पर एक जीवकी मुक्ति होने पर सब जीवोंकी मुक्ति हो जायेगी और अविश्वास होगा. अतः दोनों जिस तरहसे घटित हों उस तरह मूलपुरुष और प्रकृति दोनोंको ग्रहण करते हैं ऐसा मानना चाहिये ।।९।।

गो.श्रीपुरुषोत्तमचरण विरचित 'प्रकाश'.

१.'कार्यकारणकर्तृत्वे' इस श्लोकमें कहे गये कर्त्तापनमें शंका करते हैं. यद्यपि यहां आक्षेप बोधक पद मूलमें स्पष्ट नहीं है तथापि 'कारणयोरस्य' इस द्विवचनसे पुरुषमें कारणताके आरोपसे प्रकृति समझी जाती है उसीका विवरण 'देहभावे' इससे किया

गया है. जब तक देहभाव पुरुषमॄ नहीं होता तब उसके पहले ही पुरुषमॄ कर्त्तापन कैसे होगा? और प्रकृति तो जड़ है अतः पुरुष और प्रकृति दोनॄ ही देहको उत्पन्न नहीं करॄगे तो कर्त्तापनके अभिमानको उत्पन्न करनेवाला पुरुष देहके हेतु(कारण)के अभावसे निष्पन्न नहीं हो सकता, यह प्रश्नका बीज है. यदि ऐसा देह प्रकृतिकी अपेक्षाके बिना ही जीवके द्वारा किया जाता है ऐसा यदि अभिप्राय हो तब तो तीन दूषण होते हैं. उन्हॄ बताते हैं कि जीव अपने ही लिये करते हैं ऐसा मानने पर अनन्त जगत्की उत्पत्ति होगी क्यॄकि जीव अनेक हैं. यदि मूलपुरुष जीवॄके लिये करता है तो आगे कहे हुए दो दोष होते हैं. इस तरह तीन दॄषॄकी आपत्ति होनेसे और जो परा(स्वतः) भिन्न जो प्रकृति उसके अभिध्यान–आत्मरूप ज्ञानसे बताया गया कर्त्तापन किसी तरह मूलपुरुषमॄ योग्य नहीं है इसलिये उसे जीव कहना भी उपयुक्त नहीं होगा इसलिये जगत्के कारणभूत इन दोनॄका कोई अलग ही लक्षण कहना होगा यह प्रश्न है.

शंका हो सकती है जिस तरह लक्षणका प्रश्न किया उस तरह सम्बन्धका प्रश्न क्यॄ नहीं किया? उसका उत्तर है कि दोनॄ ही भगवद्रूप हैं अतः सम्बन्धका प्रश्न नहीं किया. इस प्रकार प्रश्न ग्रन्थका तात्पर्य कहकर अब अन्य सांख्यसे यह सांख्य अलग है इसका विवेचन करनेकेलिये उत्तर ग्रन्थकी प्रणाली कहते हैं. पुरुष एक ही है. अन्य सांख्यॄमॄ पुरुष बहुत हैं ऐसा माना जाता है. जैसा कि ''पुरुषबहुत्वं व्यवस्थातः'' इस प्रवचन सूत्रसे जाना जाता है. अन्यत्व ऐसा भी कहा है कि पुरुषॄसे ईश्वर अन्य है. उनका कहना है कि पुरुषॄको मोक्ष देनेवाला ज्ञान है. ज्ञान स्वतः घटित हो नहीं सकता इसलिये ज्ञान देनेवाले ईश्वरकी आवश्यकता होती है. उक्त दोनॄ सांख्य कहने योग्य नहीं हैं इस आशयसे एकादश स्कन्धमॄ कहे गये एकमतको ही यहां कहते हैं.

२.लक्षण कहनेका तात्पर्य है जीव और ईश्वरका स्वरूपलक्षण. तो फिर अवस्था भेद कैसे होगा?

३. 'तस्यापि' का अर्थ है जीवभावापन्न प्रदेशका भी.

४.''स वा एष महान् अज आत्मा''(बृहदा.उप.४।४।२५) और ''यस्य आत्मा शरीरम्'' (बृहदा.उप.३।७।२२) इन श्रुतियॄसे विरोध होता है. ''अहम् आत्मा गुडाकेशः''(भग.गीता १०।२०) इस गीता स्मृतिका भी विरोध होता है. तो फिर मोक्षकेलिये सुकर होनेसे मायावादका ही आदर क्यॄ नहीं करते इसके लिये कहते हैं.

५.शास्त्रविरोध अर्थात् सत्कार्यवादका यहां प्रतिपादन किया जा रहा है उसका विरोध होगा. शेष सब स्पष्ट है. यहां 'पुरुषस्तु एक एव' यहांसे आरम्भकर 'मन्तव्यम्' यहां तक शास्त्र प्रणालीका निरूपण किया है.

आभास : मूलभूत प्रकृतिका लक्षण कहते हैं :

श्रीभगवान् उवाच

यत् तत् त्रिगुणम् अव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम् ।
प्रधानं प्रकृतिं प्राहुर् अविशेषं विशेषवत् ।।१०।।

श्लोकार्थ : भगवान्ने कहा जो त्रिगुणात्मक, अव्यक्त, नित्य और कार्यकारणरूप हैं तथा स्वयं निर्विशेष होकर भी सम्पूर्ण विशेष धर्मोंका आश्रय है उसे 'प्रधान' नामक तत्त्वको ही प्रकृति कहते हैं।।१०।।

व्याख्यार्थ: 'जो' [1]पहली कही है वह ही इस प्रकारके गुणसे विशिष्ट मूल प्रकृति है. जो त्रिगुण है वह प्रकृति है. सत्व, रजस्, तमस् ये गुण जिसके मूलभूत हैं. जिस तरह सच्चिदानन्द ब्रह्म है उसके क्रिया, ज्ञान और आनन्द धर्म भी होते हैं वैसे ही सच्चिदानन्दरूप 'प्रधान' है उसके अंशसे गुण भी निकलते हैं. 'अव्यक्तम्'का अर्थ है वह स्वयं किसी भी तरह प्रकट नहीं होती केवल उसका कार्य ही प्रकट रूपमे दीखता है. 'नित्यं'=जो सदा एकरूप है. 'सदसदात्मकम्' जो कार्यकारण रूप है. 'प्रधानम्'(मुख्य प्रकृति) यहां लक्ष्य है. 'प्राहुः' कहते हैं. यह ही यहां प्रमाण है. यह प्रधान(प्रकृति) ब्रह्मकी तरह अविशेष होते हुए भी विशेषता वाली है. इसके जितने भी विशेष हैं वे गुणकृत हैं इसलिये सब विशेष उसीके हैं ऐसा माना जाता है. यहां प्रकृति लक्ष्य है और प्रधान यह एक ही लक्षण है. इसको 'प्रधान' इसलिये कहते हैं कि भगवान्ने जगत्के कारणरूपसे इसका निर्माण किया है, अथवा यह प्रधान ही जगद्रूप है. वह प्रधान(प्रकृति) जगत्का करनेवाला है. इसके निर्वाहकेलिये भगवान्की ही तरह इसमे भी छः गुण होते हैं. उनको कहते हैं:

१.त्रिगुणम् २.अव्यक्तम् ३.नित्यम्
४.सदसदात्मकम् ५.अविशेषम् ६.विशेषवत्.

यदि ये छः गुण प्रधान(प्रकृति)मे नहीं होते तो त्रिविध सृष्टि नहीं हो सकती.

१.जिस तरह भगवान्मे ऐश्वर्य है उसी तरह प्रधान(प्रकृति)मे [2]त्रिगुण हैं. यदि ऐश्वर्यके सदृश ये तीन गुण न होते तो समान कर्मके होते हुए भी ऊंच-नीच गतियां नहीं होती. ये मूलधर्म सच्चिदानन्दके समान[3] भगवान्से उत्पन्न होने वाली प्रकृतिमे भी विद्यमान है. ऐसा होनेसे ही तो वह प्रधान-मुख्य है. यद्यपि

ये एक–एक लक्षण है. परन्तु भगवत्वके लिये छः कहे जाते हैं.

२.उसमृ 'अव्यक्त' दूसरा गुण है. उसकी ऐसी सामर्थ्य है कि वह किसीसे प्रकट नहीं है अन्यथा काल आदिसे अभिव्यक्ति हो जाती तो उसमृ अनित्यता हो जाती और वह अनित्यता होने पर फिर सृष्टि नहीं होती.

३.सदा एकरूप होना यह उसकी कीर्ति है. सदैकरूपताका प्रयोजन जीव व प्रकृतिसे इसे अलग करना है ऐसा कोई(श्रीधर) कहते हैं, यह उत्तराध्याय (आगेके अध्याय से) विरुद्ध पड़ता है. क्यृकि जीवप्रकृति और मूलप्रकृति दोनृ ही नित्य हैं.

४.'सदसदात्मकम्'से 'श्री'का ग्रहण होता है. सर्वात्मक होना यह उसकी शोभा(श्री) है.

५.'अविशेषम्' यह ज्ञानका हेतु है अन्यथा संसारी मुक्त न होते ज्ञानका कारण न होता तो सर्वकारण कैसे होता.

६.'विशेषवत्'का आशय है सब विशेष उसके हैं उसमृ कोई आश्चर्यकर नहीं है ये वैराग्यका कारण है ।।१०।।

१.पहले कहा इसका तात्पर्य है ''स एष प्रकृतिं सूक्ष्माम्''(भाग.पुरा.३।२६।४) इत्यादि.

२.यहां पर ऐश्वर्य स्थानापन्न त्रिगुण है.

३.सच्चिदानन्दका आभास ऐसा कहनेका भाव यह है कि ''प्रजायेय'' ऐसी जो इच्छा हुई इससे उनसे कुछ निम्न(जघन्य) भावको प्राप्त हुए.

आभास : प्रधानका लक्षण करके प्राधानिकका निर्देश करते हैं :

पञ्चभिः पञ्चभिर् ब्रह्म चतुर्भिर्दशभिस्तथा।
एतत् चतुर्विंशतिकं गणं प्राधानिकं विदुः।।११।।

श्लोकार्थ : पांच महाभूत, पांच तन्मात्रा, चार अन्तःकरण और दस इन्द्रियां इन चौबीस तत्त्वृके समूहको विद्वान् लोग प्रकृतिका कार्य मानते हैं।।११।।

व्याख्यार्थ: प्रधान(प्रकृति)से सम्बन्धित यह चौबीस प्रकारका गण कहा गया है. अर्थात् चौबीस प्रकारके भेदसे अलग–अलग चौबीसृका एक प्राधानिक गण है. 'विदुः' जानते हैं. यह जानना ही प्रमाण है. चौबीस संस्कारकी सिद्धि जिनसे होती है उनको बताते हैं. पांच–पांच ऐसा कहना उनको समझाने केलिये

है. इन चौबीस भेदोंसे भिन्न जगत् ब्रह्म ही है. चार प्रवर्तक हैं. इसलिये उनका पहले निर्देश किया बादमें इसका निर्देशन है. सांख्यशास्त्र होनेसे संख्यासे ही उसकी पूर्ति होती है ।।११।।

आभास : उन्हें नामसे कहते हैं :

महाभूतानि पञ्चैव भूरापो–ऽग्निर्–मरुद्–नभः ।
तन्मात्राणि च तावन्ति गन्धादीनि मतानि मे ।।१२।।

श्लोकार्थ : पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश ये पांच महाभूत हैं. गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द ये पांच तन्मात्राएं मानी गई हैं।।१२।।

व्याख्यार्थ: पहली पांच संख्याको पूर्ण करने वाले पांच महाभूत हैं. 'पञ्चैव'में आये हुए 'एव'का अर्थ 'ही' है. अर्थात् पांच ही हैं. इसलिये दिशा आदिका अन्तर्भाव आकाश आदिमें[1] है यह सूचित हुआ. उनको 'भूरापो ऽग्निर्मरुन्नभः'से गिनाया है. अग्निसे तेजका ग्रहण करना अथवा अग्निका ही ग्रहण करना. कुछ लोगोंका कहना है कि सूर्य आदिके तेजका अग्निमें ही अन्तर्भाव होता है. अन्य लोगोंका कहना है [2]सूर्य सम्बन्धी तेज तो भगवत्सम्बन्धी तेज है. मारुत्(वायु) नभ(आकाश). तन्मात्रा शब्द आदि. 'तावन्ति'(उतनी) पांच ही हैं. [3]स्वर सब शब्दमें अन्तर्भूत है. गन्धादिमें गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द. 'मे मतानि'का अर्थ है हमारे सिद्धान्तमें गन्ध आदिमें तन्मात्रापन है दूसरोंके मतमें गन्ध आदि गुण पञ्चमहाभूतोंसे उत्पन्न होते हैं, अर्थात् पञ्चमहाभूत इनका समवायि कारण है ।।१२।।

१.यह आदिशब्द ''दिक्कालावाकाशादिभ्यः''(साङ्ख्यसूत्र २।१२)यह प्रवचन सांख्यसूत्रको सूचित करता है.

२.सूर्यके तेजके विषयमें जो दो मत हैं वे श्रीधरस्वामीके नहीं हैं क्योंकि वहां इनकी कोई व्याख्या नहीं की है इसलिये ये दूसरोंके हैं.

३.'स्वर'से उदात्त, अनुदात्त, स्वरित अथवा निषाद आदिका ग्रहण है.

आभास : दस संख्याकी पूर्ति करते हैं :

इन्द्रियाणि दश श्रोत्रं त्वग्–दृग्–रसन–नासिका ।
वाक्–करौ चरणौ मेढ्रं पायुर् दशम उच्यते ।।१३।।

श्लोकार्थ : श्रोत्र, त्वचा, रसना, नासिका, वाक्, हाथ, चरण, उपस्थ, पायु(गुदा) ये दस इन्द्रियां हैं।।१३।।

व्याख्यार्थ: ज्ञानेन्द्रियाॅको पहले गिनाते हैं. श्रोत्र(कान) यह शब्दको ग्रहण करता है. त्वक् त्वगिन्द्रियं(चमडी), दृक्से दृष्टि अर्थात् आंखॅ. रसना (जीभ), घ्राणेन्द्रिय(नाक), वाक् आदि कर्मेन्द्रियां हैं. 'मेढ्रं'से गुप्त स्थान लेना ।।१३।।

आभास : चार संख्याको गिनाते हैं :

मनो बुद्धिर् अहङ्कारः चित्तम् इत्यन्तरात्मकम् ।
चतुर्धा लक्ष्यते भेदो वृत्त्या लक्षणरूपया ।।१४।।

श्लोकार्थ : मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त ये चार अन्तःकरणात्मक एक ही हैं किन्तु संकल्प, निश्चय, चित्त और अभिमान रूप चार प्रकारकी वृत्तियाॅसे यह लक्षित होता है।।१४।।

व्याख्यार्थ: मन, बुद्धि आदि चार क्या पर्यायवाची हैं? समाधान करते हैं कि ये चाराॅ अन्तरात्मक (अन्तःकरण रूपसे) एक ही हैं परन्तु मन, बुद्धि आदि भेदसे चार प्रकारसे लक्षित होते हैं. एक अनेक प्रकारसे लक्षित होता है उसमॅ हेतु है: वृत्ति. वृत्तिके भेदसे परस्पर भेद है. वृत्ति लक्षणरूपा है. अन्यका व्यावर्तक (पृथक करने वाला) लक्षण होता है. सामान्य वृत्ति तो भेद करने वाली होती नहीं ।।१४।।

आभास : शंका होती है कि चौबीस भेदसे भिन्न इसको तो गिना दिया दूसरा भी गिनाईये! इस पर कहते हैं :

एतावानेव सङ्ख्यातो ब्रह्मणः सगुणस्य ह ।
सन्निवेशो मया प्रोक्तो यः कालः पञ्चविंशकः।।१५।।

श्लोकार्थ : इस प्रकार तत्त्व ज्ञानी पुरुषाॅने सगुणब्रह्मके सन्निवेश स्थान इन चौबीस तत्त्वाॅकी संख्या बतलाई है. इनके सिवाय जो काल है वह पच्चीसवां तत्त्व है।।१५।।

व्याख्यार्थ: सगुण ब्रह्मकी इतनी ही संख्या है. शास्त्रमॅ इतनी ही संख्या वाला कहा गया है. जिसमॅ किसी अन्यका प्रवेश असम्भव हो और स्वधर्मवत्तया जिसका निरूपण हो उसे 'सन्निवेश' कहते हैं. यद्यपि काल इन चौबीससे अधिक है अतः उसकेलिये 'जो काल है वह पच्चीसवां है' यह कहा. अर्थात् काल भी प्राकृत है. प्रकृतिसे प्रथम काल उत्पन्न हुआ और अन्य चौबीस तत्त्व उत्पन्न हुए ।।१५।।

आभास : इस तरह एकदेशी मतसे कालका निरूपण करके फिर एकदेश मतसे निरूपण करते हैं:

प्रभावं पौरुषं प्राहुः कालम् एके यतो भयम्।
अहङ्कार–विमूढस्य कर्तुः प्रकृतिम् ईयुषः।।१६।।

श्लोकार्थ : कुछ लोग कालको पुरुषसे भिन्न तत्त्व न मानकर पुरुषका प्रभाव अर्थात् ईश्वरकी संहारकारिणी शक्ति बताते हैं. जिससे अहंकारसे मोहित और अपनेको कर्त्ता माननेवाले जीवको निरन्तर भय लगा रहता है।।१६।।

व्याख्यार्थ: कुछ लोग पुरुषके प्रभावको काल कहते हैं. प्रभाव पुरुषका कोई धर्मविशेष है अथवा सामर्थ्य विशेष है. ऐसा होनेमॄ हेतु है 'यतो भयम्'. जिस कालसे लोकका भय होता है. भय किसको होता है उसकेलिये कहा है 'अहंकार विमूढस्य' अहङ्कारसे जो बेभान है, ठगा गया है और आत्माको(अपनेको) अहङ्कार मानता है. अहङ्कारसे मूढ होनेमॄ कारण यह है कि जो कर्म आदिका करनेवाला(कर्ता) है वह अहङ्कारसे विमूढ होता है. जो प्रकृतिके साथ एकताको प्राप्त हो कर कर्म करता है वह पश्चात् अहङ्कारसे मूढ होता है. उसको कालसे भय होता है ।।१६ ।।

आभास : कपिलजी अपने मतके अनुसार कालका लक्षण कहते हैं :

प्रकृतेर् गुणसाम्यस्य निर्विशेषस्य मानवि!।
चेष्टा यतः स भगवान् काल इत्युपलक्षितः ।।१७।।

श्लोकार्थ : हे मनुपुत्री ! जिसकी प्रेरणासे गुणॄकी साम्यावस्थारूप निर्विशेष प्रकृत्तिमॄ गति उत्पन्न होती है, वास्तवमॄ वे पुरुषरूप भगवान् ही काल कहे जाते हैं।।१७।।

व्याख्यार्थ: गुणॄकी साम्यावस्था प्रकृति है. प्रकृतिके सम्बन्धी जो सत्व आदि गुण हैं उनकी समानता गुणक्षोभसे पहलेकी अवस्था है. वह गुणक्षोभसे पूर्व निर्विशेष होता है. मानवि! ऐसा सम्बोधन इस अभिप्रायसे है कि आप बड़ॄसे अर्थात् मनुसे उत्पन्न हुई हैं, अतः अलौकिक बातको भी आप जानती हैं. निर्विशेष गुणकी चेष्टा(क्षोभ) जिससे होती है वह काल कहा जाता है. कालसे ही गुणॄका क्षोभ होता है. वह काल भगवान् ही है. रूपपञ्चकमॄ उसकी गणना है. शंका होती है कि भगवान्की 'काल' ऐसी संज्ञा(नाम) किसलिये है? इसका उत्तर देते हैं 'इत्युपलक्षितः कलयति' अर्थात् प्रबुद्ध होना. सब प्राणी जिस काल रूपसे

ही प्रबुद्ध(ज्ञानको प्राप्त होते हैं) होते हैं. मृत्युके भयसे सब प्रबुद्ध(सावधान) होते हैं. इसलिये काल भगवद्रूपसे जाना जाता है. 'काल' कोई भगवान्का नाम नहीं है किन्तु प्राणियोंके बोधन(ज्ञान)का हेतु है, इस रूपसे इसका निरूपण है. ('कल' धातु गति और संख्या अर्थमें है. जो गत्यर्थक होता है, वह ज्ञानार्थक भी होता है) ।।१७।।

आभास : इस तरह कालको भगवान्का रूप बताकर उसकी उपलक्षणता का निरूपण करते हैं :

अन्तः पुरुषरूपेण कालरूपेण यो बहिः ।
समन्वेत्येष सत्त्वानां भगवान् आत्ममायया ।।१८।।

श्लोकार्थ : इस प्रकार जो अपनी मायाके द्वारा सब प्राणियोंके भीतर पुरुषरूपसे और बाहर कालरूपसे व्याप्त है वह भगवान् ही पच्चीसवां तत्त्व है।।१८।।

व्याख्यार्थ: एक ही भगवान् सब प्राणियोंके अन्दर पुरुषरूपसे हैं और [१]बाहर कालरूपसे हैं. ऐसा न होता तो भगवान्की व्याप्ति नहीं होती. जो बहिर्मुख हैं उन्हें कालरूपसे खा जाते हैं, अन्तर्मुख है उन्हें पुरुषरूपसे पोषित करते हैं. अतएव भगवान् सब प्राणियोंको अपनी मायासे अर्थात् सर्वभवनसामर्थ्यसे दोनों प्रकारके होकर समन्वित(व्याप्त) होते हैं. बाहर कालमें लयको प्राप्त होता है और भीतर पुरुषमें लीन होता है. काल भयको उत्पन्न करता है और पुरुष अभयरूप है यह इनमें विशेषता है ।।१८।।

१.यह प्रमेय 'वीर्याणि तस्याखिलदेहभाजाम्' इस श्लोकसे दशम स्कन्धमें राजा परीक्षितने इसका अनुवाद किया है और देवहूतिने जो 'ब्रूहि कारणयोरस्य' इस श्लोकसे प्रकृति तथा जगत् के कारणरूपसे जो पुरुषका प्रश्न किया था उसकी कारणताका बोधक यह श्लोक उत्तररूप है. ''विश्वं येन समन्वितम्'' इससे ज्ञानोपयोगी लक्षण पहले कह दिया था फिर भी लक्षणका जो प्रश्न किया इससे यह जाना गया कि पहलेकी बात समझमें नहीं आई है ऐसा जानकर समन्वयोपपादानसे यह उत्तर दिया है.

आभास : इस प्रकार उद्देश(नाम)से तत्त्वोंका निरूपण करके उत्पत्ति पूर्वक उनके लक्षण कहते हैं :

दैवात् क्षुभितधर्मिण्यां स्वस्यां योनौ परः पुमान् ।

आधत्त वीर्यं साऽसूत महत्तत्वं हिरण्मयम् ।।१९।।

श्लोकार्थ : जब परमपुरुष परमात्माने कालके द्वारा क्षोभको प्राप्त हुई सम्पूर्ण जीवॄकी उत्पत्तिके स्थानरूपा अपनी प्रकृतिमॄ चित्तशक्तिरूप वीर्य स्थापित किया तो उससे तेजोमय महत्तत्व उत्पन्न हुआ।।१९।।

व्याख्यार्थ: सबसे पहले चित्तकी उत्पत्तिको कहकर उसके आधिदैविक आदि भेदॄका निरूपण करते हुए लक्षण कहते हैं. आदिमॄ उत्पत्ति, तदनन्तर आध्यात्मिक लक्षण, बादमॄ आधिदैविक, और फिर आधिभौतिक –इस तरह एक ही पदार्थ चार प्रकारसे कहा जा रहा है. उनमॄ पहले महत्तत्वकी उत्पत्तिको कहते हैं. दैव अर्थात् कालसे क्षोभको प्राप्त हो गये हैं धर्म जिसके ऐसी पुरुषकी क्षेत्ररूपा प्रकृतिमॄ पुरुषने प्रथम अपने वीर्यका आाधान किया, जैसे पुरुष अपनी भार्यामॄ वीर्याधान करता है. अन्तर इतना है, पुरुषकी इन्द्रियां भी भगवान् जैसी हैं परन्तु भगवान्की इन्द्रियां आनन्दमय हैं और भगवान्का वीर्य सच्चित् अंश है. कुछ लोगॄका कहना है कि केवल चिदंश ही है, सदंश तो प्रकृतिके साथ संबद्ध हो जाता है. तब वह प्रकृति महत्तत्वको उत्पन्न करती है. उसका शरीर तेजोमय होता है, जैसे सूर्यके अर्न्तगत भगवान् नारायणका है. आनन्द और सत् की एकता होने पर हिरण्यरूपता होती है ।।१९।।

आभास : आध्यात्मिकका लक्षण कहते हैं:

विश्वम् आत्मगतं व्यञ्जन् कूटस्थो जगदङ्कुरः ।
स्वतेजसाऽपिबत् तीव्रम् आत्मप्रस्वापनं तमः ।।२०।।

श्लोकार्थ : जगत्के अंकुररूप इस महत्तत्वने अपनेमॄ स्थित विश्वको प्रकट करनेकेलिए अपने स्वरूपको आच्छादित करनेवाले प्रलयकालीन अन्धकारको अपने ही तेजसे पी लिया।।२०।।

व्याख्यार्थ: वह महत्तत्व सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्तिका कारण है. विश्वाधारता उसका लक्षण है. अंशतः ब्रह्माण्डका भी आधार है इसलिये उसे 'कूटस्थ' कहते हैं. यह महत्तत्त्व प्रकृति नहीं है इसलिये इसे जगत्का अंकुर कहा है. वृक्षकी पहली अवस्था जैसे अंकुर होती है इसी तरह यह महत्तत्त्व जगत्का अंकुर है. वह महत्तत्त्व विश्वको अपने अन्दरसे प्रकट करता है. किस तरह यह प्रकट करता है? तो कहते हैं कि जिस अन्धकारने पहले महत्तत्त्वको सुला दिया (लयको प्राप्त कर दिया था) उस मूलभूत तमको महत्तत्वने पी लिया. ऐसा न हो

तो जगत् किसी भी तरह अभिव्यक्त(प्रकट) नहीं हो सकता था. महत्तत्त्वके तीन माहात्म्य कहे हैं: १.जगत्को प्रकाशित करना २.जगत्को उत्पन्न करना ३.अतिसमर्थ अन्धकारको नष्ट करना. ये तीन लक्षण कारणभूत गुणत्रयके सूचक भी हैं जिनको क्रमशः सात्विक, राजस, तामस कहते हैं ।।२०।।

आभास : आधिदैविकका लक्षण कहते हैं :

यत्–तत् सत्त्वगुणं स्वच्छं शान्तं भगवतः पदम् ।
यदाहुर् वासुदेवाख्यं चित्तं तद् महदात्मकम् ।।२१।।

श्लोकार्थ : जो सत्त्वगुणमय, स्वच्छ, शान्त और भगवान्की प्राप्तिका स्थानरूप चित्त है वह महत्तत्त्व है, उसीको वासुदेव कहते हैं।।२१।।

व्याख्यार्थ: उसका आधिदैविकरूप वासुदेव है. वह वासुदेवके आविर्भावका स्थान है. वसुदेवमृ प्रकट होता है इसलिये 'वासुदेव' कहा जाता है. विशुद्ध सत्त्वका नाम 'वसुदेव' है. वह ही उसका आधिदैविक रूप है. जो सबके उपास्य रूपसे प्रसिद्ध है वह ही यह है. सत्त्वगुणका विग्रह है 'सत्त्वं गुणो यस्य' सत्त्व है गुण जिसका. सत्त्वका भी सत्त्व, उस सत्त्वके सच्चिदानन्दत्व केलिये तीन रूप कहे हैं. उनमृ सद्रूपताको कहते हैं: 'स्वच्छ' अति निर्मल, चिद्रूपताको 'शान्त'से कहा है. ज्ञान ही तो शान्तरूप होता है. 'भगवतः पदम्'से आनन्दरूप बताया है. 'भगवत:'का अर्थ है पुरुषोत्तम. 'पदम्'का अर्थ है आनन्दरूप. इस तरह सत्त्वका भी सत्त्व सच्चिदानन्द है. 'तच्चित्तम्' वह चित्त सब प्राणियोंमृ चेतनारूपसे स्थित है. उसकी उपासनाकेलिये अन्य नाम कहते हैं 'वासुदेवाख्यम्' वासुदेव है 'आख्या'(नाम) जिसकी. वासुदेव शरीररूप होनेसे अथवा वासुदेवका आधार होनेसे 'वासुदेव इत्याख्या यस्मात्' ऐसा विग्रह है. 'कहा है' यह ही प्रमाण है. उस प्रकारके चित्तकी उत्पत्ति तो कही नहीं? उस शंकाका उत्तर देते हैं 'तद् मदात्मकम्'. वह चित्त महत्तत्त्वरूप है इसलिये महत् उत्पत्तिके कहने से ही उसकी उत्पत्ति आ जायेगी ।।२१।।

आभास : आधिभौतिकका लक्षण कहते हैं :

स्वच्छत्वम् अविकारित्वं शान्तत्वम् इति चेतसः ।
वृत्तिभिर् लक्षणं प्रोक्तं यथाऽपां प्रकृतिः परा ।।२२।।

श्लोकार्थ : जिस प्रकार पृथ्वी आदि अन्य पदार्थोंके संसर्गसे पूर्व जल अपनी स्वाभाविक फेन–तरंगादि रहित अवस्थामृ अत्यन्त स्वच्छ, विकारशून्य

एवं शान्त होता है उसी प्रकार अपनी स्वाभाविकी अवस्थाकी दृष्टिसे स्वच्छत्व, अविकारित्व, शान्तत्व ही वृत्तियॉसे सहित चित्तका लक्षण कहा गया है।।२२।।

व्याख्यार्थ: [1]'स्वच्छत्व' निर्मलता, 'अविकारित्वं' सब विकारोंसे रहितता, 'शान्तत्व' ज्ञान रूपता. ये तीन विशेषण बुद्धि, मन और अहंकार से चित्तको अलग बतानेकेलिये दिये गये हैं. बुद्धि ज्ञानरूपा होते हुए भी विषयाकार होती है. अतः बुद्धिको स्वच्छ नहीं कहा जाता. चित्त तो निर्विषय है, केवल आत्माका ज्ञानरूप है अतः स्वच्छ है. मन तो विकारात्मक है यह स्पष्ट ही है. अहंकारमें शान्तता नहीं है, सात्विक अहंकार यद्यपि शान्त है परन्तु पदार्थ तो एक ही है. इसलिये केवल शान्तत्व शान्त-घोर-विमूढसे पृथक् हो जायगा. इसलिये ही चित्तका लक्षण वृत्तियोंसे कहा गया है. ये वृत्तियां अहंकार आदिमें नहीं होती. यद्यपि चित्त भी बुद्धि आदिसे विषयोंका ग्रहण करता है तो वह भी कलुषित हो जायगा, यदि ऐसा न होता तो चित्तके निरोधमें यत्न नहीं किया जाता! इसका उत्तर दृष्टान्त द्वारा देते हैं. 'यथा अपां प्रकृतिः परा' जैसे जलमें फेन(झाग) तरङ्ग(लहर) आदि होते हैं परन्तु ये फेन-तरङ्ग जलका सहज स्वभाव नहीं हैं किन्तु वायु आदिके द्वारा किया गया है. स्वभावसे तो जल निर्मल ही है अतएव जलकी पराप्रकृति स्वच्छ ही है. लक्षण तो स्वाभाविक ही होता है, कृत्रिम(बनावटी) तो उपाधिके कारण होता है. कभी भी पृथ्वी निर्मल नहीं हो सकती, वायु विकार रहित नहीं होता, तेज शान्त नहीं होता इसलिये जलमें जो कृत्रिमता(बनावटीपन) है वह इन पृथ्वी आदिके सम्बन्धसे ही होती है. इसी तरह चित्त स्वभावसे कलुषित नहीं है उसमें जो कलुषितता आती है वह उपाधिके द्वारा आती है ।।२२ ।।

१.स्वाभाविक स्वच्छता, अविकारिता और शान्तवृत्तिता जिसमें हो वह चित्त है यह चित्तका लक्षण सिद्ध है.

आभास : उत्पत्ति पूर्वक अहंकारका लक्षण पूर्वकी तरह ही 'महत्तत्त्वात्' आदि चार श्लोकोंसे कहते हैं :

महत्तत्वाद् विकुर्वाणाद् भगवद्वीर्यसम्भवात् ।
क्रियाशक्तिर् अहङ्कारः त्रिविधः समपद्यत ।।२३।।

श्लोकार्थ : तदनन्तर भगवान्की वीर्यरूप चित् शक्तिसे उत्पन्न हुए ज्ञानप्रधान महत्तत्वके विकृत होने पर तीन प्रकारका क्रियाशक्ति अहंकार उत्पन्न हुआ।।२३।।

व्याख्यार्थ: कालके द्वारा गुणॄमॄ जब क्षोभ(संचलन) होता है तब महत्तत्वमॄ विकार होता है. उस विकारके होने पर ही महत्तत्व कार्यको उत्पन्न करता है. विकारका तात्पर्य कार्यकी ओर अग्रसर होना ही है. केवल विकार मात्रसे ही कार्य उत्पन्न नहीं होता किन्तु सार्वजनिक [१]भगवच्छक्तिकी भी अपेक्षा होती है. भगवान्के वीर्यका संभव है जिसमॄ इस तरह 'भगवद्वीर्य-सम्भवात्'का विग्रह वाक्य है. जलको मथनेसे उसमॄ न रहने वाला घी कभी ीभ उत्पन्न हो सकता है? घी तो दूध अथवा दही मॄ ही उत्पन्न होता है. इस कथनसे [२]वैनाशिक (बौद्ध मतकी) प्रक्रियाका निराकरण(खण्डन) हो जाता है. नहीं तो सबसे सबकी उत्पत्ति हो जाती! यदि कहो कि स्वभाव उसमॄ नियामक है तो स्वभावके नियामक होनेमॄ प्रमाण[३] कहना पड़ेगा. जितने भी अचेतन(जड़) हैं वे सब नियमन करनेके योग्य हैं. केवल ईश्वर ही ऐसा है कि जिसके ऊपर किसीका नियम नहीं है, वह अनियम्य है. शास्त्रसे स्वभावका अन्यथाभाव जो लिखा है वह भी नहीं हो सकेगा. यदि कहो कि कपड़ेमॄ तन्तु आदि सामग्री कारण हैं, चिन्तामणि आदि भी कारण है, इस तरह इनको कारण माननेमॄ व्यभिचार दोष आयेगा. अतः केवल भगवान्की शक्ति ही जो सर्वभवनरूपा है और समुदायमॄ प्रतिनियम अथवा प्रत्येकमॄ भगवान्के नियमसे जहां होती है उसीसे कार्य होता है ऐसा ही युक्त है. इससे भगवान् ही उस प्रकारसे प्रकट होते हैं इसमॄ वैनाशिक प्रक्रिया लेशमात्र भी नहीं है. इस विषयमॄ श्रुति भी साक्षी है अन्यत्र तो श्रुतिविरोध है. इसलिये उचित ही कहा है 'भगवद्वीर्यसंभवात्'. ज्ञान प्रधान महत्तत्त्वसे क्रिया शक्ति अहंकार उत्पन्न हुआ और वह तीन प्रकारका है. उत्पत्तिसे ही उसमॄ तीन प्रकार हैं. भेद करने वाली क्रिया है इसलिये उस क्रियाने कार्यमॄ कारणभूत जो गुणत्रय हैं उन्हॄ भिन्नतासे ही उत्पन्न किया है ।।२३।।

२३ वॄ श्लोककी सुबोधिनीजीकी कठिन पंक्तियॄका प्रकाश द्वारा स्पष्टीकरण:

१.पहले महत्तत्वकी उत्पत्ति कही उससे ही महत्तत्व भगद्वीर्यसंभव है यह जान लिया था अब फिर उसका जो अनुवाद किया गया है उसका प्रयोजन कहते हैं 'न केवलम्'. केवल महत्तत्वकी विकृतिसे ही कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती किन्तु भगवद्वीर्य भी वहां विद्यमान है उससे ही सारा सत्-चित्-आनन्द आत्मक कार्य उत्पन्न होता है यह इसका अर्थ है.

२.भगवद्वीर्यसे कार्य संभव कहनेका अन्य प्रयोजन कहते हैं 'अनेनैव वैनाशिकप्रक्रिया

निराकृता'. ऐसा कहनेसे वैनाशिकप्रक्रिया(बौद्ध मत)का खंडन किया. वह कैसे किया गया इस शंकाका उत्तर बाधकतर्क उक्तिके द्वारा कहते हैं.

३.वैनाशिकप्रक्रिया आकस्मिक प्रक्रियाका एकदेश है. उस आकस्मिक प्रक्रियाको चार प्रकारके विकल्पसे दूषित किया है: '**हेतुभूति निषेधो न स्वानुपारव्यविधिर्न च, स्वभाववर्णना नैवम् अवधेर्नियतत्वतः**' (न्यायकुसु.१।५) असत्यसे सब उत्पन्न होता है ऐसी विधिको अनुपास्यविधि कहते हैं. वैनाशिक(बौद्ध) वेदबाह्य (वेदको न मानने वाले) हैं. उनकी यह प्रक्रिया है कि विनाशरूप जो अभाव है वह असत् है, उससे ही सब उत्पन्न होता है. इसमॄ दूषण यह है कि अभाव अलीक-असत्य है वह सर्वत्र सुलभ है, उससे सबसे सबकी उत्पत्ति होती है. परन्तु ऐसा देखा गया है कि सूतसे कपड़ा उत्पन्न होता है, मिट्टीसे घड़ा, नीमके बीजसे नीम उत्पन्न होता है यह सब नियतावधिक हैं. अतः भगवद्वीर्यसे संभव(उत्पत्ति) कहनेसे उसमॄ नियतावधिकताका बोध होता है. इससे वैनाशिक प्रक्रियाका खण्डन हो जाता है.

शंका हो सकती है कि उक्त युक्तिसे आपने अन्यवादका खण्डन किया है किन्तु स्वभाववादका खण्डन नहीं किया है. चुम्बककी सन्निधिमॄ लोहके परिभ्रमणमॄ मणिस्वभावकी तरह नियामकता देखी गयी है. यदि अवधि नियम नहीं होता तो चुम्बक लोहसे अतिरिक्त वस्तुआॄको भी खींच लेता. इस तरह एक जगह स्वभावको विधिनियामक देखनेसे दूसरी जगह भी उसका स्वभाव ही अवधिनियामक हो, वैसा होनेसे सबसे सबकी उत्पत्ति नहीं होगी! फिर किसलिये भगवद्वीर्यकी यहां स्थिति कही गई है? इस आशंकाके उत्तरमॄ कहते हैं. यद्यपि ऊपर कहे गये उदाहरणमॄ प्रत्यक्ष प्रमाण है तथापि उससे स्वभावकी अवधिनियामकता सब जगह निश्चित नहीं की जा सकती. पीपलके वृक्षमॄ तथा ईखके काण्डमॄ पुष्प कभी आते नहीं ऐसा उनका स्वभाव निश्चित है परन्तु जब देश तथा राज भङ्ग होने वाला है अथवा किसानको दारिद्र्य प्राप्त होने वाला होता है उस समय औत्पत्तिक पुष्प उनमॄ दीखते हैं! इस तरह यहां स्वभाव नियामक न होनेसे व्यभिचार आता है. यदि कहो कि वहां पर जीवका अदृष्ट या काल अथवा कोई ओर सहकारी भावसे वहां इष्ट है तब तो हेतुवादकी आपत्ति होनेसे आपका स्वभाववाद भग्न होगा! इसलिये स्वभावको अवधिनियामक माननेमॄ अन्य कोई प्रमाण कहना होगा. जो-जो अचेतन होता है वह वह नियम्य होता है, ऐसी व्याप्ति होनेसे स्वभाव भी नियम्य है तो उसका(स्वभावका) भी कोई नियामक होना चाहिये. अधिक क्या कहॄ, जो अचेतनका सहारा लेते हैं वे चेतन भी नियम्य हो जाते हैं तो जो अचेतन(स्वभाव) हैं वे नियम्य हों इसमॄ क्या कहना. इसलिये एक ईश्वर ही अनियम्य है अतः कहे गये प्रत्यक्ष और अनुमान(प्रमाणॄ)से स्वभाववादसे निर्वाह नहीं हो सकता.

शंका हो सकती है कि 'यः यः अचेतनः स स नियम्यः' ऐसी व्याप्ति सार्वत्रिक नहीं है. जैसे 'यत्र यत्र पृथिवीत्वं तत्र तत्र लोहलेख्यत्वम्' जहां-जहां पृथिवीत्व होता है वहां वहां लोहलेख्यता होती है किन्तु इस व्याप्तिका व्यभिचार हीरेमृ देखा गया है. हीरेमृ पृथिवीत्व है परन्तु लोहलेख्यता नहीं है. इस अरुचिसे दूसरा दूषण देते हैं 'शास्त्रके द्वारा स्वभावका जो अन्यथाभाव बताया गया है वह युक्ति संगत नहीं होगा' जैसे, वन्ध्या(बांझ)को पुत्र नहीं होता यह स्वभाव है, इसी तरह जो अवकेशी वृक्षके (उसके) फल नहीं आते यह स्वभाव है, परन्तु इस स्वभावका परिवर्तन पुत्रेष्टिके द्वारा एवं वृक्षशान्तिके द्वारा हो जाता है! याॄ जब बांझके भी पुत्र और फल रहित वृक्षके भी फल दिखाई देते हैं तब स्वभाव नियामक कहां रहा! यदि पूर्वमॄ बताई गई व्याप्ति नहीं होती तो शास्त्रसे होने वाला वह अन्यथाभाव युक्ति बाधित हो जाता. इस अरुचिसे कहते हैं कि स्वभाववाद भले ही 'न' हो तथापि जहां-जहां कार्य होता है वहां-वहां उस-उस कार्यका प्रागभाव रहता है, जैसे घड़ा जब तक उत्पन्न नहीं हुआ उसके पहले उसका अभाव था तो वह अभाव ही स्वाभावका और अवधिका नियामक हो जायेगा, ऐसा अर्धवैनाशिकॄका मत है उसीका आदर क्यॄ नहीं कर लेते! तो अब इसका खण्डन करते हैं कि जिस प्रागभावको अर्धवैनाशिक स्वभाव और अवधि का नियामक मानते हैं वह प्रागभाव कार्यकी जो कारणावस्था है उससे अतिरिक्त कहां है इसे बता सकते हो क्या? भविष्यमॄ होने वाले कार्यसे अनुभवमॄ आने वाला अभाव कारणावस्थासे अतिरिक्त हो इसमॄ कोई प्रमाण नहीं. अर्थात् जैसे मिट्टीसे जब तक घड़ा नहीं बनी तब तक घडेका अभाव जिसे 'प्रागभाव' नामसे कहते हैं वह अभाव किसमॄ है? तो यही कहा जायेगा कि मिट्टीमॄ है. और जब घड़ा बन जाता है तो उसका प्रागभाव नहीं रहता. इसका विस्तारसे उपपादन निबन्धके आवरणभङ्गमॄ किया है. वास्तवमॄ कारणता तो भगवान्की ही है सब जगह उसकी शक्तिसे ही कार्य सिद्धि होती है. वह श्रुति श्वेताश्वतर उपनिषद्मॄ पढ़ी गई है ''**ब्रह्मवादिनो वदन्ति किं कारणं ब्रह्म, कुतः स्म जाता जीवाम, केन क्व च सम्प्रतिष्ठः, अधिष्ठाताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम्**''(श्वेता.उप.१।१) इस ऋचासे प्रश्न कहकर और व्यवस्था निर्णयकी प्रतिज्ञा करके आगे पढ़ते हैं. ''**कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम्, संयोग एषां नत्वात्मभावाद् आत्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः**''(तत्रैव १।२) इस ऋचामॄ तो काल स्वभाव अदृष्ट आकस्मिक परमाणु प्रकृति पुरुष वादॄका 'चिन्त्यम्' ऐसा कह कर उसे दूषित कहकर सबके संयोगसे कार्यकी उत्पत्ति होती है इस वादको भी आधी ऋचासे पढ़ा गया है '**ते ध्यानयोगे तु ता अपश्यन् देवात्मकशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्**' (तत्रैव १।३). अतः इस श्रुतिके विरोधसे अन्य वादॄका भी आदर नहीं किया है.

आभास : आध्यात्मिक स्वरूपकी तरह उन भेदोंको गिनाते हैं :

वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्च यतो भवः।

मनसश्चैन्द्रियाणां च भूतानां महतामपि ।।२४।।

श्लोकार्थ : सात्त्विक–राजस–तामस इन तीन प्रकारके अहंकारसे क्रमशः मन, इन्द्रियां, पञ्चमहाभूतों तथा तन्मात्राओं की उत्पत्ति हुई।।२४।।

व्याख्यार्थ: वैकारिक=सात्विकसे, तेजस=राजससे तथा तामससे इन गुणोंसे तीन प्रकारके अहंकारकी उत्पत्ति हुई. आध्यात्मिकमें गुण ही उत्पादकत्व धर्म(गुण)के सहित लक्षण होते हैं. उसी तीन प्रकारके अहंकारसे मनकी इन्द्रियोंकी तथा पञ्चमहाभूतोंकी उत्पत्ति हुई. 'महताम्'से तन्मात्राएं ली जाती हैं. पञ्चतन्मात्राओंका कार्य उत्पन्न करना भी अहंकारका लक्षण है. अथवा मनः प्रभृति कार्योंको उत्पन्न करनेवाला और सत्व आदि गुणोंवाला यह भी अहंकारका लक्षण है, इस लक्षणमें किसी प्रकारका दोष नहीं है ।।२४।।

आभास : आधिदैविकका लक्षण कहते हैं:

सहस्रशिरसं साक्षाद् यम् अनन्तं प्रचक्षते।

सङ्कर्षणाख्यं पुरुषं भूतेन्द्रिय–मनोमयम्।।२५।।

श्लोकार्थ : अनन्त सिरवाले जिन्हें 'अनन्त' नामसे कहते हैं वे 'संकर्षण' नामक पुरुष भूतमय, इन्द्रियमय और मनोमय है।।२५।।

व्याख्यार्थ: जिस तरह पहले वासुदेव आधिदैविक था उसी तरह यहां संकर्षण है. स्वभावतः संकर्षण तामस है और प्रलय करने वाला है. जो अहंकारसे उत्पन्न किया जाता है वह कालाग्नि रुद्ररूप होनेसे नाशक ही होता है. संकर्षणकी उत्पत्ति अनेक प्रकारकी होती है इसको बतानेकेलिये इस देवताके अनन्त सिर हैं ऐसा निरूपण है. अथवा 'शिरस'का सुखभेद अर्थ लिया गया है. इसमें ''सहस्र–संमितः स्वर्गो लोकः'' यह श्रुतिप्रमाण है. इसलिये अहंकारसे निरूपित कर्म सफल और अनन्त होते हैं. 'अनन्त' शब्द काल, संकर्षण तथा शेष के अर्थमें प्रवृत्त होता है. 'प्रचक्षते' यह प्रमाणका वाचक है. भक्त जिसे 'संकर्षण' नामसे कहते हैं ऐसा सम्बंध है. 'संकर्षण' नामका कोई ओर देवता होगा ऐसी शंका न हो इसकेलिये 'पुरुषम्' पद दिया है. पुरुष ही संकर्षण है. मूलभूत काल संकर्षण नहीं है. तीन प्रकारका अहंकार इसका अधिष्ठाता है अतः वह संकर्षण भी भूत, इन्द्रिय और मन रूपसे तीन प्रकारका है. उस संकर्षणमें विद्यमान भूत, इन्द्रिय और मन

कार्यमॄ प्रकट होते हैं. यहां 'मयट्' प्रत्यय प्राचूर्य(अधिक) अर्थमॄ होता है और उसका सम्बन्ध प्रत्येकके साथ होनेसे भूतमय, इन्द्रियमय तथा मनोमय ऐसा सम्बन्ध है ।।२५।।

आभास : आधिभौतिकका लक्षण कहते हैं :

कर्तृत्वं कारणत्वं च कार्यत्वं चेति लक्षणम् ।
शान्त–घोर–विमूढत्वम् इति वा स्याद् अहङ्कृतेः।।२६।।

श्लोकार्थ : आधिभौतिक अहंकारका सत्त्व, रजस् और तमस् के अनुसार क्रमसे कर्तृत्व, कारणत्व और कार्यत्व लक्षण है. अथवा शान्तत्व, घोरत्व, विमूढत्व इस तरह भी लक्षण है।।२६।।

व्याख्यार्थ: प्राणियॊमॄ विद्यमान सात्त्विक अहंकारका लक्षरण 'कर्तृत्व' है. राजस अहंकारका लक्षण 'कारणत्व' है. तथा तामस अहङ्कारका लक्षण 'कार्यत्व' है. ये लक्षण धर्मके अनुसार हैं. अब धर्मिके अनुसार भी लक्षण बताते हैं. सात्विक अहंकारका लक्षण शान्तत्व है. शान्तत्व यह स्वरूपलक्षण है अतएव अहङ्कारसे शान्ति नहीं होती. घोरत्व राजस अहङ्कारका लक्षण है और विमूढत्व तामस अहङ्कारका लक्षण है. जो अहङ्कारसे रहित होता है उसमॄ शान्तत्व, घोरत्व और विमूढत्व ये भाव उत्पन्न ही नहीं होते हैं. निरहङ्कारी इसीलिये इन तीनॊसे विलक्षण और भगवत्पर होता है. 'वा' विकल्पार्थमॄ है. 'अहंकृतेः'का अर्थ अहंकारका. यहां 'अहंकृतेः'मॄ स्त्रीलिङ्गके प्रयोग का तात्पर्य यह है कि स्त्री जैसे दुर्बल होती है उसी तरह भौतिक अहंकारमॄ दुर्बलता है।।२६।।

आभास : मनकी उत्पत्ति कहते हैं :

वैकारिकाद् विकुर्वाणाद् मनस्तत्त्वम् अजायत ।
यत् सङ्कल्प–विकल्पाभ्यां वर्तते कामसम्भवः।।२७।।

श्लोकार्थ : कालकृत गुणक्षोभसे युक्त सात्त्विक अहंकारसे मनस्तत्त्वकी उत्पत्ति हुई. मनके संकल्प–विकल्पसे ही कामकी उत्पत्ति होती है।।२७।।

व्याख्यार्थ: आधे श्लोकसे उत्पत्ति और आधेसे आध्यात्मिक लक्षण बताया है. तीन चरणॊसे आधिदैविकका लक्षण और एक चरणसे आधिभौतिक का लक्षण बताया है. 'वैकारिकात्' अर्थात् सात्विकसे और 'विकुर्वाणात्'का अर्थ है कालकृत गुणक्षोभसे युक्त. 'भगवद्वीर्यसंभवात्' इसका अनुसन्धान सर्वत्र करना. सात्विकका विकार नहीं होगा इस आशंकाको दूर करनेकेलिये ही

'विकुर्वाणात्' इसका पुनः कथन है. मनकी दुष्टता अथवा अन्नमयताकी आशंका करके उसको निराकरण करनेकेलिये 'मनस्तत्त्वम् अजायते' मन तत्त्वकी उत्पत्ति हुई. उस आध्यात्मिक मनके कार्यलक्षण और स्वरूपलक्षण कहते हैं: संकल्प-विकल्परूपता स्वरूपलक्षण है और कामजनकता कार्य लक्षण है ।।२७।।

आभास : आधिदैविकका लक्षण कहते हैं:

यद् विदुर् ह्यनिरुद्धाख्यं हृषीकाणाम् अधीश्वरम् ।
शारदेन्दीवरश्यामं संराध्यं योगिभिः शनैः ।।२८।।

श्लोकार्थ : जो इन्द्रियाृका अधीश्वर है उसे अनिरुद्ध नामसे जानते हैं वह शरद्ऋतुमृ होनेवाले इन्दीवर(कमल)के समान श्याम है और जो योगियाृसे शनैः-शनैः आराधनीय है।।२८।।

व्याख्यार्थ: अनिरुद्धका अर्थ है पालन करनेवाला. यह अनिरुद्ध ही उसका देवता है. 'अनिरुद्ध'का अर्थ है जो किसीसे निरुद्ध नहीं हो सकता हो वह. अर्थात् किसीसे रोका नहीं जा सकता हो वही तो पालक होता है. इन्द्रियाृके अधीश्वर(स्वामी)को 'अनिरुद्ध' नामसे जानते हैं. इन्द्रियाृको नियन्त्रणमृ रखना यह ही उस अनिरुद्धका लक्षण है. बलिष्ठता, प्रभुता और प्रतीकार करनेके अर्थमृ ही उसका आधिदैदिक लक्षण है. उसमृ प्रतीकारकेलिये भगवान्की उपासना ही करनी चाहिये यह 'शारदेन्दीवरश्यामं'से बताया है. इन्दीवर रात्रीमृ विकसित होता है और शरद् सब दोषाृसे रहित है, तथा श्यामगुण शृंगारात्मक होता है. अतः उससे स्नेह करने पर सर्वदा सब दोषाृका अभाव होनेसे भगवान्की सेवामृ होने वाले मनके दोष निवृत्त हो जाते हैं. भौतिकका लक्षण कहते हैं 'योगिभिः शनैः संराध्यं' वशमृ करने योग्य उस मनको योगी धीरे-धीरे आराधना करते हैं. देवताका आराधन तो धीरे-धीरे नहीं होता, देवताका आराधन तो दीर्घकाल तक आदरसे और निरन्तर किया जाता है।।२८।।

आभास : बुद्धिकी उत्पत्तिको कहते हैं :

तैजसात्तु विकुर्वाणाद् बुद्धितत्वम् अभूत् सति ।
द्रव्यस्फुरणाविज्ञानम् इन्द्रियाणाम् अनुग्रहः।।२९।।

श्लोकार्थ : हे सति! तैजस अर्थात् राजसके विकारसे बुद्धितत्त्व उत्पन्न हुआ. द्रव्यस्फुरणका विज्ञान और इन्द्रियाृका अनुग्रह उस बुद्धितत्त्वका लक्षण है।।२९।।

व्याख्यार्थ: 'तु' शब्द सात्विकसे होने वाली उत्पत्तिको व्यावर्तित करता है(हटाता है). विकृत हुए राजससे बुद्धितत्त्व हुआ. 'सति!' इस संबोधनसे यह सूचित किया कि तेज(राजस)के होने पर भी सद्बुद्धि ही उत्पन्न होती है अथवा 'सति' यह विषयमृ है अर्थात् सब विषयवाली बुद्धि उत्पन्न होती है इसलिये बुद्धिके आधिदैविक रूपका निरूपण नहीं किया है. आध्यात्मिकका लक्षण बताते हैं 'द्रव्यस्फुरणविज्ञानम्'. जैसे मन इन्द्रियॄका प्रेरक है उसी तरह बुद्धिमृ इन्द्रियॄकी अनुग्राहकता है. बुद्धिसे अनुग्रहित ही इन्द्रियां देखती हैं(जानती हैं) और कार्य करती हैं. बुद्धिके तारतम्य(थोड़े बहुत भेद)से ही इन्द्रियॄके ज्ञानमृ तथा क्रिया मृ तारतम्य होता है. यह बुद्धिका लक्षण कार्यानुसारी है. अब बुद्धिका स्वरूपलक्षण बताते हैं: 'द्रव्यस्फुरणविज्ञानम्' द्रव्य जो घट आदिका जो स्फुरण होता है उसका विशेष ज्ञान शब्दसे, संस्कारसे अथवा देखनेसे होता है. आंखॄके देखने मात्रसे जो ज्ञान होता है उससे तारतम्यका ज्ञान नहीं हो सकता है. स्वतः स्फुरण योगजधर्म आदिसे भी होता है इसलिये द्रव्यके स्फुरणमृ ही जो विज्ञान होता है वही बुद्धिका लक्षण है, अर्थात् यहां 'द्रव्य'पद गुणॄका भी उपलक्षक है क्यॄकि गुण भी सूक्ष्म भूत रूप हैं अतः गुण भी द्रव्य है. पटरूप कार्यकी उत्पत्तिके अनन्तर तन्तु जो पहले कारण थे वे उस कार्यरूप पटके जैसे अवयव माने जाते हैं उसी तरह गुणॄमृ भूतसूक्ष्मत्व होते हुए भी गुणत्व अविरुद्ध है. स्फुरणका अर्थ है ''यह कुछ है'' इस प्रकार सत्ता मात्रका ज्ञान. उसे निर्विकल्पज्ञान कहा जाता है. निर्विकल्पज्ञानके अनन्तर होने वाले शब्द आदिसे जन्य द्रव्यादि विषयक जो विशिष्ट ज्ञान हैं वह बुद्धि है ऐसा बुद्धिका स्वरूप लक्षण फलित होता है ।।२९।।

आभास : विभागके निरूपणसे ही आधिभौतिकका लक्षण कहते हैं :

संशयोऽथ विपर्यासो निश्चयः स्मृतिरेव च।
स्वाप इत्युच्यते बुद्धेः लक्षणं वृत्तितः पृथक् ।।३०।।

श्लोकार्थ : संशय, विपर्यास(भ्रम), निश्चय, स्मृति और स्वाप(निद्रा) इन वृत्तियॄके भेदसे बुद्धिका लक्षण कहा जाता है।।३०।।

व्याख्यार्थ: एक ही बुद्धिके अनेक प्रकारकी होनेमृ द्रव्यस्फूर्तिका तारतम्य(थोड़ा बहुत भेद) कारण है. संशय वृत्ति सम और उत्कट कोटिक रूपसे दो प्रकारकी है. संस्कार और तेज ये दोनॄ जब तुल्यरूपसे प्रकाशक हॄगे उस समय विशेषकी स्फूर्ति न होनेसें सम संशय होगा और अल्पविशेषकी स्फूर्तिमृ

[२]उत्कट कोटिक संशय होगा. संस्कारकी प्रबलताके कारण तेज जब उसीके अनुगुण होकर धर्मको प्रकाशित करता है उसे 'विपर्यास' कहते हैं. 'अथ'का अर्थ है कि इसमृ एक ही स्फूर्ति होती है, संशयकी तरह दोकी स्फूर्ति नहीं होती. विपर्यास भिन्न अर्थ(पदार्थ)का प्रतिपादन करता है. क्रिया और ज्ञान मृ भिन्न विषयता है. इससे अन्यख्याति ही सिद्धान्त है यह सिद्ध होता है. अन्यथाख्याति माननेमृ उसमृ यथार्थता हो जायेगी. 'सीप'को देखकर ''मैं चांदीको जानता हूं'' ऐसा ही अनुभव होता है इसको 'विपर्यास' कहते हैं. सीपको मैं चांदीके रूपमृ जानता हूं ऐसा अनुभव नहीं होता, यदि ऐसा अनुभव हो तो वह 'विपर्यास' नहीं रहता वह तो यथार्थ हो ही जाता है. जिसकी ख्याति हो रही है उसे बुद्धिकी वृत्तिके रूपमृ मानृगे तो 'आत्मख्याति' हो जायेगी. संस्कार और शब्द मृ पदार्थकी मात्रा अपेक्षित है अतः देश–काल आदिका वैशिष्ट्य उसमृ नियामक नहीं है. 'रजतम् अहम् अनुभवामि' इस प्रकारका अनुव्यवसाय(ज्ञानका ज्ञान) होनेसे प्रमुष्टतत्तारूप स्मृति भी उसे नहीं कह सकते. अर्थात् आख्याति भी नहीं कह सकते. एक ज्ञानके तुल्य होनेसे दो ज्ञान[३] भी नहीं हो सकते. संस्कारकी प्रबलता होनेसे अनिर्वचनीय रजतकी अपेक्षा नहीं है अतः अनिर्वचनीय ख्याति भी नहीं है. संस्कारकी प्रबलताके कारणसे ही असत्ख्याति भी नहीं है. अतः'अन्यख्याति' ही सर्वप्रसिद्ध है.

'निश्चय' कहते हैं यथार्थानुभवको. अर्थ(घट पट आदि) ज्ञानका आधा अङ्ग है इसलिए 'अर्थ'के अभावमृ स्मृति निश्चयात्मिका नहीं हो सकती. अनुमिति भी सम्बन्धीके व्यवधानके कारण अर्थसे ही उत्पन्न होती है अतः वह भी निश्चयात्मिका नहीं है. सादृश्य भी रूपादिकी तरहसे निरूप्य धर्मरूप पदार्थ है. इस लक्षणमृ निरूपकभेदसहिष्णु रूपादिकी तरहसे निरूप्यधर्मरूप पदार्थसादृश्य है. यह लक्षण सादृश्यको पदार्थान्तर मानने पर होता है. यदि पदार्थान्तर नहीं मानृ तो निरूपकधर्मसे जातीय निरूप्यधर्म सादृश्य है ऐसा द्वितीय लक्षण करना होगा. अतः वह निश्चय लक्षणरूपसे ज्ञात द्रव्य स्फुरणसे स्फुरित संस्कारके द्वारा शब्दाभिव्यक्तिमृ वाक्यप्रामाण्यसे निश्चित होता है जैसे ''यह गवय(जंगली गाय) है''. चक्षुःसहकृत वाक्य अथवा वाक्यसहकृत सादृश्य उसमृ प्रमाण है. अनुग्राहकामृ अतिरिक्त प्रमाणता नहीं है. शब्द भी निश्चय ही है क्यृाकि वह धर्म सादृश्यसे अतिरिक्त संस्कारका जनक है. शब्दको प्रमाण इसलिये मानते हैं कि

शब्दसे द्रव्यकी स्फूर्ति होती है. उसमृ चक्षुकी अपेक्षा न रहनेसे शब्द प्रमाणान्तर है. प्रमाण तीन हैं. १.इन्द्रिय २.शब्द ३.मन अथवा १.चक्षु २.श्रोत्र ३.मन. स्पर्श आदि तो अन्यके अङ्गभूत हैं. मन योगजधर्म सहित हो तब प्रमाण है, अन्यत्र मन प्रमाण नहीं है. इसीलिये स्मृति प्रमाण है. सङ्घतात्मक ज्ञान(समूहालम्बनात्मक) अप्रमाण है वह तो विपर्ययरूप है. स्मृति स्वतन्त्र है. बुद्धि संस्कारको उत्पन्न करने वाली है. स्पाप तो स्वप्न(शयन)रूप भिन्न सृष्टिका विषय होने से पूर्वोक्त सृष्टियामृ अन्तर्भूत नहीं है. सुषुप्ति(गाढी नींद) तो बुद्धि नहीं है. मूढतामृ बुद्धिकी अवस्था नहीं होती आत्माकी स्फूर्ति तो स्वतः होती है अथवा यह भी स्वप्नका भेद ही है क्यूकि निद्रा ही तो सुषुप्तिमृ निमित्त कारण है. इस तरह वृत्तिके द्वारा पांच प्रकार बुद्धिका लक्षण जानना चाहिये. इससे स्मृति प्रमाण भेद अथवा स्मृति और अनुभेद दोनू ही एक ज्ञान होगा इत्यादि पक्षूका निवारण हो जाता है. अतः 'इदं' इस अंशमृ भी 'इदं रजतम्' यह ज्ञान अप्रमाण है. तात्पर्य यह है कि बुद्धिकी वृत्तियाकी गणनामृ भ्रमको भी वृत्तिरूपसे माना है. 'इदं रजतम्' यहां संस्कारकी प्रबलतासे बाहर वाले भ्रममृ अनुभव सामग्रीकी दुर्बलतासे 'इदं'(यह) अंश भी विपर्यस्त (भ्रमरूप ही) ही भासित होता है. यदि कहो कि 'अंशतः' उसमृ प्रमात्व स्वीकार कर लूगे यह ठीक नहीं. ज्ञानमृ अंश नहीं होता. ''सो अयं देवदत्तः'' यह तो अनुभव ही है. अभ्यासज्ञानमृ पूर्वज्ञानका जैसे संस्कार रहता है उसी तरह पूर्वस्मृति भी नेत्रकी सहकारिणी है. जैसे किसीको देखकर हम कहते हैं ''अरे! यह तो वही है''. यहां आंख जैसे उसके ज्ञानमृ कारण है उसी तरह पहलेकी स्मृति भी उसमृ सहायता करती है. भ्रम और प्रमा(प्रमाण) इन दोनूका ज्ञान जहां समूहरूपसे होगा वहां पर ''एकदेशविकृतम् अनन्यवत्'' एकदेशमृ विकार होनेसे वह दूसरा नहीं हो जाता जैसे कुत्तेकी पूछ कट जाय तो भी वह कुत्ता ही कहा जाता है, अन्य पशु नहीं कहा जा सकता इस न्यायसे जहां भ्रमकी अधिकता होती है वहां विपर्यास ही है और जहां प्रमाकी अधिकता होगी वहां निश्चय होगा. यदि भ्रम और प्रमा(प्रमाण) समानरूपमृ हूगे तो सम्भावना वाला संशय होगा. सम्भावना भी संशयान्तःपाती है ऐसा नहीं कह सकते क्यूकि इसमृ कोई प्रमाण नहीं है.

इस तरह बुद्धिकी वृत्तियूका विचार करके इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षज्ञान तो स्पष्ट है किन्तु शाब्दज्ञान सन्दिग्ध है इसलिये सर्व प्रथम जिस प्रकारका शब्द जिस प्रकारसे प्रमाण है उसे विचार करते हुए कहते हैं. सिद्धार्थ–वाक्यमृ(घट पट आदि

अर्थ जहां सिद्ध है वहां) शब्द प्रत्यक्ष सहकारी होनेसे प्रत्यक्षका ही कारण होगा. जहां अर्थ(घट आदि) साध्य होगा ऐसे लौकिक वाक्यमॄ(घटम् आनय) घड़ा लाओ. यहां अर्थ(घट आदि) बुद्धिकल्पित ही है, प्रत्यक्ष नहीं है अतः प्रमाणरूप ज्ञानका उदय न होनेसे प्रमाणके अभावसे अप्रामाणिकता होने पर भी प्रमेय बलसे उसमॄ प्रामाणिकताँ है. लोकमॄ वाक्यार्थ अपूर्व नहीं होता है किन्तु वक्ताके ज्ञान विशेषका विषय होता है वह ऐसे ही पद समूहका प्रयोग करता है जिससे वक्ताके अभिप्रायका ज्ञान सुनने वालेको हो जाय. पदॄसे पदसमूह भिन्न होता है. पद समूह ही वाक्यके अर्थका बोध करानेमॄ कारण है. यदि ऐसा स्वीकार न करॄ तो पदमॄ दो वृत्ति माननी पड़ेगी. पदार्थको यदि वाक्यार्थके करण मानें तो वाक्यार्थ शब्द न होकर आर्थ हो जायगा तो फिर शाब्द प्रमाणताका भङ्ग हो जायगा. सम्भावित जितना भी है वह अप्रमाण है यह हम आगे कहॄगे ।।३०।।

१.अनेक प्रकारके विषयॄकी जब स्फूर्ति हो उसे समसंशय कहते हैं. जैसे दूरसे किसी ऊंची वस्तुको देखकर जो संशय होता है कि ''यह ठूंठ है या पुरुष'' इसे समसंशय कहते हैं. यह साधारण धर्मसे उत्पन्न होता है.

२.यह संशय विप्रतिपत्तिसे उत्पन्न होता है जैसे ''जगत् सत्य है अथवा असत्य'' यह उत्कटकोटिक संशय है.

३.प्रभाकराचार्य ग्रहण और स्मरण इस तरह दो ज्ञान मानते हैं. अर्थात् एक ज्ञान स्मृतिरूप और दूसरा प्रमाणरूप. इस तरह ज्ञानकी दो राशि हो जाती है. इसमॄ दो अनुव्यवसाय नहीं हॄगे क्यॄकि स्मरामि(?) मानता चला जाता है अत: उसका तो यहां अभाव रहता है अत: अगृहीत और असंसर्गक दो ज्ञान माननेमॄ कोई दोष नहीं है, किन्तु ऐसा मानने पर ज्ञानद्वय हो जाय तो एक ज्ञान तुल्यवान् होनसे व्यवसाय और अनुव्यवसाय मॄ उसकी उपलब्धि नहीं होगी. इस तर्कसे उसके मूलभूत व्यवसाय और अनुव्यवसाय दोनॄसे एकज्ञानताका निश्चय होनेसे ज्ञानद्वय पक्ष ठीक नहीं है.

४.प्रयोजककर्ता प्रयोज्यकर्त्तासे ''घड़ा लाओ'' ऐसा कहता है उस समय प्रयोज्य कर्ताके सामने घटके न रहनेसे प्रमाणरूप ज्ञानका उदय नहीं होगा किन्तु केवल ज्ञान मात्रका ही उदय होगा. उस समय ज्ञानजनक वाक्यके अप्रामाणिक होने पर भी प्रमेयबलसे अर्थात् घड़ेको लाने वाली क्रियाके द्वारा उसमॄ प्रामाणिकता होती है. ऐसे स्थलमॄ परतः प्रामाण्य स्पष्ट होता है.

आभास : इस तरह अन्तःकरणचतुष्टयकी उत्पत्ति कहकर इन्द्रियॄकी उत्पत्ति कहते हैं :

तैजसानीन्द्रियाण्येव क्रिया–ज्ञान–विभागशः।
प्राणस्य हि क्रियाशक्तिः बुद्धेर्विज्ञानशक्तिता।।३१।।

श्लोकार्थ : कर्मेन्द्रियां और ज्ञानेन्द्रियां दोनॄ ही तैजस्(राजस्) हैं क्यॄकि क्रियाशक्ति प्राणकी है और विज्ञानशक्ति बुद्धिकी है, इसलिए दोनॄ ही प्रकारकी इन्द्रियां राजस् ही हैं।।३१।।

व्याख्यार्थ: ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियां दोनॄ ही प्रकारकी इन्द्रियां राजस ही हैं. ज्ञान कराने वाली इन्द्रियां सात्विक हो और क्रिया करने वाली इन्द्रियां तामस हो ऐसा नहीं है. ज्ञान अथवा क्रियाके करनेमॄ जो असाधारण कारण हो उसे इन्द्रिय कहते हैं. करण अतीन्द्रिय अथवा इन्द्रिय है. तत्त्व तो दस ही पदार्थविभाजक उपाधिरूप अलग है इसलिये उनको किसी एक लक्षणका निर्देश नहीं किया. कर्मेन्द्रियां और ज्ञानेन्द्रियां राजस हैं इसमॄ हेतु देते हैं 'प्राणस्य हि'. क्रियामॄ प्राण मूल है और ज्ञानमॄ बुद्धि. ये दोनॄ ही राजस हैं इससे अर्थापत्तिके द्वारा सिद्ध होता है कि दोनॄ ही प्रकारकी इन्द्रियां राजस ही हैं. प्राणसे यहां आसन्यप्राण लिया जाता है जो महत्तत्वका भेद है अथवा भगवद्रूप है. राजस अहङ्कारमॄ प्राणका अवतार होनेसे प्राण राजस है, तत्त्वसे वह राजस नहीं है और न उसकी उत्पत्तिका निरूपण किया है. अथवा मतान्तर सिद्ध वैदिक प्राणॄका यहां ग्रहण किया है. अथवा इन्द्रियॄका आध्यात्मिक रूप प्राण है. जब बुद्धि राजसी है तब उस बुद्धिसे अनुग्रहित सब राजस ही है और प्राण क्रियाप्रधान होनेसे उसमॄ राजसत्व है. प्राण भी सब इन्द्रियॄका अनुग्राहक है और प्राणसे ही इन्द्रियॄमॄ क्रियाजनक शक्ति होती है. विज्ञानशक्तिताका अर्थ है विज्ञानरूप शक्ति है जिसकी. बुद्धिका भाव आगे कहा जायगा. इन्द्रियॄके लक्षण अलग हैं ।।३१ ।।

आभास : पञ्चमहाभूतॄकी सृष्टि कहते हैं :

तामसात् च विकुर्वाणाद् भगवद्वीर्यचोदितात्।
शब्दमात्रम् अभूत् तस्माद् [+]नभः श्रोत्रं तु शब्दगम् ।।३२।।

श्लोकार्थ : तामस अहंकारसे भगवान्की प्रेरणासे पूर्ववत् विकार होनेसे सर्वतः प्रथम शब्दमात्र उत्पन्न हुआ और उससे पीछे आकाश उत्पन्न हुआ क्यॄकि शब्द मात्र ही श्रोत्रगम्य है।।३२।।

व्याख्यार्थ: तामस अहङ्कारसे पूर्वकी ही तरह विकार होनेसे तथा तामस होनेके कारण वह भगवान्के वीर्यसे प्रेरित किया जाता है. भगवद्वीर्य उसमॄ

केवल सत्तारूपसे ही नहीं रहता है किन्तु प्रेरणा करता है. सर्वतः प्रथम शब्दमात्र ही उत्पन्न हुआ उसके पश्चात् आकाश. शब्द है इसमृ प्रमाण देते हैं 'श्रोत्रं तु शब्दगम्' शब्द कानृसे जाना जाता है क्यृकि शब्द कानसे ही ग्रहण किया जाता है. शब्दका धर्म भी शब्द ही है इसलिये लक्षणकी अतिव्याप्ति नहीं होती है. शब्दधर्म भी कानमृ जाता है. शब्दके आधारृकी गति स्वतन्त्ररूपसे नहीं होती है इसलिये उसका समावेश नहीं किया है ।।३२ ।।

आभास : शब्दके लक्षण कहते हैं :

अर्थाश्रयत्वं शब्दस्य द्रष्टृलिङ्गत्वमेव च ।
तन्मात्रत्वं च नभसो लक्षणं कवयो विदुः ।।३३।।

श्लोकार्थ : अर्थका आश्रय शब्द(घट-पटका) है. अर्थात् अर्थाश्रय शब्दत्वं यह शब्दका लक्षण है. शब्दका ज्ञान देखनेसे, स्वरसे तथा दृश्य और ज्ञापकके द्वारा भी होता है. अतः शब्दका लक्षण 'द्रष्टृलिङ्गत्वं' यह किया गया है. इसी तरह आकाशकी तन्मात्रा होनेसे 'नभसः तन्मात्रत्वं' यह भी शब्दका लक्षण है।।३३।।

व्याख्यार्थ: शब्दके ही सहारेसे अर्थ रहता है. अर्थात् अर्थ, शब्दके अधीन है. 'घट-पट' आदि अर्थोंके तीन रूप हैं: आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक. उनमृ आधिदैविक रूप शब्दनिष्ठ है, शब्दसे ही जाना जाता है और शब्दसे नित्य सम्बद्ध है. अर्थ जो घट पटादिक हैं उसका आधिभौतिक रूप तो प्रकट रूप है, वो शब्दके अधीन नहीं है किन्तु पृथिवी आदि उसके आश्रय (आधार) हैं. आध्यात्मिक तो ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न के अधीन है. इस तरह इन तीनृ भेदृसे वह शब्द सर्वत्र लक्षित होता है. 'अर्थाश्रयत्वं शब्दस्य' यह शब्दका लक्षण है, आकाशका लक्षण नहीं है.

दूसरा लक्षण कहते हैं 'द्रष्टृलिङ्गत्वमेव च' द्रष्टा अर्थोंका आध्यात्मिक अर्थ तो ज्ञापित करता है(समझाता है) जैसे दीवारकी ओटसे हाथीको देख कर ''यह हाथी है'' ऐसा कहता है तब अन्तःस्थित वाक्यका प्रयोग करनेवाला, हाथीका देखनेवाला है. अर्थात् ''हाथीको इसने देखा है'' ऐसा जाना जाता है जिस तरह देखनेसे जानता है स्वरसे भी(परिचित पुरुषके स्वरको सुनकर) ''यह देवदत्त है'' ऐसा जान जाता है. यह धर्मसे शब्दका लक्षण है. 'च'कारसे दृश्य और ज्ञापक भी लक्षण है. यह भौतिक घट आदिका बोध कराता है. शब्दका अन्य

लक्षण भी बताते हैं 'तन्मात्रत्वं च नभसः' आकाशकी तन्मात्रता अर्थात् आकाशकी सूक्ष्मरूपता यह भी शब्दका लक्षण है. आकाशकी सूक्ष्मावस्था शब्द और उसकी स्थूलावस्था आकाश है. कुछ लोग इसको विपरीत रूपसे भी मानते हैं उनका कहना उचित नहीं है किन्तु पूर्वोक्त ही ठीक है इसमृ 'कवयो विदुः' यह प्रमाण है. शास्त्रज्ञ लोग ऐसा कहते हैं ।।३३।।

आभास : आकाशका लक्षण कहते हैं :

भूतानां छिद्रदातृत्वं बहिरन्तरमेव च।
प्राणेन्द्रियात्मधिष्ण्यत्वं नभसो वृत्तिलक्षणम् ।।३४।।

श्लोकार्थ : जो प्राणियृको अवकाश देता है बाह्य और आम्यन्तर रूप है तथा प्राण, इन्द्रियां और अन्तःकरण का धारक है इस तरह तीन प्रकारसे आकाशकी वृत्तिका लक्षण है।।३४।।

व्याख्यार्थः भूतानां(प्राणियृको) 'छिद्रदातृत्वम्'(अवकाश देनेवाला) है. तथा जो बाह्यरूप और आन्तररूप है एवं प्राण, इन्द्रिय और अन्तःकरण इनका धिष्ण्य(धारण करनेवाला) है –इस तरह आकाशके तीन लक्षण हैं. छिद्रका अर्थ अवकाश(पोल या खाली जगह) है. इसी तरह बाहर और अन्दर इस प्रकारका व्यवहार भी आकाशसे होता है. पृथिवी आदि तो आवरणरूप हैं इसलिये उनमृ बाहर और अन्दर इस प्रकारके विषयका व्यवहार नहीं हो सकता. पृथिवी आादि परिच्छेदक मात्र ही हैं. व्यवहारका कारण प्रदेश नहीं होता क्यृकि प्रदेश तो तुल्य ही होता है. विवर(छिद्र)मृ व्यवहार है अतः आकाश ही बाहर और अन्दर इस व्यवहारका कारण है. 'बहिरन्तरमेव च' यहां 'च'से पृथिवी आदि सबका आधार आकाश है यह भी आकाशका लक्षण है. आकाशका अन्य लक्षण कहते हैं 'प्राणेन्द्रियात्मधिष्ण्यत्वम्' आकाश प्राण, इन्द्रिय और अन्तःकरण का आधारभूत स्थान है. 'धिष्ण्य' शब्दसे उस स्थानकी वैदिकता द्योतित की है. आकाश तीन प्रकारसे वर्तता है(रहता है). अपने आधिभौतिक रूपको तो वह स्वयं ही देता है इसलिये उसमृ आधिदैविकता है. आकाशके बाहर और अन्दरके व्यवहारका आश्रय होनेसे उसे आध्यात्मिकता है और देहके अन्दर स्थित पदार्थोंका आश्रय होनेसे आधिभौतिकता है ।।३४।।

आभास : स्पर्श और वायुकी उत्पत्ति आदि कहते हैं :

नभसः शब्दतन्मात्रात् कालगत्या विकुर्वतः।

स्पर्शोऽभवत् ततो वायुः त्वक् स्पर्शस्य च सङ्ग्रहः।।३५।।

श्लोकार्थ : कालकी गति(प्रेरणासे) गुणक्षोभके कारण आकाशसे तथा शब्दकी तन्मात्रा(सूक्ष्माकाश)से स्पर्श हुआ. स्पर्शसे वायु और त्वगिन्द्रिय की उत्पत्ति हुई. उस त्वगिन्द्रियसे स्पर्शका ठीक तरहसे ज्ञान होता है।।३५।।

व्याख्यार्थ: शब्द तन्मात्रा आदि शब्द विशेषण नहीं है किन्तु स्थूल आकाशसे स्थूल कार्य होता है और शब्द तन्मात्रा(सूक्ष्माकाश)से सूक्ष्म कार्य होता है ऐसा ज्ञान करानेके लिये है. कालकी प्रेरणासे होने वाले गुणक्षोभसे यह विशेषण 'नभसः' और 'शब्दतन्मात्रात्' इन दोनॄमॄ लगता है. पहले स्पर्श तन्मात्राकी उत्पत्ति हुई, उसके अनन्तर वायु और त्वचा इन्द्रियका. 'स्पर्शस्य संग्रहः' का अर्थ है स्पर्शका ठीक तरहसे ज्ञान जिससे होता है वह त्वचा है. त्वचा ही संग्रह(सम्यक् ज्ञानका) कारण है. 'स्पर्शस्य च'के 'च'से वायुका भी ज्ञान स्पर्शसे होता है. ऐसा नहीं कि जैसे श्रोत्र शब्द मात्रका ही ग्राहक है अन्यका नहीं यहां तो त्वचा स्पर्शके ज्ञानके साथ-साथ वायुका भी(स्पर्शके द्वारा) ज्ञान कराती है ।।३५।।

आभास : स्पर्श ही है लक्षण जिनका ऐसे स्पर्शके भेद प्रत्यक्ष सिद्ध हैं इसलिए उनको गिनाते हैं :

मृदुत्वं कठिनत्वं च शैत्यम् उष्णत्वमेव च।
एतत् स्पर्शस्य स्पर्शत्वं तन्मात्रत्वं नभस्वतः ।।३६।।

श्लोकार्थ : मृदुता, कठिनता, ठंडापन, गर्मी यही स्पर्शका स्पर्शत्व है. वायुका सूक्ष्मरूप उसकी तन्मात्रा(स्पर्श) है।।३६।।

व्याख्यार्थ: स्पर्श चार प्रकारका है: १.मृदु(कोमल) कपास(रुई) आदिमॄ है, २.कठिनता पत्थरमॄ आदिमॄ, ३.ठंडापन(ठंडक) और ४.गरमी ये चार प्रकार हैं. ये चार प्रकारके स्पर्शका स्वरूप ही है. कार्य मॄ ये एक-एक अभिव्यक्त होते हैं(प्रकाशमॄ आते हैं). उष्णत्व तेजमॄ, शीतत्व जलमॄ, पकी हुई पृथ्वीमॄ कठिनता और अपक्व(कच्ची) भूमिमॄ मृदुता. यह स्पर्शका स्पर्शत्व है. जो छुआ जाता है उसे स्पर्श कहते हैं इस व्युत्पत्तिसे स्पर्शनेन्द्रिय ग्राह्यत्वमॄ अथवा वायुमॄ भी स्पर्श है. व्याकरणादिमॄ 'क'से लेकर 'म' पर्यन्त वर्णोंको 'स्पर्श' कहते हैं. लोकमॄ किसीसे छू जानेको भी स्पर्श कहते हैं. इनमूसे कोई एक भी यहां 'स्पर्श' नामसे नहीं कहा गया है किन्तु मृदुत्त्व आदि ही स्पर्शका स्पर्शत्व है. अन्य लक्षण और

कहते हैं 'तन्मात्रत्वं नभस्वतः'. वायुका सूक्ष्मरूप उसकी तन्मात्रा(स्पर्श) है ।।३६।।

आभास : वायुका लक्षण कहते हैं :

चालनं व्यूहनं प्राप्तिः नेतृत्वं द्रव्य–शब्दयोः ।
सर्वेन्द्रियाणाम् आत्मत्वं वायोः कर्माभिलक्षणम् ।।३७।।

श्लोकार्थ : वृक्षाृकी डाली पत्ताृ आदिको चलाना, पत्र आदिको इकठ्ठा कर देना, गन्धको नाकके पास ले जाना, अन्य देशमाृ स्थित द्रव्य तथा शब्द को अन्य देशमाृ ले जाना तथा सब इन्द्रियाृकी आत्मापन यह वायुके कर्मके सब प्रकारसे लक्षण हैं।।३७।।

व्याख्यार्थ: चालन आदि पांच प्रकारके वायुके कर्म पांच वायुके लक्षण है. चालन=वृक्षकी डाली आदिको चलाना(हिलाना), पड़े हुए घास आदिको चक्रवातरूपसे मिलाना 'व्यूहन' कहलाता है. 'प्राप्ति' कहते हैं गन्धको नाकमाृ पहुंचाना. 'द्रव्यशब्दयोर्नेतृत्वम्'का अर्थ है अन्य जगह पड़े हुए वस्त्र आदिको अन्य देशमाृ ले जाना. भेरी और दण्ड का संयोग होने पर उत्पन्न होनेवाला शब्द कान तक तो स्वभावसे ही पहुंचता है परन्तु वायु यदि विपरीत दिशाकी हो तो वह शब्द पासमाृ होते हुए भी सुनाई नहीं देता और अनुकूल वायु होने पर तो दूरसे भी सुनाई देता है इसलिये शब्दको देशान्तरमाृ ले जाना यह वायुका कार्य है. और सब इन्द्रियाृकी आत्मा वायु है. वायुके अभावमाृ इन्द्रियां कुछ भी कार्य नहीं कर सकतीं. यह पांच प्रकारका वायुका कर्मसे सब ओरसे लक्षण है ।।३७।।

आभास: तेजकी उत्पत्ति कहते हैं :

वायोश्च स्पर्शतन्मात्राद् रूपं दैवेरिताद् अभूत् ।
समुत्थितं ततस्तेजः चक्षू रूपोपलम्भनम् ।।३८।।

श्लोकार्थ : वायुके स्पर्शतन्मात्रासे कालकी प्रेरणासे रूप उत्पन्न हुआ, रूपसे तेजकी उत्पत्ति हुई. रूपकी उपलब्धि(रूपका ज्ञान) नेत्राृके द्वारा होती है।।३८।।

व्याख्यार्थ: पूर्ववत् स्पर्शतन्मात्रासे रूपतन्मात्रा उत्पन्न हुई. दैवसे कालका ग्रहण है 'ईरितात्' यह स्पर्शका तथा स्पर्शतन्मात्राका दोनाृका विशेषण है. कालकी प्रेरणासे पहले रूप और रूपसे तेज उत्पन्न हुआ. रूपकी उपलब्धि जिससे होती है वे नेत्र, रूपकी सत्ताके विषयमाृ प्रमाण हैं ।।३८।।

आभास : रूपके लक्षणाको कहते हैं :

द्रव्याकृतित्वं गुणता व्यक्तिसंस्थात्वमेव च।

तेजस्त्वं तेजसः साध्वि! रूपमात्रस्य वृत्तयः ।।३९।।

श्लोकार्थ : द्रव्याकृतिता, गुणता, व्यक्तिसंस्थात्व और तेजमा तेजस्त्व ये चार रूपमात्रकी चार वृत्तियां हैं।।३९।।

व्याख्यार्थ: द्रव्य जो घटादि हैं उनकी आकृति ही रूपकी आकृति है. उदर(मध्य)मा मोटापनका आकार ही रूप है. और आतान वितानात्मक भी रूप हैं. द्रव्यकी ही आकृति है ऐसा कहनेसे द्रव्यमा उपमेयता नहीं है किन्तु उपमानता है इसलिये रूप ही का यह लक्षण है. गुणताका तात्पर्य है सर्वदा उसकी उपसर्जन(गौणरूप)से ही प्रतीति होती है. शब्द आदिमा ऐसा नहीं है. वे स्वतन्त्र रूपसे भी प्रतीत होते हैं. व्यक्ति संस्थाका विग्रह 'व्यक्तेः संस्थैव संस्था यस्य' ऐसा है. यदि टेढी है तो रूप भी टेढा ही होगा. रूपवान्के बैठनेपर रूप भी समीपमा बैठ जाता है. आतान और वितानात्मक संकोचके भेदके कारण ही ऐसा होता है. तेजका तेजस्त्व रूपतन्मात्रता है जो रूपकी सूक्ष्मावस्था है. साध्वि! यह सम्बोधन इसलिये दिया है कि यह तुम्हे मोहित नहीं कर सकता है. द्रव्याकृतित्व, गुणता, व्यक्तिसंस्थात्व और तेजका तेजस्त्व चार वृत्तियां रूपतन्मात्रा की अथवा सर्वगत रूपकी है।।३९।।

आभास : तेजके लक्षणाको कहते हैं:

द्योतनं पाचनं पानम् अदनं हिममर्दनम्।

तेजसो वृत्तयस्त्वेताः शोषणं क्षुत्–तृडेव च ।।४०।।

श्लोकार्थ : प्रकाश, पाचन, पीना, भोजन, शीतको दूर करना, सुखाना, भूख और प्यास लगाना ये तेजकी वृत्तियां है।।४०।।

व्याख्यार्थ: द्योतन=सूर्य आदिकी तरह प्रकाशित करना. पाचन पेटकी अग्निका काम है. अथवा रसोई(भोजन) आदि बनाने करनेमा. पान जल आदिका, तेजके बिना और कोई नहीं पीता. अदन(भक्षण) अग्नि ही खाती है. हिममर्दन (ठंड)को दूर करना. शोषण=सुखाना –ये तेजकी पांच वृत्तियां हैं, पांच कार्य हैं. उनमा तीन द्योतन, पाचन और हिममर्दन तो प्रत्यक्ष सिद्ध हैं. शोषणका अनुमान होता है. वायुसे भी धूपमा जलका खिचाव शीघ्रतासे होता है. पान(पीना) और अदन(खाना) ये तेजके कार्य नहीं हैं. क्याूकि पान और भक्षण चेतनके द्वारा ही

होते हैं. भूख और प्यास से ही खान-पान होता है. क्यृकि ये दोनृ भूख-प्यास रूप तेज ही है. इसलिये पान और भक्षण तेजके ही कार्य उचित हैं ।।४० ।।

आभास : जलकी उत्पत्तिको कहते हैं :

रूपमात्राद् विकुर्वाणात् तेजसो दैवचोदितात् ।
रसमात्रम् अभूत् तस्माद् अम्भो जिह्वा रसग्रहः ।।४१।।

श्लोकार्थ : कालकी प्रेरणासे रूपतन्मात्रा तथा तेजसे रसमात्राकी उत्पत्ति हुई और उस रससे जलकी उत्पत्ति हुई रसका ज्ञान जीभसे होता है।।४१।।

व्याख्यार्थ: रूप तथा तेज तन्मात्रा मृ कालकी प्रेरणासे विकृति होने पर पहले रसतन्मात्रा उत्पन्न हुई और रसतन्मात्रासे जलकी उत्पत्ति हुई. जीभ रसका ग्रहण करती है इसलिये वह जलीय है, रस है इसमृ जीभ ही प्रमाण है।।४१ ।।

आभास : रसृका लक्षण भेदके कथनसे ही कहते हैं :

कषायो मधुरस्तिक्तः कट्वम्ल इति नैकधा ।
भौतिकानां विकारेण रस एको विभिद्यते ।।४२।।

श्लोकार्थ : भौतिकृके विकारसे एक ही रस कषाय, मधुर, तिक्त, कटु, अम्ल इस तरह अनेक भेदको प्राप्त होता है।।४२।।

व्याख्यार्थ: खेर(कत्था) आदिमृ कषाय रस है. गुड़ आदि मधुर हैं. नीम आदि कटु(कडुवे) हैं. इमली आदि अम्ल(खट्टा) रस हैं. लाल मिर्च तिक्त रस है. 'नेकधासे' बताया है कि इस तरह अनेक प्रकार होता है. यदि स्वभावसे ही रस इस प्रकारका है तो जलमृ उसकी उपलब्धि होनी चाहिये. और मधुर रस भी पाक आदिके कारण तिक्त नहीं होना चाहिये.(जैसे गुड या खांड जल जाती है तो कड़वी हो जाती है) इसकेलिये कहते हैं कि 'भौतिकानां विकारेण'. यद्यपि रस तो एक ही है किन्तु भौतिक पृथिवीके अवयवृका संश्लेष होनेसे अनेक भेद वाला हो जाता है. वास्तवमृ देखा जाय तो रस एक ही प्रकारका है और वह अव्यक्त मधुर है ।।।४२।।

आभास : जलके लक्षणृको कहते हैं :

क्लेदनं पिण्डनं तृप्तिः प्राणनाप्यायनोदनम् ।
तापापनोदो भूयस्त्वम् अम्भसो वृत्तयस्त्विमाः ।।४३।।

श्लोकार्थ: गीला करना चून(आटे) आदिका पिण्ड बनाना, तृप्ति करना, जीवन देना, प्राणृको तृप्त करना, प्रेरणा देना, सन्ताप दूर करना, अधिक

रूपमृ रहना ये जलकी वृत्तियां है।।४३।।

व्याख्यार्थ: 'क्लेदन' वस्त्र आदिको गीला कर देना. 'पिण्डन' चूर्णरूप वाले पदार्थोंको पिण्डरूपमृ सम्पादित करना जैसे सत्तु आदिका पिण्डरूपमृ सम्पादन करना. 'तृप्तिः' भूख आदिकी निवृतिसे पुरुषको तृप्त करना. भोजन करनेके अनन्तर भी यदि जल नहीं पीया जाय तो तृप्ति नहीं होती. 'प्राणनम्' कहते हैं जीवनको और 'आप्यायन' कहते हैं प्राणृकी तृप्ति. 'उदन'का अर्थ है प्रेरणा. जलके द्वारा ही पदार्थ प्रवाहसे बहाये जाते हैं, तटृ आदिको गिरा देना ये सब जलकी वृत्तियां है. सन्तापको दूर करना. 'भूयस्त्वम्'=एक देशमृ सजातीयरूपसे प्रचुरमात्रामृ रहना अथवा 'भूयस्त्वम्' का यह भी अर्थ होता है कि जिसमृ जलका प्रवेश हो जाता है वह अधिक(बढ जाता है) हो जाता है. जलकी ये आठ वृत्तियां हैं ।।४३।।

आभास : पृथिवीकी उत्पत्ति कहते हैं:

रसमात्राद् विकुर्वाणाद् अम्भसो दैवचोदितात् ।
गन्धमात्रम् अभूत् तस्मात् पृथ्वी घ्राणस्तु गन्धगः ।।४४।।

श्लोकार्थ : कालकी प्रेरणासे रसतन्मात्राकी तथा जलमृ क्षोभ होनेसे गन्धमात्रकी उत्पत्ति हुई. उस गन्धसे पृथिवीकी उत्पत्ति हुई. इसमृ प्रमाण गन्धकी ग्राहक घ्राणेन्द्रिय(नाक) हैं ।।४४।।

व्याख्यार्थ: कालके द्वारा प्रेरित क्षुभित गुणवाला स्थूल तथा सूक्ष्म जलमृ पहले गन्धमात्रा उत्पन्न हुई. गन्धसे पृथिवी उत्पन्न हुई. घ्राण(नाक) इन्द्रिय गन्धका ग्राहक है, ये इसमृ प्रमाण है।।४४।।

आभास : गन्धके भेदको कहते हैं:

करम्भपूतिसौरभ्य–शान्तोग्राम्लादिभिः पृथक् ।
द्रव्यावयववैषम्याद् गन्ध एको विभिद्यते ।।४५।।

श्लोकार्थ : मिश्रितगन्ध, र्दुगन्ध, सुगन्ध, तथा शान्त और उग्रगन्ध, बासी अन्न आदिमृ खट्टी गन्ध ये सब अलग–अलग द्रव्यृके अवयवृकी विषमतासे एक ही गन्ध उक्त भेदृसे भिन्न–भिन्न होती है।।४५।।

व्याख्यार्थ: मिश्रित गन्धको 'करम्भ' कहते हैं. यह गन्ध व्यञ्जन आदिमृ प्रसिद्ध है. पूति=दुर्गन्ध, सौरभ्य=चन्दन आदिकी गन्ध. गन्धके शान्त और उग्र ये दो भेद बताये हैं वे पूति और सौरभ्य के ही हैं(दुर्गन्ध सुगन्धके हैं). कमल

आदिकी गन्ध शान्त है. चम्पा तथा लशुन(लहसुन) आदिकी गन्ध उग्र है. बासी (सड़ी) दाल आदिकी गन्ध अम्ल(खट्टी) है. 'आदि' शब्दसे धूप-दीपकी अनेक प्रकारकी गन्ध कही गई है. गन्धामृ जातिसांकर्य नहीं होता किन्तु गन्धके भेद अलग ही हैं. क्याृकि चित्र(अनेकविध) रसकी तरह चित्र गन्धका अभाव है. कारणगत सजातीय रस अथवा गन्ध प्रकट रूपसे ज्ञात नहीं होते तथापि कार्यमृ वे रस और गन्धको उत्पन्न करते हैं. इसलिये हरीतकी आदि(हरड़े आदि)का रस भिन्न है और और धूप आदिकी गन्ध भी भिन्न है. अवान्तर भेद तो अनेक हो सकते हैं किन्तु वे दोषजनक नहीं हैं. यदि ऐसा न होता तो पदार्थ विभाजक उपाधियाृके पच्चीस भेद नहीं होते. इसीको 'पृथक्' शब्दसे कहा है. वे पृथक् क्याृ हैं उसमृ हेतु देते हैं 'द्रव्यावयववैषम्यात्'. द्रव्यके आधारभूत जो अवयव हैं वे विजातीय रस गन्ध वाले होते हैं इसलिये गन्धमृ भेद है. अथवा यथावत् युक्त अवयव होते हैं वे गन्धको उत्पन्न करते हैं. स्वभावसे तो गन्ध सुरभि(सुगन्धित) ही है. परन्तु यदि द्रव्यके आधारभूत अवयवाृका योग विषम होता है तो उस गन्धको उत्पन्न नहीं करते हैं. ऊपर कहे गये करम्भ आदि शब्दाृसे गन्धका नाश, गन्धकी ठीक तरहसे पहचान न होना अथवा गन्धका आभास कहा गया है. क्याृकि विषमता एक प्रकारकी नहीं है किन्तु जल आदि बहुतसे गन्धका सम्पादन करते हैं इसलिये गन्ध अनन्त ही है. उसीको 'एकोऽपि गंधो विभिद्यते'से कहते हैं ।।४५।।

आभास : पृथिवीका लक्षण कहते हैं:

भावनं ब्रह्मणः स्थानं धारणं सद् विशेषणम् ।
सर्वसत्त्वगुणोद्भेदः पृथिवीवृत्तिलक्षणम् ।।४६।।

श्लोकार्थ : सब पदार्थोंको रूप देना, शब्दब्रह्म अथवा परब्रह्म के हृदय कण्ठ आदिमृ स्थिति, सम्पूर्ण जगतको धारण करना, सब तत्त्वाृमृ अवयवरूपसे रहना, सब जीवाृके गुणाृका उद्भेदन अर्थात् ब्रह्मसे लेकर तिनके तकमृ जो भेद हैं वह पृथ्वीके द्वारा ही जाना जाता है ये पृथ्वीकी वृत्तिके लक्षण हैं।।४६।।

व्याख्यार्थ: पृथिवीकी पांच वृत्तियां हैं. पृथिवी स्वभावसे आधारभूत होती है और देह वृक्ष आदि पृथिवीके आधेयभूत हैं. पृथिवी उनकी कारणभूता है. पृथिवी प्रतिभारूपा है और मानस उपासनाकेलिये इसकी कल्पना की जाती है. इस प्रकार यह पांच प्रकारकी होती है. 'भावनम्'का अर्थ है मानस. 'ब्रह्मणः

स्थानम्'का अर्थ है: प्रतिमा धारणरूपा पृथिवी स्थूल है. 'सद्विशेषणम्'से सत् जो घट आदि पदार्थकी यह विशेषण है. अर्थात् नाना प्रकारसे उनका यह कारणरूप है. इसी तरह सब जीवोंके गुण: स्थूल–सूक्ष्म–नील–पीतादि सब इस पृथिवीके द्वारा हैं. अथवा उक्त श्लोककी व्याख्या इस प्रकार भी हो सकती है. 'ब्रह्मणः भावनम्'का अर्थ है प्रतिमा. 'स्थानम्' जल आदिके नियत आधारका अर्थ स्थान है और अनियत आधारको 'धारण' कहते हैं. स्थान और धारण मे यह विशेषता है. सत् जो आकाश आदि हैं उनकी अवच्छेदकताको सद्विशेषण कहा है. सब प्राणियोंके जो वे–वे गुण हैं जैसे पुरुषत्व आदि, उनका जो 'उद्भेद' अर्थात् परिणाम विशेषसे प्रकट करना उसे 'सर्वसत्वगुणोद्भेदः' कहा जाता है.

यह 'अथवा'से जो इस श्लोककी व्याख्या है वह श्रीधर स्वामीकी व्याख्याके अनुसार है परन्तु यहां उसकी अस्वरताको 'वस्तुतस्तु'से बताते हैं. वह इस प्रकार है.

पृथिवी तो पहले ही उत्पन्न हो गई, तब भावनं आदि विशेषण जल आदिमे पृथिवीको अलग बतानेकेलिये कहने चाहिये, ये पृथिवीके लक्षण नहीं हैं. 'ब्रह्मणः स्थानं'का अर्थ प्रतिमा किया है किन्तु प्रतिमा तो चित्र आदि आकृति मात्रमे ही प्रसिद्ध है उसके लिये 'ब्रह्मणः' ऐसा विशेषण देना व्यर्थ है. स्थानका अर्थ पृथक् रूपसे स्थिति भी नहीं है. स्थिति तो सूर्य आदिकी सम्भव है इसलिये स्थिति पृथिवीका विशेष लक्षण नहीं हो सकता. (अब सिद्धान्त कहते हैं) इसलिये 'भावनं'का अर्थ है सब पदार्थरूपताका आपादन. अर्थात् पृथिवी सबको भावित करती है. 'ब्रह्मणः स्थानं'का अर्थ है शब्दब्रह्म और परब्रह्म, इनके हृदय कण्ठ आदि स्थानरूप. सम्पूर्ण जगत्को धारण करना ही 'धारण'का अर्थ है. सब तत्वोंका विशेषण(व्यावर्तक) या अवयव पृथ्वी है. काष्ठ पृथिवी है उसमे अग्निको प्रकट करके इतरकी व्यावृतिको भी करती है. अर्थात् तेज इतर(अन्य) महाभूतोंसे पृथक् है. यदि तेजका स्वरूप ही कहीं व्यक्त नहीं होता तो उसकी व्यावृत्ति ही कैसे होती. जैसे अपनेमेंसे अग्निको प्रकट करके पृथिवीने तेजको अन्य महाभूतोंसे अलग बताया उसी तरह अपने अन्दर रहने वाले जलको भी अपने(पृथिवी)मे रस रूपसे रहता है. नदी आदिके रूपसे प्रकट करके प्रदर्शित करती है. इसी तरह पंखेके द्वारा वायुको, और खड्डे आदिके द्वारा आकाशको, शरीर आदिमे अहंकारको इन्द्रियोंको और आत्माको प्रकाशित करती है. कहां तक कहा जाय,

सब प्राणियॄके जितने भी गुण हैं ब्रह्मसे लेकर तिनके तकमॄ जो भी कुछ भेद है उनका प्रकाशन भी पृथिवीमॄ ही है ।।४६ ।।

आभास : श्रोत्र आदिको शब्द आदिके ग्राहक होनेसे उनको प्रमाण बताया था उनका लक्षण भी वही है. अर्थात् शब्दको ग्रहण करना कानका लक्षण, रूप ग्रहण करना चक्षु(आंख)का इत्यादि उनको ढाई श्लोकॄसे कहते हैं:

नभोगुणविशेषोऽर्थो यस्य तत् श्रोत्रम् उच्यते ।
वायोर्गुणविशेषोऽर्थो यस्य तत् स्पर्शनं विदुः ।।४७।।
तेजोगुणविशेषोऽर्थो यस्य तच्चक्षुरुच्यते ।
अम्भोगुणविशेषोऽर्थो यस्य तद् रसनं विदुः ।
भूमेर्गुणविशेषोऽर्थो यस्य तद् घ्राणम् उच्यते ।।४८।।

श्लोकार्थ : आकाशका विशेष गुण शब्द जिसका विषय है वह श्रोत्र इन्द्रिय है. वायुका विशेष गुण स्पर्श जिसका विषय है वह स्पर्शेन्द्रिय है. तेजका विशेष गुण रूप जिसका विषय है वह चक्षु इन्द्रिय है. जलका विशेष गुण रस जिसका विषय है वह रसेन्द्रिय है. पृथिवीका विशेष गुण गन्ध जिसका विषय है वह घ्राणेन्द्रिय है।।४७-४८।।

व्याख्यार्थ: तन्मात्रारूप भी शब्द आकाशका गुणभूत है. जिस तरह कपड़ेरूपी कार्यमॄ कारणरूपी तन्तुओॄकी भी प्रतीति होती है उसी तरह यहां आकाशका गुण शब्द प्रतीत होता है. इसी तरह आगे भी आकाशका गुण शब्द असाधारण है, संयोगादिरूप नहीं है. 'यस्य तच्छोत्रम्' का अर्थ है वह शब्द ही है अर्थ-विषय जिसका वह श्रोत्र है. 'उच्यते'का अर्थ प्रमाण है. इसी तरह अन्य इन्द्रियॄके विषयमॄ समझ लेना. वायुका विशेष गुण स्पर्श, तेजका विशेष गुण रूप, जलका विशेष गुण रस इसी तरह पृथिवीका विशेष गुण गन्ध है ।।४७-४८।।

आभास : कारणके अनुप्रवेशसे उत्तरोत्तर धर्मकी अधिकता होती है उसे कहते हैं:

परस्य दृश्यते धर्मो ह्यपरस्मिन् समन्वयात् ।
अतो विशेषो भावानां भूमावेवोपलक्ष्यते ।।४९।।

श्लोकार्थ : कारणका धर्म कार्यमॄ कारणके समन्वयसे दिखाई देता है अतः सभी विशेष पांचॄ ही गुण अन्तिम कार्य पृथ्वीमॄ ही दीखते हैं।।४९।।

व्याख्यार्थ: 'परस्य'का अर्थ है कारणका धर्म. 'अपरस्मिन्' अर्थात्

कार्यमृ दीखता है. उसका कारण यह है कि कार्यमृ कारणका समन्वय होता है अतएव कारण धर्म कार्यमृ होता है. सभी विशेष पांचृ ही गुण अन्तिम कार्यरूपा पृथिवीमृ ही हैं इसलिये भावृका विशेष पृथिवीमृ ही दीखता है. यह वर्णन सांख्यशास्त्रकी रीतिसे है इसलिये इसकी विशेषरूपसे सर्वबोधकता नहीं है. वीणा आदिके शब्दमृ आवाज निमित्त है इसलिये कारणके सम्बन्धके कारण वीणा शब्दको वाङ्निमित्तक कहा है. चित्र(विविध) रूप भी तेजमृसे ही प्राप्त हैं. सभी विशेष पृथ्वीमृ ही दिखाई देते हैं ।।४९।।

आभास : इनकी उत्पत्ति, स्वरूप और लक्षणृ को कहकर कार्यसे भी उत्पत्ति, स्वरूप और लक्षण कहनेकेलिए उनसे ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति कहते हैं:

एतान्यसंहत्य यदा महदादीनि सप्त वै ।
काल–कर्म–गुणोपेतो जगदादिरुपाविशत् ।।५०।।

श्लोकार्थ : जब महत्तत्त्व, अहंकार और पञ्चमहाभूत ये सातृ ही तत्त्व अलग ही रहे तब जगत्के आदि कारण भगवान्ने काल, अदृष्ट और सत्त्वादि गुणृके सहित इन सातृ ही मृ प्रवेश किया।।५०।।

व्याख्यार्थ: यदि इन अचेतन तत्त्वृसे ही कार्य उत्पन्न हो जाय तो फिर इस संघातमृ आत्मा कैसे ढूंढी जा सकेगी, क्यृकि सारा संघात ही जड़रूप है! केवलमृ कारण रूपता नहीं है अतः चेतनके सहित ही संघात कारण है. ये जब असंहत्य(बिना मिले ही) महत्तत्त्व आदि मुख्य सातृ ही विद्यमान थे तब सम्पूर्ण जगत्के कारणभूत भगवान्ने काल, प्राणियृके अदृष्ट, सत्व आदि गुणृसे मिलकर (इनके साथ मृ) इन सातृमृ प्रवेश किया. यहां एक वाक्य आर्थिक है जो 'असंहत्य' इस 'ल्यप्' प्रत्ययसे आक्षिप्त होता है अथवा भगवान् ही ने इन्हृ अलग–अलग रखकर पीछे इनमृ प्रवेश किया. आगे चलकर उत्पन्न होने वाला यह जगत् आत्मा, काल, कर्म और स्वभाव इन चारके अधीन रहे इसलिये इन काल आदिके साथ ही भगवान्ने इनमृ प्रवेश किया ।।५०।।

आभास : तदन्तर बह्माण्ड उत्पन्न हुआ यह कहते हैं:

ततस्तेनाऽनुविद्धेभ्यो युक्तेभ्योऽण्डम् अचेतनम् ।
उत्थितं पुरुषो यस्माद् उदतिष्ठद् असौ विराट् ।।५१।।

श्लोकार्थ : भगवान्के प्रविष्ट होनेके अनन्तर और भगवान्के द्वारा योजित होने पर यह अण्ड, जो पहले अचेतन था उससे यह पुरुष जिसने तत्त्वृमृ

प्रवेश किया था, उठके खडा हो गया।।५१।।

व्याख्यार्थ: भगवान्के प्रविष्ट होनेके अनन्तर उन भगवान्से 'अनुविद्धेभ्यो' अर्थात् गुणोंका ग्रहण करके इनको आपसमें मिलानेकेलिये सुईकी तरह इनमें अनुवेधकी जैसे कपड़ोंको मिलाने वाला(सीने वाला) सूईमें डोरेको पोह कर उन्हें मिलाता है इसी तरह भगवान्ने प्रवेश करके इनको योजित किया. प्रथम जो अण्ड अचेतन था वही अण्ड उठके खड़ा हो गया. वही पुरुष जो पहले तत्त्वोंमें प्रविष्ट हुआ था वह विराट्रूप होकर उठ गया ।।५१।।

आभास: ब्रह्माण्डमें चेतन और अचेतन की उत्पत्तिको कहकर उसके नाम और रूपको कहते हैं:

एतद् अण्डं विषेशाख्यं क्रमाद् वृद्धैर्दशोत्तरैः।
तोयादिभिः परिवृतं प्रधानेनावृतं बहिः।।
यत्र लोकवितानोऽयं रूपं भगवतो हरेः।।५२।।

श्लोकार्थ: इस अण्डका नाम 'विशेष' है. यह स्वयं पचास करोड योजनके विस्तारवाला है. इसके उत्तरोत्तर क्रमसे पूर्वसे दस-दस गुणा जल, अग्नि, वायु, आकाश, अहंकार, महत्तत्व इनके आवरणोंसे घिरा हुआ है. और इन सबके बाहर प्रकृत्तिका आवरण है. इसीमें सब लोकोंका विस्तार है और यह भगवद्रूप है।।५२।।

व्याख्यार्थ: 'विशेष' यह इसका नाम है. स्वयं सब ओरसे पचास करोड़ योजनके विस्तारवाला स्वतः है. उसके बाद पूर्वसे दस गुने बढ़े हुए जल आदिसे घिरा हुआ है अन्तमें प्रधान(प्रकृति)से आवृत्त है. इस प्रकारका इसका महत्व है. इसमें स्थित जगत्का भगवत्वसे भी महत्व बताते हैं 'यत्र लोकवितानो अयम्'. यह सारा लोक विस्तार भगवान्का रूप है इसलिये यह भगवान्का आधारभूत है ।।५२।।

आभास: उसने बहुत काल तक अपनेमें पुरुषत्वका सम्पादन करनेके लिए उस पुरीमें शयन किया. क्योंकि 'पुरि शेते पुरुषः' पुरीमें शयन करनेके कारण उनका नाम 'पुरुष' हुआ. जब तक इसने शयन किया था उतने समय तक उसमें अनुवेदरूपसे प्रविष्ट भगवदंशोने भोगको प्राप्त नहीं किया. जब पुनः उसमेंसे उठकर उससे अलग होकर पुनः उसमें जब प्रविष्ट हुआ तब सब अंशोके भोगके लिए वहां स्थान हो गए:

हिरण्मयाद् अण्डकोशाद् उत्थाय सलिलेशयात्।
तम् आविश्य महादेवो बहुधा निर्बिभेद खम्।।५३।।

श्लोकार्थ: 'नारायण' शब्दसे कहे जानेवाले जलमृ विद्यमान, प्रकाशमान्, सुर्वणमय, विराट् देहसे उठकर पुनः उसमृ प्रवेश कर उसने उस शरीरमृ अनेक प्रकारके छिद्र किये।।५३।।

व्याख्यार्थ: प्रकाश जिसमृ अधिक है उस सुवर्णमय जलमृ रहने वाले 'नारायण' इस नामसे कहे जाने वाले विराट् देहसे उठकर पुनः उस विराट् देहमृ प्रवेश कर सर्वत्र विद्यमान आकाशको अनेक प्रकारसे भेदन किया. अर्थात् बहुतसे छेद किये. भगवान्के उठने पर भी उसका नाश नहीं हुआ इसको बतानेके लिये ही उस कोशको स्वर्णमय कहा. राक्षस उस कोशको किसी प्रकारकी बाधा न पहुंचा सके इसकेलिये उसकी सलिल(जल)मृ स्थिति बताई. महादेवका निरूपण अधिक नहीं करना पड़ता इसलिये अल्पाृके सहित ही उसने उस शरीरमृ छेद कर दिये. पुनः प्रविष्ट होकर भी उसने भेद मात्र ही किया इसलिये उसमृ पुरुषत्व ही स्थित रहा. इससे यह सिद्ध हुआ कि विराट्मृ कार्य करनेकी सामर्थ्य नहीं होती. जैसे प्रतिमामृ भगवान् रहते हैं उसी तरह यह भी उस हिरण्मय कोशमृ रहा ऐसा जानना चाहिये. अन्यथा तत्त्वाृसे आत्मविवेक नहीं होता ।।५३।।

आभास : छिद्राृका विनियोग(उपयोग) कहते हैं:

निर्भिद्यताऽस्य प्रथमं मुखं वाणी ततोऽभवत्।
वाण्या वह्निरथो नासे प्राणोतो घ्राण एतयोः ।।५४।।

श्लोकार्थ : सबसे पहले उसमृ मुख प्रकट हुआ उससे वाक् इन्द्रिय प्रकट हुई और वाणीके साथ ही अग्नि भी उत्पन्न हुई फिर नाकके दोनाृ छेद उत्पन्न हुए उनमृ घ्राणेन्द्रियका निवेश हुआ वह 'घ्राणेन्द्रिय आसन्यात्मक सर्वनियामक प्राणसे सम्बद्ध हुई।।५४।।

व्याख्यार्थ: सबसे पहले विवरात्मक(छिद्रात्मक) आस्य(मुख)का विकास हुआ, उसका नाम 'मुख' हुआ. यह अर्थ 'निर्भिद्यत आस्य प्रथमं' ऐसा पाठ रखने पर हुआ और 'आस्य'की जगह 'अस्य' पाठ हो तो ''पहले इसके मुख विकसित हुआ'' ऐसा अर्थ होगा. उसके बाद वागिन्द्रियने उस मुखमृ प्रवेश किया. वाणीके साथ-साथ अग्नि भी वहां हुई. तदनन्तर दूसरे छिद्रसे दोनाृ नासापुट विकसित हुए. उन दोनाृमृ घ्राणेन्द्रिय ने प्रवेश किया. वह घ्राणेन्द्रिय

देवताके द्वारा विद्ध हुई यह 'प्राणोतः' से बताया है. प्राणेन 'उत–स्यूतः सम्बद्धः प्राणोतः' प्राणसे सम्बन्धको 'प्राणोत' कहते हैं. नाकके दोनू ही छिद्रूमू एक ही प्राणने सम्बन्ध किया, यह प्राण इन्द्रिय रूप नहीं है किन्तु सर्वनियामक आसन्यात्मक है ।।५४ ।।

आभास : उस आसन्य प्राणका वहां कहनेका प्रयोजन कहते हैं:

प्राणाद् वायुरभिद्येताम् अक्षिणी चक्षुरेतयोः ।
तस्मात् सूर्योऽन्वभिद्येतां कर्णौ श्रोत्रं ततो दिशः।।५५।।

श्लोकार्थ : उस प्राणसे इन्द्रियकी देवतारूप वायुका आर्विभाव हुआ. उससे दोनू अक्षिगोलक, उनसे चक्षु इन्द्रिय और चक्षु इन्द्रियसे सूर्यका आर्विभाव हुआ. तदनन्तर दोनू कान प्रकट हुए. उस श्रोत्रेन्द्रियसे दिशाएं प्रकट हुईं।।५५।।

निर्बिभेद विराजस्त्वग् लोमश्मश्रवादयस् ततः।
तत ओषधयश्चासन् शिश्नं निर्बिभिदे ततः ।।५६।।
रेतस्तस्माद् आप आसन् निरभिद्यत वै गुदम् ।
गुदादपानोऽपानाच्च मृत्युर्लोकभयङ्करः ।।५७।।

श्लोकार्थ : इसके पीछे उस विराट्की त्वचा प्रकट हुई. उसमू लोम इन्द्रिय और श्मश्रु–केश आदि लोमविशेष प्रकट हुए. उनसे उनकी देवता, औषधियां प्रकट हुई. तदनन्तर शिश्न गोलक और रेतस् इन्द्रिय और उनके देवता जलका आर्विभाव हुआ. फिर उस विराट्के गुदा(पायुस्थान) और अपान इन्द्रिय और उसमू मृत्यु देवताका आर्विभाव हुआ. जो मृत्यु लोकूको भय देनेवाला है।।५७।।

हस्तौ च निरभिद्येतां बलं ताभ्यां ततः स्वराट् ।
पादौ च निरभिद्येतां गतिस्ताभ्यां ततो हरिः।।५८।।

श्लोकार्थ : तदनन्तर गोलकस्थानीय दोनू हाथ और उनसे बल इन्द्रिय, तथा बलसे स्वराट्(इन्द्र)का प्राकट्य हुआ. गोलकस्थानीय दोनू पैर और उनसे गति इन्द्रिय तथा गतिरूप इन्द्रियसे हरि(विष्णु) देवताका आर्विभाव हुआ।।५८।।

नाड्योऽस्य निरभिद्यन्त ताभ्यो लोहितमाभृतम् ।
नद्यस्ततः समभवद् उदरं निरभिद्यत ।।५९।।
क्षुत्पिपासे ततः स्यातां समुद्रस्त्वेतयोर् अभूत् ।
अथाऽस्य हृदयं भिन्नं हृदयाद् मन उत्थितम् ।।६०।।

मनसश्चन्द्रमा जातो बुद्धिर् बुद्धेर् गिरां पतिः ।
अहङ्कारस्ततो रुद्रः चित्तं चैत्यस्ततोऽभवत् ।।६१।।

श्लोकार्थ : फिर गोलकस्थानीय नाडियाॅका और नाडियाॅसे पूर्णरूपसे भरी हुई लोहित इन्द्रियका और उससे देवतारूप नदियाॅका आर्विभाव हुआ. गोलकस्थानीय उदरके प्राकट्यके अनन्तर भूख-प्यासरूप इन्द्रिय और उससे समुद्र देवताका प्राकट्य हुआ. इसके हृदय गोलक प्रकट हुआ उससे मन इन्द्रिय और मन इन्द्रियसे चन्द्रमा देवताका प्राकट्य हुआ. हृदय गोलकसे बुद्धि इन्द्रिय और बुद्धि इन्द्रियसे वाणीके पति देवताका आर्विभाव हुआ. हृदय गोलकसे अहंकार इन्द्रिय और उसके देवता रुद्रका प्राकट्य हुआ. हृदय गोलक इन्द्रिय चित्त और चैत्य(जीव) देवता प्रकट हुआ।।५९-६१।।

व्याख्यार्थ: उस प्राणसे इन्द्रियके देवतारूप वायुका आविर्भाव हुआ. भगवान्के द्वारा की गई सृष्टिमॅे दोनॅू अश्विनीकुमार इन्द्रियके देवता हैं. और भगवान्के लिये जो सृष्टिमॅे वायु देवता है ये विशेषता है. तदन्तर दोनॅू अक्षिगोलक उत्पन्न हुए. चक्षु इन्द्रिय एक ही है, उससे सूर्य देवताका आविर्भाव हुआ. तदन्तर कर्ण गोलकॅूकी उत्पत्ति हुई उससे श्रोत्रेन्द्रिय हुई. श्रोत्रेन्द्रियसे देवतारूप दिशाॅआॅका आविर्भाव हुआ. विराट्की त्वचा आविर्भूत हुई. उससे लोम इन्द्रिय तथा श्मश्रु हुवे. केश भी लोम विशेष ही हैं, उनके देवतारूप ओषधियां आविर्भूत हुईं. इस सृष्टिमॅे त्वचा और चर्म दोनॅू एक ही हैं. स्पर्श त्वगिन्द्रियसे होता है और उसका देवता वायु है और वह किससे ग्रहण किया जाता है यह पहले कह दिया है. शिश्न गोलक और रेतस् इन्द्रिय है और उसका देवता जल है. श्रुतिमॅे भी कहा है ''आप एव पुरुषाकारा भवन्ति'' जल ही पुरुषाकार होता है. पहले कौन देवता था? सब जगह विलक्षणतामॅे सृष्टिभेद ही नियामक है. गुद पायुस्थान है, अपान उसकी इन्द्रिय है और वहां देवता मृत्यु है. वह मृत्यु लोकको भय देने वाला है. वैराग्यकेलिये उसका इस प्रकारसे कथन है. मृत्यु ऊपर ही रहती है और 'मध्ये मृत्युः' ऐसा भी है. हाथ गोलक स्थानीय है, बल इन्द्रिय है. उन दोनॅू हाथॅूके साथ ही बलकी उत्पत्ति हुई इसलिये 'ताभ्यां' ऐसा कहा. और बलसे स्वराट् इन्द्रका आविर्भाव हुआ. इसी तरह पैरॅूकी उत्पत्ति और उनसे गति इन्द्रिय हुई. गतिरूप इन्द्रियसे हरि(विष्णु) देवताका आविर्भाव हुआ. नाड़ियां गोलक सम्पूर्ण रूपसे भरा हुआ, लोहित इन्द्रिय. अथवा 'आभृत'का अर्थ उत्पन्न है. नदियां

देवता हैं. उदर गोलक, भूख प्यास इन्द्रिय और समुद्र देवता.

हृदय चारका गोलक है. उसमृ एक तो मन इन्द्रिय है और मनसे उत्पन्न होने वाला चन्द्रमा उसका देवता है. द्वितीय बुद्धि इन्द्रिय है, वाणीके पति देवता हैं. तृतीय अहंकार इन्द्रिय है, रुद्र देवता है. चतुर्थ चित्त इन्द्रिय, चैत्य जीव देवता है. ये सब उन-उन स्थानामृ अभिव्यक्त भगवदंश हैं. चैत्य(जीव) मुख्य भगवदंश है ।।५५-६१।।

आभास : सबसे उनको अलग बतानेकेलिए पुनः सबके निकलनेका और प्रवेशका वर्णन करते हैं:

एते ह्यभ्युत्थिता देवा नैवाऽस्योत्थापनेऽशकन् ।
पुनराविविशुः खानि तम् उत्थापयितुं क्रमात् ।।६२।।

श्लोकार्थ : आत्माके अतिरिक्त सब देवताआमृसे उत्पन्न होकर भी विराट् पुरुषको उठानेमृ समर्थ न हो सके. फिर उन सब देवताआमृने(अपनी उत्पत्तिके स्थानभूत) गोलको(छिद्रा)मृ (विराट्को उठानेकेलिए क्रमसे) प्रवेश किया ।।६२।।

व्याख्यार्थ: ये देवता स्वयं उठे परन्तु इस विराट् देहको उठानेमृ समर्थ न हुए. जो इसको उठाता है वह तो जीव आत्मा है. सामर्थ्यके रहते हुए भी नहीं उठाते हैं ऐसी बात नहीं है किन्तु उठानेकी उनमृ सामर्थ्य ही नहीं है उसकेलिये 'पुनराविविशुः' ऐसा कहा. उसी विराट् शरीरमृ जिसमृ कि भगवान्के साथ सबने अपने-अपने स्थानमृ पहले प्रवेश किया था उन्ही छिद्रामृ पुनः प्रवेश किया. प्रवेशका प्रयोजन तो उस विराट्को उठाना ही था. 'क्रमात्'का तात्पर्य यह है कि प्रत्येकने क्रमसे अपने बलकी परीक्षाकेलिये प्रवेश किया ।।६२।।

वह्निर्वाचा मुखं भेजे नोदतिष्ठत् ततो विराट् ।
घ्राणेन नासिके वायुः नोदतिष्ठत् ततो विराट् ।।६३।।
अक्षिणी चक्षुषादित्यो नोदतिष्ठत् ततो विराट् ।
श्रोत्रेण कर्णौ च दिशो नोदतिष्ठत् ततो विराट् ।।६४।।

श्लोकार्थ : अग्नि देवताने अपनी इन्द्रिय वाणीके साथ मुखमृ प्रवेश किया परन्तु उससे विराट् उठा नहीं. वायु देवताने अपनी इन्द्रिय घ्राणके साथ नासिकामृ प्रवेश किया उससे विराट् नहीं उठा. आदित्य(सूर्य)ने अपनी इन्द्रिय चक्षुके साथ नेत्र गोलकमृ प्रवेश किया उससे विराट् नहीं उठा. दिशाआमृने अपनी

इन्द्रिय श्रोत्रके साथ कर्ण गोलकोमृ प्रवेश किया उससे विराट् नहीं उठा.

त्वचं रोमभिरोषध्यो नोदतिष्ठत् ततो विराट् ।
रेतसा शिश्नम् आपस्तु नोदतिष्ठत् ततो विराट् ।।६५।।
गुदं मृत्युर् अपानेन नोदतिष्ठत् ततो विराट् ।
हस्ताविन्द्रो बलेनैव नोदतिष्ठत् ततो विराट् ।।६६।।

श्लोकार्थ : ओषधियाृने अपनी इन्द्रिय रोमाृके साथ त्वचामृ प्रवेश किया उससे भी विराट् नहीं उठा. जलने अपनी इन्द्रिय रेतस्के साथ शिश्नमृ प्रवेश किया फिर भी विराट् नहीं उठा. मृत्यु देवताने अपनी इन्द्रिय अपानके साथ गुद गोलकमृ प्रवेश किया फिर भी विराट् नहीं उठा. इन्द्रने अपनी इन्द्रिय बलके साथ हाथाृमृ प्रवेश किया फिर भी विराट् नहीं उठा.

विष्णुर्गत्यैव चरणौ नोदतिष्ठत् ततो विराट् ।
नाडीर्नद्यो लोहितेन नोदतिष्ठत् ततो विराट् ।।६७।।
क्षुत्तृड्भ्याम् उदरं सिन्धुः नोदतिष्ठत् ततो विराट् ।
हृदयं मनसा चन्द्रो नोदतिष्ठत् ततो विराट् ।।६८।।

श्लोकार्थ : विष्णु देवताने अपनी 'गति' नामक इन्द्रियके साथ चरणाृमृ प्रवेश किया फिर भी विराट् नहीं उठा. नदी देवताआृने अपनी इन्द्रिय लोहितके साथ नाडियाृमृ प्रवेश किया फिर भी विराट् नहीं उठा. सिन्धु देवताआृने भूख और प्यास इन्द्रियाृके साथ उदरमृ प्रवेश किया फिर भी विराट् नहीं उठा. चन्द्र देवताने मन इन्द्रियके साथ हृदय गोलकमृ प्रवेश किया फिर भी विराट् नहीं उठा.

बुद्ध्या ब्रह्माऽपि हृदयं नोदतिष्ठत् ततो विराट् ।
रुद्रोऽभिमत्या हृदयं नोदतिष्ठत् ततो विराट् ।।६९।।

श्लोकार्थ : ब्रह्माने बुद्धिके साथ हृदयमृ प्रवेश किया फिर भी विराट् नहीं उठा. रुद्रने अहंकारके साथ हृदयमृ प्रवेश किया परन्तु विराट् उससे भी नहीं उठा।।६३-६९।।

व्याख्यार्थ: अग्नि देवने वाणी इन्द्रियके साथ सर्वप्रथम मुखमृ प्रवेश किया. उससे निकल कर उसीमृ प्रवेश किया. उसके प्रविष्ट होने पर विराट् जलसे नहीं उठा. सब जगह इन्द्रियके साथ देवताआृने गोलकमृ प्रवेश किया. विराट् उससे उठा नहीं. इन्द्रियके साथ विष्णु ने भी प्रवेश किया किन्तु फिर भी विराट् नहीं उठा. शंका हो सकती है कि विष्णुके प्रवेश करने पर वह विराट् क्याृ नहीं उठा

उसका उत्तर है कि उन(विष्णु)का उतना ही काम था इसलिये उन्हूने उससे अधिक काम नहीं किया. इसी तरह सब जगह जानना चाहिये. मन्त्रके अधिष्ठाता रूप देवॄमॄ भी ऐसी ही मर्यादा है. पुरुषोत्तम तो सब कर सकता है इसलिये वह सेवा करनेके योग्य है अथवा प्राप्त करनेके योग्य है. रुद्र पर्यन्त सब देवताओने एक-एकने अलग-अलग उसमॄ प्रवेश किया तो भी विराट् पुरुष नहीं उठा ।।६३-६९।।

चित्तेन हृदयं चैत्यः क्षेत्रज्ञः प्राविशद् यदा।
विराट् तदैव पुरुषः सलिलाद् उदतिष्ठत ।।७०।।

श्लोकार्थ: चैत्य(जीव) जो क्षेत्रज्ञ है उसने अपनी इन्द्रिय चित्तके साथ हृदयमॄ जब प्रवेश किया उसी समय विराट् पुरुष जलसे उठकर खडा हो गया ।।७०।।

व्याख्यार्थ: जब फिर चित्त इन्द्रियके साथ हृदयमॄ चैत्य(जीव)ने जो क्षेत्रज्ञ(देहाभिमानी) कहा जाता है उसने जब ही प्रवेश किया उसी समय पुरुष भगवान्के सहित देह जलसे उठ खड़ा हुआ ।।७०।।

आभास: अन्तरंग सेवक ही महाराजको उठा सकता है दूसरा नहीं इसको दृष्टान्तसे दो श्लोकॄसे स्पष्ट करते हैं:

यथा प्रसुप्तं पुरुषं प्राणेन्द्रिय-मनो-धियः।
प्रभवन्ति विना येन नोत्थापयितुम् ओजसा।।७१।।
तम् अस्मिन् प्रत्यगात्मानं धिया योगप्रवृत्तया।
भक्त्या विरक्त्या ज्ञानेन विविच्यात्मनि चिन्तयेत् ।।७२।।

श्लोकार्थ: सोये हुए पुरुषको प्राण इन्द्रिय, मन और बुद्धि ये सब अन्तःस्थित जीवके बिना उठानेमॄ समर्थ नहीं होते हैं. अतः शरीराभिमानी उस जीवको भक्ति वैराग्य और चित्तकी एकाग्रतासे ज्ञानके द्वारा उस अन्तरात्मस्वरूप क्षेत्रज्ञको इस शरीरमॄ स्थित जानकर उसका चिन्तन करना चाहिए।।७१-७२।।

व्याख्यार्थ: जिस तरह सोये हुए पुरुषको अपनी सामग्री(साहित्य)के द्वारा बाहर रहने वाले प्राण, इन्द्रिय, मन और बुद्धि सब अन्तःस्थित जीवके बिना उठानेमॄ समर्थ नहीं हो सकते इसलिये प्रत्यगात्मा(शरीराभिमानी) जीवको इस संघातमॄ अन्य सबको अलग करके उसीका चिन्तन करना चाहिये. उसके चिन्तनमॄ बुद्धिकी आवश्यकता होती है. वह बुद्धि भी प्राकृत नहीं होनी चाहिये

किन्तु योगसे विपक्व अथवा योगके द्वारा प्रवृत्त होनी चाहिये. अर्थात् योग सिद्ध हो उस बुद्धिके सहायभूत, भक्ति, ज्ञान और वैराग्य ये तीन हैं. इन तीनॄके साथ बुद्धिसे अन्य सबको पृथक् करके उसी क्षेत्रज्ञका चिन्तन करे. उसमॄ बुद्धिका अभ्यास करे. वैसा होने पर उसमॄ उत्तरोतर ब्रह्मभावकी भावना सुकर होती है. ।।७१-७२।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराणके तृतीय स्कन्धके २६ वॄे अध्यायकी
श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्रीसुबोधिनी टीकाका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण.

अध्याय २७

पुरुषका स्वरूप और उसे जाननेका उपाय

साङ्ख्येनेतरभिन्नस्य ज्ञाने जाते तथात्मनः।
ब्रह्मरूपेण तज्ज्ञानं सप्तविंशे निरूप्यते ।।का.१।।

कारिकार्थ : आत्मा संघातसे भिन्न(अलग) है ऐसा ज्ञान सांख्यके द्वारा हो जाने पर उस ज्ञानका ब्रह्मरूपसे सत्ताईसवृ अध्यायमृ निरूपण है।।१।

साधनानि स्वरूपं च चिन्तनार्थम् इहोच्यते।
युक्तयोऽप्यत्र कथ्यन्ते विपर्यय–निवृत्तये ।।का.२।।

कारिकार्थ : ब्रह्मभावके चिन्तनकेलिए यहां साधनाृका तथा स्वरूपका कथन है. वैपरीत्यकी निवृत्तिकेलिए यहां युक्तियां भी कही जा रही है. यह सत्ताईसवां अध्यायका माध्यम कहा गया है।।२।।

आभास : पूर्व अध्यायमृ संघातमृ विद्यमान आत्माका भी भिन्नरूपसे निरूपण किया गया है. अब इस अध्यायमृ उस आत्माके मोक्षका निरूपण किया जाता है. यदि वह आत्मा बहुत समय तक प्रकृतिमृ स्थित होता है तो जैसे मजीठ आदि रंगनेके द्रव्याृमृ स्थित वस्त्र पर उसका रंग चढ जाता है उसी तरह आत्मा पर प्रकृतिका प्रभाव हो जानेसे उसकी मुक्तिकी भी सम्भावना न होगी इसको सूचित करते हुवे उस(आत्मा)की स्थितिको कहते हैं:

श्रीभगवान् उवाच

प्रकृतिस्थोऽपि पुरुषो नाज्यते प्राकृतैर्गुणैः।
अविकाराद् अकर्तृत्वाद् निर्गुणत्वाद् जलार्कवत् ।।१।।

श्लोकार्थ : श्रीभगवान् कहते हैं, हे माता! जिस तरह जलमृ प्रतिबिम्बित सूर्यका जलके शीतलत्व, चंचलत्व आदि गुणाृसे सम्बन्ध नहीं होता उसी प्रकार पुरुष(आत्मा) प्रकृतिके गुणाृसे लिप्त नहीं होता क्याृकि आत्मा निर्विकार अकर्ता और निर्गुण है।।१।।

व्याख्यार्थ: यह जीव प्रकृतिके संघातमृ ही सर्वदा रहता है किन्तु सत्व, रजस् और तमस् इन प्रकृतिके गुणाृसे लिप्त नहीं होता है जैसे पुरुष तेल आदिसे लिप्त होता है. लिप्त न होनेमृ अविकारादि चार हेतु कहे हैं. प्रकृतिमृ प्रविष्टको प्रकृति अपने गुणाृसे वास्तवमृ लिप्त कर देती है, अथवा स्वयं प्रविष्ट प्रकृतिके गुण

जीवको लिप्त कर देते हैं. १.गुण जब पदार्थमॄ प्रवेश करते हैं तब विकारवाले पदार्थमॄ ही प्रवेश करते होनेसे, जीव(आत्मा)मॄ क्यॄकि विकारका अभाव होनेसे प्रवेश नहीं होता. भवनक्रिया जिसमॄ होती है उसे भाव कहते हैं. भावमॄ ही विकार होते हैं. जो भवनका अनुभव करता है वह तो किसी प्रकारसे नहीं होता है इसलिये उसमॄ विकाराभाव है. २.और जो कर्ता होता है वह क्रियाके धर्मोंसे अदृष्ट प्रकारसे लिप्त होता है, किन्तु आत्माके कर्ता नहीं होनेसे वह अदृष्ट प्रकारसे भी लिप्त नहीं होता. ३.विकार रहित भी अपने सजातीयका ग्राहक होता है. यदि सगुण होगा तो परगुणॄसे भी, जो अपने सजातीय होते हैं उनसे, विद्वान्की तरह अनुरक्त हो जाता है. इस रसमॄ उसका आग्रह होनेसे जो रञ्जन होता है उसे सफल रञ्जन कहा जाता है. यहां तो साधनसे, व्यापारसे और फलसे रञ्जनका अभाव कहा है. शंका होती है कि अपनेमॄ प्रवेश होने पर रञ्जन हो जायगा? इसका उत्तर 'जलार्कवत्' इस दृष्टान्तसे देते हैं. जैसे सूर्यका प्रतिबिम्ब जलमॄ प्रविष्ट होता है किन्तु उसका शैत्य, चाञ्चल्य आदि जलके दोषॄसे कोई सम्बन्ध नहीं होता इस तरह आत्मा प्रकृतिमॄ प्रतिबिम्ब न्यायसे प्रविष्ट होती है न कि कुण्डमॄ बेरके समान. यदि ऐसा होता तो प्रकृतिमॄ उसकी प्रतीति न होती और सर्वत्र भी उसकी प्रतीति नहीं होती. क्यॄकि आत्मा प्रकृतिकी अपेक्षा व्यापक है. इसलिये पुरुषकी छायाको स्वच्छ प्रकृति ग्रहण करती है परन्तु पुरुष उस प्रकृतिके धर्मोंसे जलगत सूर्यके प्रतिबिम्बकी तरह लिप्त नहीं होता है ।।१।।

आभास : तो संसार कैसे होता है? इस शंकाका उत्तर देते हैं :

स एष यर्हि प्रकृतेः गुणेष्वभिविषज्जते।
अहङ्क्रियाविमूढात्मा कर्ताऽस्मीत्यभिमन्यते ।।२।।

श्लोकार्थ : जब वह प्राकृत गुणॄसे सम्बन्ध प्राप्त कर लेता है तब अहंकारसे मोहित हो कर ''मैं कर्ता हूं'' ऐसा अपनेको मानने लगता है।।२।।

व्याख्यार्थ: वह पुरुष प्राकृत गुणॄसे असम्बद्ध होते हुवे भी 'एषः'(यह) संसारी हो जाता है. कैसे होता है? इसका उत्तर 'यर्हि' इत्यादिसे दिया जाता है. प्रकृतिके गुणॄमॄ जब वह सम्बन्ध प्राप्त कर लेता है तब वह संसारी हो जाता है. यद्यपि गुण कुछ भी करनेमॄ समर्थ नहीं हैं तथापि स्वयं चेतन उन गुणॄको वशमॄ करनेकेलिये स्वधर्मसे उन्हॄ रञ्जित करनेमॄ समर्थ होता है. सूर्य जैसे जलको अपने गुणॄसे गर्म कर सकता है, परन्तु जल सूर्यको ठंडा नहीं कर सकता. तब किरणॄसे

सूखता हुआ जल सूर्यमृ प्रविष्ट हो जाता है तब उस(सूर्य)मृ गया हुआ जल अनेक प्रकारसे उत्पन्न होता है. इसीको गुणामृ अभिशक्ति नामसे कहा गया है. इसी तरह वशीकृतामृ अहङ्कारसे विमूढ होता हुआ ''मैं कर्ता हूं'' ऐसा अपनेको मानता है. प्रकृतिके गुण अपनेमृ आकर सब कार्य करते हैं. इसलिये वहां कर्त्ता अहङ्कार गुणसे व्याप्त है और वह अहंकार मोहात्मक होता है जिससे जीव मूढ होता हुआ अपनेको 'मैं हूं' ऐसा मानता है. अहंक्रियाका अर्थ है अहङ्कार. मोह करनेमृ स्त्रीका उपयोग होता है इसलिये यहां अहङ्कार पदका प्रयोग न कर 'अहंक्रिया' इस स्त्रीलिङ्ग पदका प्रयोग किया है. 'अहंक्रियाविमूढात्मा'का अर्थ है अहङ्कारसे विमूढ आत्मा=अन्तःकरण अथवा स्वरूप जिसका. जो अहंभावको करता है उसे अहङ्कार कहते हैं. अहङ्कारमृ कर्तापन माना है. इसलिये कर्त्ता तो अहङ्कार है किन्तु आत्मा उसके साथ तादात्म्यभावको प्राप्त हो जाता है इसीसे अपनेको कर्त्ता मानने लगता है ।।२।।

आभास : उससे क्या होता है उसे कहते हैं :

तेन संसारपदवीम् अवशोऽभ्येत्यनिर्वृतः ।
प्रासङ्गिकैः कर्मदोषैः सदसन्–मिश्रयोनिषु।।३।।

श्लोकार्थ : कर्तृत्वके अभिमानके कारण ही देहके संसर्गसे किये हुए पाप–पुण्यरूप कर्मोंके दोषामृसे अशान्त होकर उत्तम, मध्यम और नीच योनियामृ प्राप्त होता है।।३।।

व्याख्यार्थ: कर्त्ता, कर्त्तापनके अभिमानसे ही भोक्ता होता है इसलिये संसारके भोगकेलिये संसारको प्राप्त करता है. 'अवशः'का अर्थ है कर्मके अधीन होकर. 'अभ्येति'का अर्थ है संसारके अभिमुख होता है. तो क्या उसे नित्य संसार होता है? नहीं ऐसा नहीं होता, परन्तु कर्मके फलसे वह सदा अशान्त रहता है. जब वह शान्त हो जाता है तो संसारसे मुक्त हो जाता है. शंका होती है कि संसारमार्गमृ जाने मात्रसे क्या होता है? उत्तर देते हैं कि संसारमार्गमृ जानेसे उस (संसार)के प्रसंगसे कर्मके दोष उत्पन्न होते हैं. ऐसे तो स्वभावसे कर्म दुष्ट नहीं है किन्तु संगके कारण उनमृ दोष आता है. जैसे अन्न भोजन निषिद्ध नहीं है, किन्तु दुष्ट अन्नका भोजन ही निषिद्ध है. कर्ममार्ग सत्–असत् और मिश्र योनिरूप है. अर्थात् सत् देवयोनि, असत् पशु–पक्षीयोनि और मिश्रसे मनुष्य योनिका ग्रहण है ।।३।।

आभास : यह संसार सत्य है या मिथ्या ? यदि सत्य है तो मोक्ष नहीं होगा और यदि असत्य है तो इसमृ किये जानेवाले सब साधन व्यर्थ हो जाएूगे! इस आशंकाका उत्तर देते हैं :

अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर् न निवर्तते ।
ध्यायतो विषयान् अस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा ।।४।।

श्लोकार्थ : जैसे स्वप्नमृ भय, शोक आदिके कारणूके न होने पर भी स्वप्नके पदार्थोमृ आस्था होनेसे भय, शोक आदि होते हैं वैसे ही संसारकी सत्ता न होने पर भी विषयूके चिन्तनके कारण संसारकी निवृत्ति नहीं होती।।४।।

व्याख्यार्थ: यद्यपि इस संसारमृ संसरणरूप कोई अर्थ नहीं है. देव-तिर्यङ् और मनुष्य योनिमृ देह ही उत्पन्न होता है और देहमृ आत्माका कोई सम्बन्ध नहीं है. क्यूंकि आत्मा असंग है. इसलिये उसका संयोगसम्बन्ध देहके साथ नहीं है तो समवायसम्बन्ध तो हो ही कैसे सकता है. स्वरूपसम्बन्ध भी नहीं है क्यूंकि दोनूके एक जगह होने पर ही स्वरूपसम्बन्ध हो जाता है जैसे महाराज और सेवक का स्वरूपसम्बन्ध है. यहां देह और आत्माका सम्बन्ध आध्यासिक (अहंता-ममतात्मक) है. अध्यास मोहसे होता है इसलिये यह सम्बन्ध झूठा (असत्य) है. संसार असत्य है किन्तु उसकी निवृत्ति नहीं होती है. जो असत्य होते हुए भी कष्ट पहुंचाता है तो उसकी निवृत्ति कैसे होगी! यदि कहो कि असत्य मान लेने पर उसकी निवृत्ति हो जायगी. ऐसा यदि मानलृ तब तो उसको दुःख ही किस तरह होगा. असत्य होते हुए भी बाधित(पीड़ित) करनेमृ क्या कारण है उसकेलिये 'ध्यायतो विषयान् अस्य' ऐसा कहा है. इस संसारके विषयूका भोग्यरूपसे ध्यान करता है अतः उसे विषयभोगूकी वासना होती है. वासना होने पर यह असत्य संसार उसे बाधा पहुंचाता है. असत्य बाधक कैसे होता है? उसको 'स्वप्ने अनर्थागमः' इस दृष्टान्तसे स्पष्ट करते हैं. स्वप्न मायिक(असत्य) है ऐसा सिद्धान्त है. स्वप्नमृ यदि कोई मारता है तो वह असत्य है किन्तु जब तक जगता नहीं तब तक स्वप्नका ताडन(पिटना) मिटता नहीं है. इसलिये संसारकी निवृत्तिकेलिये प्रयत्न करना चाहिये. जब संसारकी निवृत्ति हो जायगी तो अपने आप उसका भय निवृत्त हो जायगा।।४।।

आभास : स्वप्नके दृष्टान्तसे बोध(ज्ञान) संसारका निवर्त्तक है ऐसा निश्चित होता है. परन्तु ऐसा बोध कैसे होता है? इस आशंकाका निवारण

''कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानम् ऐक्षद् आवृत्तचक्षुः अमृतत्वम् इच्छन्'' (कठोप. २।१।१) इस श्रुतिसे करते हैं. अर्थात् चित्त जब अन्तर्मुख होता है तब संसारकी निवृत्ति होती है. संसारसे निवृत्त चित्त आत्मगामी होता है यह निश्चित है परन्तु असन्मार्गमॄ पडा हुआ चित्त वहांसे हटता नहीं है और न उसे हटा सकते हैं क्यॄकि असत्की संख्या बहुत है और वे बलिष्ठ भी है और चित्त उनमॄ अत्यन्त आसक्त है परन्तु ऐसे चित्तको भी वहांसे(विषयॄसे) हटाना चाहिए. उस चित्तको वशमॄ करनेका उपाय बताते हैं :

अत एव शनैश्चित्तं प्रसक्तम् असतां पथि।
भक्तियोगेन तीव्रेण विरक्त्या च नयेद् वशम्।।५।।

श्लोकार्थ : इसलिए बुद्धिमान् मनुष्यको असन्मार्गमॄ प्रवृत्त चित्तको तीव्र भक्तियोग तथा वैराग्य के द्वारा अपने वशमॄ करना चाहिए।।५।।

व्याख्यार्थ: विषयॄसे मनको न हटाना अनर्थका हेतु है परन्तु मन तो बहुत समयसे विषयॄमॄ आसक्त है उसे शीघ्र हटाया नहीं जा सकता तथापि उसे धीरे-धीरे विषयॄसे हटाना चाहिये जिससे वे असत् पदार्थ भी विरोधी न हो जायें और चित्त भी आसक्तिको छोड़ दे. ऐसा करनेकेलिये दो उपाय है. एक तो भक्तियोग और दूसरा वैराग्य. भगवान्मॄ स्नेह(प्रेम) होना भक्ति है और विषयॄसे प्रेम न होना वैराग्य है. ये दोनॄ ही उपाय क्यॄकि उसकी संसार प्रवृत्तिके विपरीत हैं. इन दोनॄ उपायॄसे ही चित्त वशमॄ हो सकता है ।।५।।

आभास : भक्ति और वैराग्य कैसे हो उनके साधनॄको कहते हैं :

यमादिभिर् योगपथैर् अभ्यसेत् श्रद्धयान्वितः।
मयि भावेन सत्येन मत्कथाश्रवणेन च।।६।।
सर्वभूतसमत्वेन निर्वैरेणाप्रसङ्गतः।
ब्रह्मचर्येण मौनेन स्वधर्मेण महीयसा।।७।।
यदृच्छयोपस्थितेन सन्तुष्टो मितभुङ् मुनिः।
विविक्तशरणः शान्तो मैत्रः करुण आत्मवान्।।८।।
सानुबन्धे च देहेऽस्मिन्नकुर्वन्नसदाग्रहम्।
ज्ञानेन दृष्टतत्वेन प्रकृतेः पुरुषस्य च।।९।।

श्लोकार्थ : यम आदि योग साधनॄके द्वारा श्रद्धापूर्वक अभ्याससे मुझमॄ सच्चा भाव रखनेसे, मेरी कथा श्रवण करनेसे, सब प्राणियॄमॄ समभाव रखनेसे,

किसीके साथ वैर न करनेसे, आसक्तिके त्यागसे, ब्रह्मचर्यसे, मौनव्रतसे, बलिष्ठ स्वधर्मसे एवं जो अनायास प्राप्त होनेवाले अन्नादिसे संतुष्ट हैं और परिमित (सीमित) भोजन करता है, एवं मुनि जो एकान्तमॄ रहता है, शान्त है, सबका मित्र है, दयालु और धैर्यशील है, प्रकृति और पुरुषके वास्तविक स्वरूपके अनुभवसे प्राप्त ज्ञानके द्वारा पुत्र आदि सहित इस देहमॄ अहंता-ममताका परित्याग करता है।।६-९।।

व्याख्यार्थ: पहले सत्संग आदि भक्तिके साधन कहे. वे दुलर्भ हैं अतः ज्ञान ही भक्तिका साधन है ऐसा निरूपण करते हैं. यम आदि साधनॄसे आत्माको यदि जानता है तो भगवान्‌मॄ स्नेह हो जाता है. फिर भगवान्‌मॄ चित्तकी स्थिरता होती है. तब विषयॄके ध्यानका अभाव होनेसे संसारकी निवृत्ति हो जाती है. उन यमादिमॄ पहले तो अहिंसा आदि यम, तदनन्तर स्नानादिक नियम और उसके बादमॄ आसन आदि योगके मार्गमॄ चित्तको लगानेका अभ्यास करते-करते फिर चित्तको तन्मय बना दे अथवा संयमका अभ्यास करे. मार्गमॄ अर्थात् साधनॄमॄ श्रद्धा रखे. मुझ भगवान्‌मॄ भावसे(श्रद्धा आदिसे) सत्यभावसे शरीर, वाणी और मन सत्यकी प्रतिष्ठासे निरन्तर भगवत्कथा सुननेसे और कीर्तनसे, सब प्राणियॄमॄ समदृष्टिसे तथा किसी भी प्राणीसे वैर भाव न रखते हुए, सब वस्तुओंमॄ, सब प्राणियॄमॄ आसक्ति न रखते हुए, अष्टाङ्ग ब्रह्मचर्यसे, मौनसे अर्थात् व्यर्थकी बातॄका परित्याग करनेसे, अत्यधिक निष्ठाकी प्राप्तिसे अपने-अपने वर्ण तथा आश्रमके धर्मसे अनायास प्राप्त हुए अन्न आदिसे संतुष्ट रहे. ये सब साधन पूर्व-पूर्वसे सिद्ध हैं. ये ही उत्तरोत्तर बारह हो जाते हैं. अन्यके साथ अनायाससे उपस्थित अन्न आदिसे संतोष करना यह साध्य है और पूर्वमॄ बताये गये स्वरूपोपकारी अङ्ग हैं. किसीके मतमॄ सन्तोष ही मुक्तिका अङ्ग है अथवा पूर्वोक्त फलोपकारी अङ्ग है, इसलिये सन्तोषको कारण नहीं बताया. 'संतुष्टः' इसकी पृथक् स्थिति नहीं हो सकती इसलिये इसको कर्त्ताका विशेषण रखा है. इसके अतिरिक्त मित(कम) भोजन, मनन, एकान्तमॄ रहना, परमशान्ति, सबसे मित्रता, दया, अन्तःकरणकी स्वाधीनता, पुत्र आदिके सहित देहमॄ मिथ्या अभिविनेश न करना -ये अन्तरङ्ग आठ अङ्ग हैं और यम आदि ये बारह हैं. एक संतोष, मित (कम)भोजन आदि आठ, इस तरह इन तीन प्रकारके साधनॄसे और अति अन्तरङ्ग तीन साधनॄसे आत्मज्ञान प्राप्त होता है. उन अति अन्तरङ्ग साधनॄको

कहते हैं 'ज्ञानेन दृष्टतत्त्वेन प्रकृतेः पुरुषस्य च'. एक तो सांख्य और तुरीयावस्था भेदज्ञानका अभाव, प्रकृति और पुरुषके तत्त्वको जिसके द्वारा जाना जाता है ऐसे साङ्ख्यसे उत्पन्न ज्ञानसे ।।६-९।।

निवृत्तबुद्ध्यवस्थानो दूरीभूतान्यदर्शनः ।
उपलभ्यात्मनात्मानं चक्षुषेवार्कम् आत्मदृक् ।।१०।।

श्लोकार्थ : बुद्धिकी जाग्रत आदि अवस्थाओंसे जो अलग हो गया है और जो किसी वस्तुको नहीं देखता वह आत्मदर्शी मुनि नेत्रोंसे सूर्यको देखनेकी तरह आत्मदर्शी हो जाता है।।१०।।

व्याख्यार्थ: निवृत्त हो गये हैं बुद्धिके अवस्थान जिसके और दूर हो गये हैं अन्यदर्शन जिसके इस प्रकारका क्रम होने पर आत्मासे आत्माका लाभ करके आत्मदर्शी हो जाता है. एक ही करण तथा कर्म कैसे होता है? इस आशंकाका उत्तर दृष्टान्तसे देते हैं 'चक्षुषेवार्कम् आत्मदृक्' चक्षु भी तैजस है और सूर्य भी तैजस परन्तु इनमें यह अन्तर है कि चक्षु अध्यात्मभूत है और सूर्य आधिदैविक है. वहां जैसे सूर्यके अतिरिक्त किसी वस्तुके ग्रहण करनेमें विषय प्रकाशकरूपसे सूर्यकी अपेक्षा रहती है इस तरह सूर्यके ग्रहणमें सूर्यकी अपेक्षा नहीं रहती और न चक्षुगत अन्धकारकी निवृत्तिकेलिये उसकी अपेक्षा होती है किन्तु उस सूर्यसे प्रकाशित चक्षु उसी सूर्यके अंशभूत अपनेको ग्रहण करता है. इसी तरह जीव जो भगवान्का अंश है वह सर्वात्मास्वरूप भगवल्लक्षण आत्माको जो देखता है वह आत्मदृष्टा होता है ।।१०।।

आभास : इस तरह आत्मदर्शनमें क्या होता है उसकेलिए कहते हैं :

मुक्तलिङ्गं सदाभासम् असति प्रतिपद्यते ।
सतो बन्धुम् असच्चक्षुः सर्वानुस्यूतम् अद्वयम् ।।११।।

श्लोकार्थ : इस तरह आत्मदर्शनसे मुक्तलिंग सदाभास मूल आत्माको जो असत्में जान लेता है वह आभास मूलभूत आत्माका बन्धु है और असत् जो देह आदि है, उनका प्रकाशक है वह पूरे संघातसे सम्बन्ध है तथा सारे संघातमें वह अकेला ही प्रतिबिम्बित है।।११।।

व्याख्यार्थ: इस प्रकार मानस भावनाके ज्ञानसे इसी संघातमें मुक्तलिङ्ग सदाभासको प्राप्त हो जाता है. 'मुक्तलिङ्ग'का अर्थ है मुक्त है लिङ्ग जिसका अर्थात् अन्तःआवरणात्मकता उसकी हट जाती है जिससे मूलभूत जीवके

आभासरूप शरीर आत्माको प्राप्त कर लेता है. यह 'मैं हूं' ऐसा साक्षात् ज्ञान हो जाता है. यहां सबका आत्मारूप सृष्टिकी इच्छाके वशीभूत प्रथम पुरुष ही मूलभूत जीव है. बाह्य आवरणाके निवृत्त न होनेसे इतने समय तक आभासका भी साक्षात्कार नहीं था. शंका हो सकती है कि आभासकी प्राप्तिमा कौन सा पुरुषार्थ है? उसकेलिये कहते हैं 'सतो बन्धुम्'. यह आभास 'सत्' अर्थात् मूलभूत आत्माका बन्धु होता है, पुत्र अथवा भाई होता है. वह आभास उस मूलभूत आत्मा प्रतिबिम्ब होनेसे उस मूलभूत आत्माका सम्यग् ज्ञान करने वाला होता है. यह सत्(मूलभूत आत्मा)का बन्धु है इसमा क्या प्रमाण है? उसकेलिये कहते हैं 'असच्चक्षुः'. असत् जो देह आदि हैं उसका यह चक्षु प्रकाशक है. जैसे आभासरूप भी चक्षु विषयका प्रकाशक होता है इससे जाना जाता है कि चक्षु सूर्यका आभास है. शंका होती है कि असत्को प्रकाशित करने मात्रसे तो उसमा सौरादितुल्यता होनेसे सत्की आभासता सिद्ध नहीं हो सकती. उसका उत्तर 'सर्वत्रास्यूतम्'से दिया है. वह आभास पूरे संघातसे सम्बद्ध है. जब तक आभास व्यापक न हो तब तक उसमा अनुस्यूतता(सम्बद्धता) नहीं हो सकती. यदि कहो कि आभास भेदमा भी अनुस्यूतता हो सकती है? नहीं वह अद्वय है अर्थात् पूरे संघातमा एक ही प्रतिबिम्ब है अन्यथा जो मैं देख रहा हूं वही मैं सुन रहा हूं ऐसा अनुसन्धान नहीं हो सकता ।।११।।

आभास : इस तरह इस शरीर आत्माको सत्का आभासरूप बताया इसी आभाससे आत्मज्ञानके निरूपणार्थ दृष्टान्त और मुक्तिका निरूपण दो श्लोकाासे करते हैं :

यथा जलस्थ आभासः स्थलस्थेनावदृश्यते ।
स्वाभासेन तथा सूर्यो जलस्थेन दिवि स्थितः।।१२।।

श्लोकार्थ : जिस तरह जलमा स्थित सूर्यका प्रतिबिम्ब घरकी भींत पर पडे हुए अपने आभासके सम्बन्धसे देखा जाता है और जलमा दीखनेवाले प्रतिबिम्बसे आकाशमा स्थित सूर्यका ज्ञान होता है।।१२।।

व्याख्यार्थ: घरमा स्थित पुरुष बाहर जल आदिके सूर्य प्रतिबिम्बमा उसके सामने घरके अन्दरकी भींत पर उसका प्रतिफलन(परछाई) होता है उसके धर्मकी तरह वह होता है उससे ही पुरुष जानता है कि यहां सूर्यके सम्बन्धकी तो संभावना है नहीं परन्तु बाहर दर्पण आदिमा घरके जो सूर्यका प्रतिबिम्ब है उसीकी यह

परछाई है. इस तरह नेत्र आदिमॅ जो प्रतिफलन है वह पूर्वोक्त साधनॅसे ही है अन्य प्रकारसे नहीं मानना चाहिये. ऐसा तो होता नहीं है कि बाहर पीढा आदि पर धर्मरूपसे सम्बद्ध भी सूर्य दर्पण आदिमॅ स्थितकी तरह प्रतिफलित हो. यदि ऐसा हो तो सारे ही सङ्घातका अन्तःसाक्षात्कार हो जाय. इसलिये साधनॅके होने पर ही जो होता है उसका प्रथम सम्भावनाकी निवृत्तिकेलिये दृष्टान्तसे प्रदर्शन किया है.

'स्थलस्थ'से अर्थात् घरके अन्दरकी भींत आदि पर पड़ने वाली परछाईंसे बाहर स्थित जलस्थ आभास जाना जाता है और उस जलमॅ स्थित अपने (सूर्यके) आभाससे आकाशमॅ स्थित सूर्य जाना जाता है ।।१२।।

एवं त्रिवृदहङ्कारो भूतेन्द्रियमनोमयैः ।
स्वाभासैर्लक्षितोऽनेन सदाभासेन सत्यदृक् ।।१३।।

श्लोकार्थ : इसी तरह वैकारिक आदि भेदसे तीन प्रकारका अहंकार इन्द्रिय और मनमॅ स्थित अपने प्रतिबिम्बॅसे लक्षित होता है और सत् जो परमात्मा है उसके प्रतिबिम्बसे युक्त उस अहंकारके द्वारा सत्यज्ञानरूप परमात्माका दर्शन होता है।।१३।।

व्याख्यार्थ: इसी तरह वैकारिक आदि तीन प्रकारके अहङ्कारमॅ स्थित आत्मा सत्(परमात्मा)का आभास वह भूतेन्द्रिय मनमॅ प्रतिफलित आभासॅसे लक्षित होता है और त्रिवृत् अहङ्कारमॅ स्थित सत्के आभासरूपसे सत्यज्ञानरूप जीवभूत आत्मा लक्षित होता है ।।१३।।

आभास : इस प्रकार दृष्टान्तसे आत्मसम्भावनाको दूर करके दृष्टान्तको कोई अप्रामाणिक न समझे इस आशंकासे अनुभवके द्वारा उक्त अर्थको दृढ करते हैं :

भूतसूक्ष्मेन्द्रियमनो–बुद्ध्यादिष्विह निद्रया ।
लीनेष्वसति यस्तत्र विनिद्रो निरहङ्क्रियः।।१४।।

श्लोकार्थ : सुषुप्तिमॅ निद्रासे भूत, सूक्ष्म–इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि अव्याकृतमॅ लीन हो जाने पर स्वयं आत्मा जागता रहता है और अहंकारसे शून्य है।।१४।।

व्याख्यार्थ: जाग्रत दशामॅ सङ्घातके साथ स्फूर्ति होने पर भी यह आत्मा कौन है ऐसा यद्यपि विशेषरूपसे जाना नहीं जाता है परन्तु सुषुप्तिमॅ केवल आत्मसङ्घातसे अलग भासित होता है इसका 'भूतसूक्ष्मेन्द्रिय' आदिसे वर्णन करते

हैं. 'भूत'से स्थूल महाभूतका ग्रहण है और 'सूक्ष्म'से उनकी तन्मात्राओंका ग्रहण है. इन्द्रिय, मन और बुद्धि तथा 'आदि' शब्दसे अहङ्कार लिया गया है. स्वप्नरहित निद्रासे इनके आभास दूर किये जाते हैं. उस समयमें प्रकाशित नहीं होते. आभासके लयमें ही इनका लय है तब आभासके प्रकाशसे रहित मूढ देहमें जो वहां प्रकाशित होता है उसे आत्मा जानना चाहिये ऐसा मानना. यदि शंका हो कि वहां तो कुछ भी भासित नहीं होता! तो उसकेलिये कहते हैं 'तत्र विनिद्रः' उसकी निद्रामें व्याप्ति नहीं है अर्थात् वह निद्रारहित है. यदि 'अहं' इस ज्ञानसे वेद्य आत्मा है वह यदि विनिद्र हो तो 'अहं'(मैं) इस तरहका ज्ञान होगा! उसका उत्तर है 'निरहंक्रियः'. अहं(मैं) इस प्रकारका ज्ञान तो अहंकारके सम्बन्धसे होता वह अहंकार जब लीन हो जाता है तो निद्रामें मैं नहीं हूं ऐसा मानता है ।।१४।।

आभास : तब तो आत्मा भाषित नहीं होगा इसकेलिए कहते हैं :

मन्यमानस्तदात्मानम् अनष्टो नष्टवद् मृषा।
नष्टेऽहङ्करणे द्रष्टा नष्टवित्त इवातुरः ।।१५।।

श्लोकार्थ : सुषुप्तिमें अपने उपाधिभूत अहंकारके नष्ट होने पर भ्रमसे अपनेको नष्ट हुआ मान लेता है. जैसे धनके नष्ट होने पर मनुष्य अपनेको नष्ट हुआ मान लेता है और अत्यन्त व्याकुल हो जाता है उसी प्रकार वह भी अत्यन्त विवश होकर नष्टवत् हो जाता है।।१५।।

व्याख्यार्थ: सुषुप्तिमें नष्ट न हुवे आत्माको मानता है. जो मानता है वह आत्मा है. नष्टवत् मानता है इसलिये उसका प्रकट प्रकाश नहीं है. यदि आत्मा नहीं है तो नष्टको कौन देखता है? स्वप्नमें सिर कटता है यदि आत्मा न हो तो उस सिरके कटनेको कौन देखता है. इसलिये कोई द्रष्टा(देखने वाला है) जो अनष्ट आत्माको नष्ट मानता है. ''मैं नहीं+१ हूं'' ऐसा, अनष्टकी नष्टप्रतीतिमें युक्ति और उदाहरण देते हैं 'नष्टेऽहंकरणे दृष्टा' वह अहंकारसे पृथक् प्रतीत नहीं होता है अतः अहंकारके नष्ट होने पर उसे अहंकारकी अभेद प्रतीति इतनी दृढ़ हो गई है कि नष्ट तो होता है अहंकार किन्तु आत्मा अपनेको नष्ट मान लेता है क्योंकि अहंकारके अध्यासवाला आत्मा ही दृश्य है और केवल आत्माको ही नष्ट मानता है ऐसा ही उचित है. अन्यके नाशमें अन्यकी प्रतीति कैसे होती है? उसमें दृष्टान्त देते हैं 'नष्टावित्त इवातुरः' धन ही को अपनी आत्मा मानने वाला यह पुरुष लौकिक है(लोकमें देखा जाता है). इसका धन जब नष्ट हो जाता है तो धनके

बिना अपने निर्वाह न होनेसे ही अपनेको नष्ट मान लेता है. जैसे रोगीका शरीर नष्ट होता है किन्तु वह आत्माको ही नष्ट मानता है अथवा धनके नष्ट होने पर घबड़ा जाता है ।।१५।।

१.''मैं नहीं हूं'' इसमृ बीज यह है कि जब नींदमृ होता है उस समय किसीके स्पर्शका ज्ञान न होनेसे उस समय देहाध्यास नहीं है. मैं देखता हूं, संकल्प करता हूं, जानता हूं, श्वास लेता हूं इत्यादि अनुव्यवसायके(ज्ञानका ज्ञान) अभावमृ इन्द्रियादिका अध्यास भी नहीं कह सकते. अब तो केवल अहंकाराध्यास बच जाता है. यदि ''मैं नहीं हूं'' ऐसी प्रतीति होने पर वह भी विषयरूपसे प्रतीत हुआ तो केवल द्रष्टा ही रह जाता है, वही आत्मा है. चित्त तो अध्यासको उत्पन्न नहीं करता क्यृकि वह तो स्वच्छ, अविकारी और शान्त वृत्ति वाला है. इसलिये यह बची हुई स्वप्न सम्बन्धी प्रतीति भी आत्माका अनुमान कराती है.(प्रकाश)

आभास : इस तरह आत्माका निरूपण कर इसका उपसंहार करते हैं :

एवं प्रत्यवमृश्यासौ आत्मानं प्रतिपद्यते ।
साहङ्कारस्य द्रव्यस्य योऽवस्थानम् अनुग्रहः।।१६।।

श्लोकार्थ : इन सबका मनन करके समझदार पुरुष अपनी आत्माको जान लेता है. जो अहंकारके सहित सम्पूर्ण तत्त्वृका अधिष्ठान और प्रकाशक है।।१६।।

व्याख्यार्थ: पूर्वोक्त प्रकारसे आत्माका अनुभव करके, यह ही आत्मा है, इस तरह आत्माका अनुभव हो जाता है. शंका होती है कि अहंकारके नाशकी प्रतीति तो नहीं होती है, स्मरणमृ अहंकार सहितका ही स्मरण होता है, जैसे 'सुखम् अहम् अस्वाप्सम्'' मैं सुखसे सोया. यहां अहंकार सहितका ही स्मरण है! इसका उत्तर यह है कि अहंकारसहित आत्मद्रव्यका पीछे स्मरण होना ही अनुग्रह है(अनु=पश्चात् ग्रह=स्मरण है). अहंकार बादमृ सम्बद्ध है. जैसे ''यह वही देवदत्त है जो कुण्डलवाला है''. यहां पहले कुण्डलवाला नहीं था परन्तु अब कुण्डलवाला होते हुए भी उसकी प्रतीति होती है. जो अनुग्रह है वह अवस्थान है ऐसा सम्बन्ध है. अनुग्रहकी प्रसिद्धि प्रकृतिके उपयोगी है।।१६।।

आभास : इस तरह मोक्षकेलिए आत्मज्ञानका उपदेश दिया. उसका यहां कोई उपयोग नहीं है. प्रकृतिका सम्बन्ध ही संसारका कारण है. सांख्यशास्त्रमृ प्रकृति नित्य है और पुरुष भी नित्य है. तथा प्रकृति और पुरुषका सम्बन्ध भी नित्य है. तो वहां आत्मज्ञान क्या करेगा ? ज्ञानसे प्रकृतिका अथवा प्रकृतिके सम्बन्धका

नाश तो हो नहीं सकता. इसलिए ज्ञान भी कर्मकी तरह अभ्युदयका हेतु ही है, मोक्षका हेतु नहीं है. इस तरहकी शंका 'पुरुषं प्रकृतिः'से लगाकर 'क्वचित् तत्त्वावमर्शेन' तकके चार श्लोकाॅमृ की है :

देवहूतिः उवाच

पुरुषं प्रकृतिर् ब्रह्मन्! न विमुञ्चति कर्हिचित्।
अन्योन्यापाश्रयत्वाच्च नित्यत्वाद् अनयोः प्रभो! ।।१७।।

श्लोकार्थ : देवहूति बोलीं, ब्रह्मन्! पुरुष और प्रकृति दोनाॅ ही नित्य हैं और एक दूसरेके आश्रयसे रहनेवाले हैं इसलिए प्रकृति कभी पुरुषको छोड नहीं सकती।।१७।।

व्याख्यार्थ: प्रकृति और पुरुषका सम्बन्ध नित्य है, प्रकृति-पुरुषका विशेष कोई भी अनित्य नहीं है, प्रकृतिका सम्बन्ध कोई अबाधक नहीं है. ज्ञानसे प्रकृतिका बाध कहा गया है. परन्तु वह ज्ञान भी त्रिक्षणावस्थायी है इसलिये जब ज्ञानकी निवृत्ति हुई त्याॅ ही प्रकृति बाधक हो जायगी. इसलिये मोक्षमार्ग असङ्गत है. यदि स्वेच्छासे प्रकृति और पुरुष का सम्बन्ध है ऐसा मानाॅगे तो उसमाॅ भी सम्बन्धमाॅ पहले पुरुष ही कारण है, और उस सम्बन्धमाॅ काम निमित्त है. वहां पुरुष काममय ही है इसलिये वह स्वयं प्रकृतिको नहीं छोड़ता है. अब तो यदि प्रकृति ही पुरुषको छोड़कर चली जाय तब तो मुक्ति हो सकती है. इसका उत्तर देते हैं कि 'न विमुञ्चति कर्हिचित्' प्रकृति कभी भी पुरुषको नहीं छोड़ती. 'ब्रह्मन्!' ऐसा सम्बोधन इसलिये दिया है कि आप प्रकृति और पुरुष के स्वरूपको जानते हैं. प्रकृति और पुरुष को एक-दूसरेकी अपेक्षा है. और कोई दूसरा प्रकृति और पुरुषको अलग नहीं कर सकता, एक दूसरेके सहारे हैं. यदि स्वभावसे दोनाॅ भिन्न होते और फिर मिलते तब तो उनको अलग किया जा सकता था परन्तु वे दोनाॅ तो मिले हुए ही हैं जैसे कपडा और तन्तु! जैसे रेशम और कपाससे निर्मित तन्तु(सूत)से कपडा बनाया जाये और फिर उसके तन्तुको अलग-अलग किया जाय तब भी रेशम और कपास अलग नहीं हो सकते. इसी तरह प्रकृतिमाॅ प्रविष्ट पुरुष प्रकृतिरूप हो गया है अतः उस पुरुषको भी प्रकृति ही कहा जाता है. पुरुषमाॅ प्रकृति प्रविष्ट है. वह पुरुषरूप हो गई है, उसे(प्रकृतिको) पुरुष ही कहा जाता है. इस तरहके प्रकृति और पुरुष के सम्बन्धको कौन छुड़ा सकता है? एकके नष्ट होने पर विश्लेष भी सम्भव नहीं क्याॅकि दोनाॅ ही नित्य हैं. 'प्रभो!' यह सम्बोधन

भगवान्केलिये इस कारणसे दिया है कि आप अघटित घटनाको घटित करनेमृ समर्थ हैं।।१७।।

आभास : किसी पुरुषको कोई प्रकृति छोड देती है ऐसी शंका ही नहीं करनी चाहिए उसे कहते हैं :

यथा गन्धस्य भूमेश्च न भावो व्यतिरेकतः ।

अपां रसस्य च यथा तथा बुद्धेः परस्य च ।।१८।।

श्लोकार्थ : जिस तरह गन्ध और पृथिवी तथा रस और जलकी अलग-अलग स्थिति नहीं हो सकती उसी तरह पुरुष और प्रकृति भी एक दूसरेको छोडकर नहीं रह सकते।।१८।।

व्याख्यार्थ: गन्ध भूमिका स्वाभाविक गुण है. वह(गन्ध) कभी भी पृथिवीको नहीं छोड़ सकती. यदि अपने आश्रय(भूमि)का परित्याग कर दे तो उसके अपने स्वरूप नाशका प्रसङ्ग हो जायगा. उसीको 'व्यतिरेकतः न भावः' इससे कहा है. भूमिके सिवाय गन्ध किसीका गुण है नहीं जिससे कि वह दूसरेमृ रह सके. यदि कोई ऐसी शंका करे कि चन्दन आदिमृ गन्ध गुप्तरूपसे पृथ्वीसे अलग भी रहती है उसकेलिये दूसरा दृष्टान्त 'अपां रसस्य'का दिया है. जलमृ कभी भी अप्रकट रस नहीं रहता है क्यृकि रसका अपाकज जलके साथ नियत सम्बद्ध है. इसी तरह बुद्धिका भी 'पर'के साथ नियत सम्बन्ध है. प्रकृतिका सम्बन्ध तो रहने दीजिये प्रकृति जो बुद्धि है उसका सम्बन्ध भी सहज है ।।१८।।

आभास : यदि कहो कि प्रकृति और पुरुष का सम्बन्ध रहते हुए भी मोक्ष हो जाएगा उसकेलिए कहते हैं :

अकर्तुः कर्मबन्धोऽयं पुरुषस्य यदाश्रयः ।

गुणेषु सत्सु प्रकृतेः कैवल्यं तेष्वतः कथम् ।।१९।।

श्लोकार्थ : अकर्त्ता पुरुषको जिस प्रकृतिके गुणृके आश्रयसे कर्मबन्धन प्राप्त हुआ है प्रकृतिके उन गुणृके रहते हुए उसे कैवल्यपद(मोक्ष) कैसे प्राप्त होगा।।१९।।

व्याख्यार्थ: यह आत्मा स्वभावसे अकर्ता है, प्रकृतिके सम्बन्धसे ही इसमृ कर्तापन आता है. कर्त्ताके कर्म, अनन्त हैं और फलके भोगसे उनका विनाश होता है फिर उन कारणृसे(भोगसे) दूसरे कर्म उत्पन्न हो जाते हैं. इससे कभी भी मोक्ष नहीं होता है. (अर्थ) कहते हैं, अकर्त्ता आत्मा यह संसाररूप कर्मसे होने

वाला बंधन प्रकृतिके आधारवाला होता है और उस प्रकृतिके गुण जब तक समाप्त न होवे तब तक मोक्ष कैसे होवे? बंधन कराने वाले और मोक्ष कराने वाले गुण अलग-अलग हैं इसलिये मोक्ष कराने वाले गुणाृका जब सम्बन्ध होय, तब मोक्ष हो. यदि ऐसी शंका हो तो उस सम्बन्धमृ ऐसा कहा कि बंधन कराने वाले गुण समाप्त होनेसे मुक्ति हो ऐसा अर्थ है ।।१९।।

आभास : प्रकृतिकी बाधकता तत्त्वज्ञानसे दूर की जा सकती है, ऐसा भी नहीं मानना चाहिए :

क्वचित् तत्त्वावमर्शेन निवृत्तं भयम् उल्बणम् ।
अनिवृत्तनिमित्तत्वात् पुनः प्रत्यवतिष्ठते ।।२०।।

श्लोकार्थ : कदाचित् तत्त्वाृका विचार करनेसे असह्य भय निवृत्त हो भी गया हो तो भी उसके निमित्तभूत प्राकृत गुणाृका अभाव न होनेसे वह भय फिर उपस्थित हो सकता है।।२०।।

व्याख्यार्थ: 'क्वचित्'का अर्थ है किसी पुरुषविशेषमृ अथवा अवस्था विशेषमृ उत्पन्न ज्ञान, संसारभयको दूर कर सकता है तथापि यह संगत नहीं है. भयका हेतु तो प्रकृतिका सम्बन्ध है. उसकी निवृत्ति जब तक नहीं हो जाती, भय पुनः उपस्थित हो सकता है. 'उल्बणम्'का अर्थ है असह्य ।।२०।।

आभास : ज्ञान क्षणिक है प्रकृति और पुरुषका सम्बन्ध भी नित्य है, प्रकृति भी नित्य है परन्तु फिर भी ऐसा कोई साधन है जिसके द्वारा प्रकृति तिरोभावको प्राप्त हो जाए और सम्बन्ध भी पुनः उपस्थित न हो? उस प्रश्नके उत्तरमृ साधनाृको दो श्लोकाृसे कहते हैं :

श्रीभगवान् उवाच
अनिमित्तनिमित्तेन स्वधर्मेणामलात्मना ।
तीव्रया मयि भक्त्या च श्रुतसम्भृतया चिरम् ।।२१।।

श्लोकार्थ : निष्काम कर्म एवं अपने वर्णाश्रमधर्मोंके पालनके द्वारा निर्मल अन्तःकरणसे तथा साधनाृके द्वारा पुष्ट तीव्र भक्तिसे...(प्रकृति धीरे-धीरे तिरोहित हो जाती है)।।२१।।

व्याख्यार्थ: अनिमित्त(निष्काम) निमित्तेन(कर्मसे) स्वधर्मेण(वर्णाश्रम धर्म)के पालन से, निर्मल अन्तःकरण ही साधन है. अथवा निष्काम कर्म और वर्णाश्रम धर्मका पालन इन दोनाृ साधनाृसे निर्मल अन्तःकरण होता है. ज्ञानके हो

जाने पर भी ये साधन करने चाहिये. अन्तःकरणकी निर्मलतामृ साधनृकी कमी या अधिकता से निर्मलतामृ भी अल्पता या अधिकता होती है. निरन्तर सर्वभावसे होने वाली स्नेहपूर्वक भगवान्‌की सेवाको ही तीव्रभक्ति कहते हैं. इस प्रकारकी भक्तिसे अथवा स्नेहपूर्वक श्रवण आदिसे. 'च'से यहां गुरुभक्ति ली गई है. उस भक्तिको भी निरन्तर साधनृसे पुष्ट करनी चाहिये यह 'श्रुतसम्भृतया'से बताया. अथवा 'श्रुतसम्भृतया'का यह अर्थ है कि चिरकाल तक भगवद्गुणृके श्रवणसे जो पूर्ण है अथवा हृदय गुणृसे पूर्ण हो ।।२१ ।।

ज्ञानेन दृष्टतत्त्वेन वैराग्येण बलीयसा ।
तपोयुक्तेन योगेन तीव्रेणात्मसमाधिना ।।२२।।

श्लोकार्थ : सांख्यके अनुभवसे प्राप्त ज्ञानसे, अत्यधिक वैराग्यसे, तपसे, युक्तयोगसे तीव्र समाधिसे...(प्रकृति धीरे-धीरे तिरोहित हो जाती है)।।२२।।

व्याख्यार्थ: सब तत्त्वृका साक्षात्कार जिससे होता है उस सांख्यके अनुभवसे उत्पन्न होने वाले ज्ञानसे अर्थात् बार-बार साधनृसे, बार-बार ज्ञान प्राप्तिसे, बलवान् वैराग्यसे. यहां ऐसे वैराग्यका ग्रहण है कि विषयृसे अनुरागका अत्यन्ताभाव हो. अर्थात् विषय कभी अपनी ओर आकृष्ट न कर सकृ. तप सहित अष्टाङ्ग योगसे, आत्माको प्रकट करनेमृ समर्थ ऐसी समाधिसे इस तरह ये दस साधन क्रमसे जब होते हैं अथवा इकट्ठे जब होते हैं तब पुरुषसे सम्बन्धित प्रकृतिको निरन्तर दहन कर देते हैं ।।२२।।

आभास : वैसा होने पर जो होता है उसे कहते हैं :

प्रकृतिः पुरुषस्येह दह्यमाना त्वहर्निशम् ।
तिरोभवित्री शनकैर् अग्नेर्योनिरिवाऽरणिः।।२३।।

श्लोकार्थ : जिस तरह अरणि(एक प्रकारकी लकडी)से उत्पन्न होने वाली अग्नि, उस अरणिको धीरे-धीरे जला देती है, उसी तरह पुरुषकी प्रकृति रात-दिन जलती रहनेसे धीरे-धीरे तिरोहित हो जाती है।।२३।।

व्याख्यार्थ: निरन्तर जलती हुई(लकड़ी) अथवा रात-दिन जलती हुई धीरे-धीरे तिरोहित हो जाती है. यदि शंका हो कि ये साधन भी तो प्रकृतिसे सम्बन्धित है तो फिर इन साधनृसे प्रकृति कैसे नष्ट होगी ? इन साधनृसे तो प्रकृति और भी पुष्ट होगी! इस शंकाके उत्तरमृ एक दृष्टान्त देते हैं. 'अग्नेर्योनिरिवाऽरणिः'

जैसे अरणिसे ही अग्नि उत्पन्न होती है परन्तु वह अग्नि अरणिको नष्ट ही कर देती है, अरणिको बढ़ाती नहीं है उसी तरह ये प्राकृत साधन प्रकृतिका तिरोधान ही करूगे उसे बढ़ायेगू नहीं. काष्ठके द्वारा निर्मित पीढा आदि जैसे काष्ठके पोषक हैं उसी तरह काष्ठसे उत्पन्न होने वाली भी अग्नि काष्ठकी पोषक नहीं है. इसलिये लौकिक कर्म ही प्रकृतिके पोषक हैं वे साधन प्रकृतिके पोषक नहीं है ।।२३।।

आभास : प्रकृतिका पुनः उद्गम हो जाएगा ऐसी यदि शंका हो तो उसका वारण करते हैं :

भुक्तभोगा परित्यक्ता दृष्टदोषा च नित्यशः ।
नेश्वरस्याऽशुभं धत्ते स्वे महिम्नि स्थितस्य च ।।२४।।

श्लोकार्थ : नित्यप्रति दोषूके दिखाई देनेसे भोग करके त्यागी हुई प्रकृति अपने स्वरूपमू स्थित ईश्वर(स्वतन्त्र) उस पुरुषका कुछ भी नहीं बिगाड सकती।।२४।।

व्याख्यार्थ: भोगूका यदि उपयोग न किया जाय तो अभुक्तभोग वासनाके द्वारा हृदयमू प्रविष्ट हो जाते हैं. वे कदाचित् निवृत्त न भी हों किन्तु भुक्त भोग तो निवृत्त होते ही हैं और फिर इनका भोग बहुलभोग लिया है इस बुद्धिसे छोड़े गये हू और फिर जिनमू दोष देखे हू, जैसे अपवित्ररूपसे छोड़े गये अन्न आदिमू अनुरक्ति नहीं होती है. यदि कदाचित् दोष दिखाई दे परन्तु उसमू यदि भीतर रहने वाला अनुराग ही निवृत्त न हो तो उसमू कदाचित् दोषकी स्फूर्ति न भी हो परन्तु इनमू तो दोष सदा ही दीखते हैं यह 'नित्यशः'से बताया है. उनमू अनुराग न होनेसे ही तो दोष दीखते हैं. जैसे गृहस्थको उसकी भार्या कष्ट पहुंचा सकती है यदि परन्तु गृहस्थ समर्थ है तो उसको एक भार्या तो क्या सैकड़ू भार्या भी दबा नहीं सकती. उसी तरह यह प्रकृति भी जो प्रकृतिका दास हो गया है उसे ही बाधित करती है परन्तु जो इसका दास नहीं है उसे बाधा नहीं पहुंचा सकती. ऐसी ईश्वरता तो भगवान्की कृपासे अथवा भगवद्धर्मोंकी प्राप्तिसे होती है. इसीको 'नेश्वरस्य अशुभं धत्ते'से कहा है. एक कारण और भी है कि ''स्वे महिम्नि स्थितस्य च'' जो अपनी महिमामू स्थित है वह भी अशुभूको प्राप्त नहीं होता. जो अपने ही आनन्दमू रमण करता है उसे प्रकृति बाधा नहीं पहुंचा सकती है. क्यूकि, उसको प्रकृतिकी आवश्यकता ही नहीं है. जैसे जो सब प्रकारसे विरक्त होता है उसे भार्या क्या बाधा पहुंचायेगी? और जो स्वयंमू ही रमण करता है उसे

भी क्या बाधा पहुंचा सकती है? यह 'च' शब्दका अर्थ है ।।२४।।

यथा ह्यप्रतिबुद्धस्य प्रस्वापो बह्वनर्थकृत् ।
स एव प्रतिबुद्धस्य न वै मोहाय कल्पते ।।२५।।

श्लोकार्थ : जैसे सोये हुए पुरुषको स्वप्नमृ अनेक अनर्थोंका अनुभव करना पडता है किन्तु जग जाने पर उन स्वप्नके अनुभवृासे किसी प्रकारका मोह नहीं होता।।२५।।

व्याख्यार्थ: यह प्रकृति नींदकी तरह पुरुषको पीड़ा पहुंचाती है, नींद जैसे स्वप्नको उत्पन्न करके पुरुषको पीड़ित करती है उसी तरह प्रकृति संसारको उत्पन्न कर बाधा करती है. वह स्वप्न भी भगवान्की मायासे उत्पन्न सर्वप्रपञ्चात्मक है. भगवान्की इच्छासे विद्यमान होते हुए भी जो जगा नहीं है उसीको अनेक अनर्थोंका अनुभव करना पड़ता है. 'प्रतिबुद्ध' (जगा हुआ) है ऐसे किसीको कभी भी किसी देशमृ भी मोह हो ही नहीं सकता. किन्तु उस स्वप्नका स्मरण मात्र उत्पन्न होता है ।।२५।।

आभास : इसी तरह जिसको तत्त्वृाका ज्ञान है उस पुरुषकी प्रकृति संसारको उत्पन्न करके उसका अपकार(बुरा) नहीं कर सकती है :

एवं विदित–तत्त्वस्य प्रकृतिर्मयि मानसम् ।
युञ्जतो नाऽपकुरुते आत्मारामस्य कर्हिचित् ।।२६।।

श्लोकार्थ : उसी तरह जिसे तत्त्वज्ञान हो गया है और जिसका मन मुझमृ लगता रहता है उस आत्माराम मुनिका प्रकृति कुछ भी नहीं बिगाड सकती।।२६।।

व्याख्यार्थ: स्वभावसे ही प्रकृति मोहक न हो इसमृ तत्त्वृाका ज्ञान कारण है. हठात् अदृष्ट आदिके द्वारा भी प्रकृति अपकार न कर सके इसकेलिये भगवान्मृ मनको लगाना चाहिये. जो आत्मामृ ही रमण करते हैं ऐसे आत्मारामका प्रकृति काम आदिकी उत्पत्तिके द्वारा भी अपकार नहीं कर सकती. अतएव तीनृा ही प्रकारसे प्रकृति बाधक नहीं हो सकती, इसकेलिये 'कर्हिचित्' ऐसा कहा है अर्थात् कभी भी नहीं ।।२६।।

आभास : इस तरह प्रकृतिकी बाधकताका अभाव कहकर, जिसको तत्त्वका ज्ञान हो गया है उसको प्रकृति बाधा नहीं करती उसके अनन्तर साधनपूर्वक भगवत्प्राप्तिरूप मोक्षका चार श्लोकृासे वर्णन करते हैं:

साधनं च फलञ्चैव फलत्वं चाऽपि तस्य च।
प्रतिबन्ध–निवृत्यैव तत्प्राप्तिर्बाधनाशतः ।।का.१।।
एतत् चतुष्टयं प्राह चतुर्भिर्नाऽन्यथा फलम्।
तादृशस्यापि हि भवेद् इति ज्ञानोत्तरक्रिया ।।का.२।।

कारिकार्थ : साधन और फल तथा साधनकी ही फलता, बाधके नाशसे, प्रतिबन्धककी निवृत्तिसे भगवत्प्राप्ति इन चारका वर्णन चार श्लोकाूसे कहते हैं. इनके बिना फलप्राप्ति नहीं होती. वैसा होने पर भी कभी बाधकी सम्भावना हो सकती है, इसलिए ज्ञानके अनन्तर भी क्रिया करनी चाहिए।।१–२।।

आभास : पहले साधन कहते हैं :

यदैवम् अध्यात्मरतः कालेन बहुजन्मना।
सर्वत्र जातवैराग्य आब्रह्मभुवनाद् मुनिः।।२७।।

श्लोकार्थ : जब मनुष्य अनेक जन्माूमृ बहुत काल तक अध्यात्मचिन्तन्मृ रत रहता है, तब उस मुनिको ब्रह्मलोक पर्यन्त सब प्रकारके भोगाूसे वैराग्य हो जाता है।।२७।।

व्याख्यार्थ: पहले ज्ञानकेलिये और प्रकृतिके विजयकेलिये जितने साधनाूका निरूपण है, वे दोनाू ही प्रकारके साधन अनेक जन्माूमृ अनेक बार किये जाते हैं तब आत्मज्ञानमृ अनुराग उत्पन्न होता है. ज्ञान तो प्रमाण और वस्तुके अधीन होनेसे अनेक प्रकारका होता है. और फिर ज्ञानमृ अनुराग तो कदाचित् ही होता है क्याूकि अनुराग(रति)मृ कालका कोई नियम नहीं है कि इतने समयमृ अनुराग हो ही जायेगा. इसलिये 'यदैवम्' ऐसा कहा है. अर्थात् जब कभी हो. इस तरह आकांक्षासे युक्त मानव अनेक जन्माूमृ और बहुत कालसे अध्यात्मज्ञानमृ अनुराग करता है, उस समय सर्वत्र वैराग्य उत्पन्न हो सकता है. उससे भी बहुत जन्माूमृ सर्वत्र वैराग्य होता है. 'आब्रह्मभुवनात्'का अर्थ है क्रममुक्तिमृ भी वैराग्य होता है. उसमृ भी निरन्तर मनन साधन है क्याूकि बाह्य पदार्थोंकी निवृत्ति उसमृ भी आवश्यक है ।।२७ ।।

मद्भक्तः प्रतिबुद्धार्थो मत्प्रसादेन भूयसा।
निःश्रेयसं स्वसंस्थानं 'कैवल्या'ख्यं मदाश्रयम्।।२८।।
प्राप्नोतीहाञ्जसा धीरः स्वदृशा छिन्नसंशयः।
यद् गत्वा न निवर्तेत योगी लिङ्गाद् विनिर्गमे ।।२९।।

श्लोकार्थ : मेरा भक्त मेरी महती कृपासे तत्त्वज्ञान प्राप्त करके आत्मानुभवके द्वारा सारे संशयॄसे मुक्त हो जाता है और फिर लिंगदेहका नाश होने पर मेरे ही आश्रित अपने स्वरूपभूत 'कैवल्य'संज्ञक पदको अनायास ही प्राप्त कर लेता है, जहां पहुंचने पर योगी पुनः लौटकर नहीं आता।।२८-२९।।

व्याख्यार्थ: इस तरह अनेक जन्मॄके बीतने पर ही मेरा भक्त होता है. भक्त होने पर ही वह प्रतिबुद्धार्थ अर्थात् तत्त्वज्ञानी होता है. जब तक भगवान्मॄ भक्ति नहीं होती तब तक वह यह नहीं जान सकता कि पुरुषार्थ क्या है. जब भगवान्मॄ भक्ति होती है तब भगवान् ही परमपुरुषार्थ हैं ऐसा ज्ञान होता है. ऐसा ज्ञान होने पर ही भगवान्की कृपा होती है. भगवान्की कृपासे वैकुण्ठकी प्राप्ति होती है. वह वैकुण्ठ ही तो अत्यन्त श्रेयःरूप है. वह वैकुण्ठ भगवान्का और जीवका भी उत्तम स्थान है. वहीं पर पुरुष केवल(मुक्त) हो जाता है. वैकुण्ठमॄ सभी आत्मरूप हैं और आत्मरूपसे प्रतीत होते हैं. वह वैकुण्ठ ही मेरा स्थान है. जो मेरे स्थानको प्राप्त होता है वह मेरे ही समान हो जाता है. वैसा बननेमॄ किसी आयासकी आवश्यकता नहीं है यह 'अञ्जसा'से बताया है. 'इह'का अर्थ है इसी शरीरमॄ उसे प्राप्त कर लेता है. ब्रह्माण्डभेदन आदिकी आवश्यकता नहीं है. शंका होती है कि वैकुण्ठ अथवा भगवान्की प्राप्तिको परमपुरुषार्थरूप मानना यह अन्य शास्त्रॊसे और युक्तिसे विरुद्ध प्रतीत होता है! इस सन्देहकी निवृत्ति केलिये 'स्वदृष्ट्या छिन्नसंशयः' ऐसा कहा. आत्मज्ञानके द्वारा उनका यह सन्देह नष्ट हो जाता है. शास्त्रका यह अर्थ है, यह श्रुति और सूत्रॊसे निरूपित है. इसमॄ ही शास्त्रका पर्यवसान है यह ''यद्गत्वा न निवर्त्तेत'' इससे बताया है. जहां जाने पर पुनः लोट कर नहीं आता, यही सिद्धान्त ''अनावृत्तिः शब्दात्'' इस सूत्रमॄ भी बताया. इसीमॄ तीनॄ वेदॊकी तथा शास्त्रकी परिसमाप्ति(अन्तिम निर्णय) है. मेरा भक्त जो मेरे स्थानमॄ पहुंच जाता है वह पुनः वहांसे लौटकर नहीं आता. लिङ्गदेहके नष्ट हो जाने पर योगी भी नहीं लौटता है ।।२८-२९।।

आभास : योगियॊके अन्तिम जन्ममॄ अनेक विघ्नॊकी संभावना होती है. स्मृतिमॄ कहा कि ''अच्छे कामॊमॄ बहुत विघ्न होते हैं''. उन विघ्नॊसे यदि योगी बच जाता है तब कालका अतिक्रमण करके मेरे लोकमॄ जाता है इसे कहते हैं :

यदा न योगोपचितासु चेतो मायासु सिद्धस्य विषज्जतेऽङ्ग! ।
अनन्यहेतुष्वथ मे गतिः स्याद् आत्यन्तिकी यत्र न मृत्युहासः ।।३०।।

श्लोकार्थ : यदि योगीका चित्त योगसे प्राप्त होनेवाली अणिमा आदि सिद्धियाॅंमृ, जिनकी प्राप्तिमृ योगके अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है उनमृ, आसक्त नहीं होता तब वह मेरे उस अविनाशी पदको प्राप्त करता है जहां मृत्यु कभी गर्व नहीं कर सकती।।३०।।

व्याख्यार्थ: जिसका योगके द्वारा समीपमृ लाई गई अणिमा आदि मायाआॅंमृ चित्त आसक्त(फंसता) नहीं होता, उन सिद्धियाॅंके प्राप्त करनेमृ योगके सिवाय कोई अन्य साधन नहीं है. इस कथनसे उनकी प्राप्तिमृ कोई आयास नहीं है यह सिद्ध होता है. जब योगी उन सिद्धियाॅंमृ आसक्त नहीं होता है तब वह वैकुण्ठको प्राप्त करता है. किसी ब्राह्मणका अपनेसे कोई सम्बन्ध हो ऐसे ब्राह्मणको यदि भोजन कराया जाता है तो उससे ब्राह्मणभोजन करानेका मुख्यफल नहीं होता है, किन्तु उसका अन्य ही कोई फल होता है. योगीके पास सिद्धियां आवृ किन्तु उन सिद्धियाॅंमृ जब उसका चित्त आसक्त नहीं होता तो उसीके बाद उसे भगवत्प्राप्ति हो जाती है. यद्यपि भगवत्सम्बन्धी गति अनेक प्रकारकी होती है. सगुण भी होती है, परन्तु यह गति आत्यन्तिकी है जिसके फलमृ मृत्युका गर्व भी नष्ट हो जाता है. फल-साधन-प्रमेय-प्रमाणाॅंके चक्करमृ डालकर मृत्यु सब प्रकारसे अपने वशमृ ले लेती है. उसका यह सारा प्रयास यदि व्यर्थ हो जाता है तो उसका गर्व चला जाता है. वहां(वैकुण्ठ मृ) जब मृत्युका 'हासः'(गर्व) नहीं है इसलिये यहां भ्रम कभी नहीं करना चाहिये. जिस शास्त्रमृ अथवा मतमृ या साधनाॅंमृ कदाचित् भी प्राणी मरता है वह ही असत्शास्त्र और असत्साधन है उसका यह ही निदर्शन है ।।३० ।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराणके तृतीय स्कन्धके २७ वृ अध्यायकी
श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्रीसुबोधिनी टीकाका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण.

अध्याय २८

साधन सहित अष्टाङ्ग योगका निरूपण

चित्तञ्चेद् भगवत्स्पृष्टं भक्ति–ज्ञान–विरक्तिभिः।
तदा शुद्धं स्वसम्बन्धि–पुरुषं गमयेत् फलम्।।१।।
योगेनाऽपि भवेत् शुद्धम् इति योगो निरूप्यते।
अष्टाविंशे ध्यानयुक्तः सर्वसाधनसंयुतः।।२।।
यत्रैव भगवद्वेशः तत् प्रमाणादिकं भवेत्।
स्वतः शुद्धो हरेर्नाऽन्यः स्वाध्याय इव सर्वथा।।३।।

कारिकार्थ : भक्ति, ज्ञान और वैराग्य इन तीन साधनाृके द्वारा भगवान् प्रसन्न होते हैं तब भगवान् चित्तका स्पर्श करते हैं. भगवान्के स्पर्शसे चित्त जब शुद्ध हो जाता है तब वह चित्त स्वसम्बन्धसे युक्त पुरुषरूप फलको प्राप्त कराता है इसलिए पहलेके तीन अध्यायाृमृ भक्ति, ज्ञान और वैराग्य इन तीन साधनाृका निरूपण किया है।।१।।

जिस तरह इन तीन साधनाृसे चित्त शुद्ध होता है वैसे ही योगसे भी चित्तकी शुद्धि होती है. इसलिए अट्ठावीसवृ अध्यायमृ योगका निरूपण किया जाता है. शंका : पूर्वके तीन अध्यायाृमृ तीन साधनाृसे चित्तकी शुद्धि होती थी यहां केवल योगसे उसकी शुद्धि कैसे होगी? उसके समाधानकेलिए 'ध्यानयुक्तः' ऐसा कहा. अर्थात् योगमृ ध्यान भी है अतः ध्यानयुक्त योग, चित्तको शुद्ध कर सकता है. क्याृकि ध्यानसे भगवत्सम्बन्ध हो जाता है, और भगवत्सम्बन्धसे चित्तकी शुद्धि हो ही जाती है. इस तरह चित्तको शुद्ध करनेके साधनाृका वर्णन पच्चीसवृ अध्यायसे लेकर अट्ठाईसवृ अध्याय तक किया है. अतः एक ही कार्य करनेके कारण इन चारृ अध्यायाृकी संगति है।।२।।

यह शंका होती है कि उक्त संगति ठीक है परन्तु शास्त्रके और मैत्रेयजीकी उक्तिमृ जो अवसर है वह कैसे होगा, उसे तृतीय कारिकासे कहते हैं. भगवान्का जिस वस्तुमृ आवेश होता है वह वस्तु प्रमाणरूप, प्रमेयरूप, साधनरूप और प्रकृष्ट(उत्तम) फलरूप हो जाती है. भगवान्के सिवाय स्वतःशुद्ध कोई नहीं है. जब भगवान्का सम्बन्ध होता है तब वह शुद्ध होता है. जैसे स्वाध्याय(वेद) भी भगवत्सम्बन्ध होनेसे ही शुद्ध है. उसी तरह योग भी

भगवदावेशके कारण भगवद्भोग सृष्टिमृ प्रमाणरूपसे सर्व प्रकाशक होनेसे शुद्ध है इसलिए शास्त्रीय अवसरकी सिद्धि होती है और वह ही योग यहां इन्द्रियसंयमरूप होनेसे और स्वरूपका व्यवस्थापक होनेसे मोक्षरूप है इसलिए मैत्रेयजीकी उक्तिमृ भी उसका अवसर है।।३।।

आभास : पूर्वके अध्यायामृ भक्ति, सांख्य और ज्ञान का निरूपण करके इस अध्यायमृ फलपर्यन्त योगका निरूपण करते हैं :

श्रीभगवान् उवाच

योगस्य लक्षणं वक्ष्ये सबीजस्य नृपात्मजे।
मनो येनैव विधिना प्रसन्नं याति सत्पथम् ।।१।।

श्लोकार्थ : भगवान् कपिलदेवजी कहते हैं, हे माता! अब मैं तुम्हृ ध्यान सहित सबीज योगका लक्षण कहूंगा जिसके द्वारा चित्त शुद्ध एवं प्रसन्न होकर सन्मार्गमृ प्रवृत्त हो जाता है।।१।।

व्याख्यार्थ: योग अनेक प्रकारके हैं. उनमृ ध्यान सहित योग भी दो प्रकारका है: सबीज और निर्बीज. सबीज भी अनेक प्रकारका है. नाना प्रकारके अर्थ ध्यानके विषय हैं, उसमृ जो भगवद्ध्यानका विषय है उससे चित्त सन्मार्गमृ प्रवेश करता है, अर्थात् भगवान्की कृपासे स्वदेवतासे प्रवेश करता है. इसलिये कहा है कि ''मैं सबीज योगका लक्षण कहूंगा''. गीतामृ निर्बीजयोगका ''यतो यतो निःसरति'' (भग.गीता ६।२६) से कथन है. सबीजयोग ध्येय सहित होता है. ऐसा योग सुगम भी है. सुगम ही तुम्हारेलिये उपयुक्त होगा क्यृकि तुम राजकुमारी हो. सुगम योगकी विधिसे ही मन शीघ्र प्रसन्न होकर सन्मार्गको प्राप्त करता है. अपने ध्येय देवताका अभिनिवेश होनेसे प्रसाद(प्रसन्नता) होता है. तब सन्मार्ग गामी होता है. सन्मार्गका अर्थ है आत्ममार्ग या भगवन्मार्ग अथवा वेदोक्तमार्ग ।।१ ।।

आभास : यहां पच्चीस साधनाृको बताते हैं. यम, नियमादि साधनाृका संमिश्रण (भेलसेल) करके तत्त्व पच्चीस हैं. उनका अतिक्रमण करनेके उतने ही (पच्चीस ही) साधन हैं. एक साधनसे एक तत्त्वका अतिक्रम नहीं होता इसलिए अन्य साधनाृका भी निर्देश किया जाता है :

स्वधर्माचरणं शक्त्या विधर्माच्च निवर्तनम्।
दैवाद् लब्धेन सन्तोष आत्मवित् चरणार्चनम् ।।२।।

श्लोकार्थ : यथाशक्ति शास्त्रविहित स्वधर्मका आचरण करना, शास्त्र विरुद्ध आचरणका त्याग करना, प्रारब्धके अनुसार जो मिल जाए उसीमें संतुष्ट रहना, आत्मज्ञानियोंके चरणोंकी सेवा करना।।२।।

व्याख्यार्थ: १.'स्वधम'(देहधर्मों)का तथा वर्णाश्रमोंके अधिकारानुसार धर्मोंका शक्तिके अनुसार आचरण करना चाहिये. शक्तिमें संकोच(कमी) न करना. शास्त्र भी ऐसा ही कहता है: 'यत् शक्नुयात् तत् कुर्यात्' जितनी शक्ति हो उसके अनुसार करे. २.विधर्मसे निवृत्त होना यह दूसरा साधन है. जिसके करनेमें अपने धर्ममें बाधा हो उसे 'विधर्म' कहते हैं. इसका निर्णय अधिकारके अनुसार ही करना चाहिए. जब तक विपर्यय अभ्यासकी दृढ़तासे देही आत्माके रूपसे भासित होता है तब तक वर्णाश्रम धर्म ही स्वधर्म है, भगवद्धर्म आदि भी विधर्म हैं अथवा परधर्म हैं. परन्तु जब सङ्घात(देह)से अलग जीवको आत्मा मानता है तब दास्य स्वधर्म होता है, वर्णाश्रम आदि अन्य परधर्म होते हैं. जब भगवद्भावको प्राप्त हो जाते हैं तब ऋषभदेवजीकी तरह गोचर्यादि अलौकिक धर्म ही स्वधर्म होते हैं और अन्य परधर्म होते हैं. 'विधर्माच्च'के 'च'से परधर्म, आभास धर्म, उपधर्म, छलधर्म इन चारोंका संग्रह है. यह अपनी शक्तिसे भगवत्प्रेरणासे ज्ञान प्राप्त करता है और अपने ज्ञानसे अथवा शरीर शक्तिसे ज्ञानके बाधकके अभावमें जो वर्णाश्रम धर्मात्मक और ज्ञानात्मक दोनों धर्मोंका अनुष्ठान करे वह धर्मानुष्ठान एकतर(एकका भी) विरोधी नहीं हो. ३.तीसरा साधन बताते हैं 'दैवाद् लब्धेन सन्तोष:' प्रारब्धसे जो मिल जाय उसमें संतोष करना. यहां जो 'दैवात्' पद है उससे आवश्यककी प्राप्ति सूचित होती है यदि आवश्यककी प्राप्ति न हो तो अजगरकी तरह कोई प्रयत्न न करता हुआ प्रसन्न रहे ऐसा जानना चाहिये. 'एतैरन्यैश्च पथिभिः' इस अग्रिम अतिदेशसे ऐसा जानना चाहिये. ४.आत्म-ज्ञानियोंकी चरणपूजा करनी चाहिये अर्थात् उनका दास बनकर रहना चाहिये. उसका आत्मज्ञानीपन अक्षोभ(शान्त चित्तपन) आदिसे जाना जा सकता है ।।२।।

ग्राम्यधर्मनिवृत्तिश्च मोक्षधर्मरतिस्तथा।
मितमेध्याशनं शश्वद् विविक्तक्षेम-सेवनम्।।३।।

श्लोकार्थ : विषयवासनाओंको बढानेवाले कर्मोंसे दूर रहना, अहिंसा आदि मोक्ष धर्मोंमें अनुराग रखना, पवित्र और परिमित(सीमित) भोजन करना, निरन्तर एकान्त और भय रहित स्थानमें रहना।।३।।

व्याख्यार्थः ५.ग्राम्यधर्म, लौकिकधर्म कहे जाते हैं अथवा इन्द्रियाॅके धर्म ग्राम्यधर्म हैं. 'च'से स्वधर्म भी यदि ग्राम्य धर्म हो तो उनका परित्याग करना चाहिये. ६.मोक्षधर्म अहिंसा आदि इनमॅ अनुराग रखना. 'तथा'का तात्पर्य यह है कि मोक्षधर्म भी ग्राम्यधर्म निवृत्तिकी तरह साधन है. मोक्षधर्मको परधर्म कहीं न समझ ले तथा उसमॅ अधर्मकी आशंका न हो जाय इसलिये वैसा कहा है. ७.'मितः' (परिमित) 'मेध्य'(पवित्र) भोजन करना चाहिये. 'शश्वत्'का अर्थ है सर्वदा. जहां 'मितमेध्यस्य अदनम्' ऐसा पाठ हो, वहां चबाने योग्य फल आदि ही खाने चाहिये ऐसा समझना. ८.'विविक्त'का अर्थ एकान्त, और 'क्षेम'का अर्थ है निर्भय, ऐसे स्थानमॅ रहना चाहिये. उस तरहके देशमॅ उसको शुद्ध करते हुए सेवन करता हुआ रहे ।।३।।

अहिंसा सत्यम् अस्तेयं यावदर्थ–परिग्रहः।
ब्रह्मचर्यं तपः शौचं स्वाध्यायः पुरुषार्चनम्।।४।।

श्लोकार्थः मन, वाणी और शरीरसे किसीको न सताए, सत्य बोले, चोरी न करे, आवश्यकतासे अधिक वस्तुका संग्रह न करे, ब्रह्मचर्यका पालन करे, पवित्रतासे रहे, शास्त्राॅका अध्ययन करे और भगवानकी पूजा करे।।४।।

व्याख्यार्थः ९.शरीर–वाणी–मनसे सब प्राणियाॅमॅ द्रोह न करनेको अहिंसा कहते हैं. यदि मांगे नहीं परन्तु प्रसिद्धि होनेसे अन्यको छोड़कर उसे ही लोग देते हों तो अन्य लोगाॅकी वृत्ति पर आघात होता है तो यह भी अल्पद्रोह कहा जाता है ऐसा किन्हींका कहना है. अतः जहां अपनी प्रसिद्धि हो गई हो ऐसे स्थान पर नहीं रहना. १०.यथार्थ भाषणको सत्य कहते हैं. ११.दूसरेकी वस्तुको न लेना अस्तेय है. १२.'यावदर्थपरिग्रह'का अर्थ है जितनी वस्तुसे अपना योग(प्रयोजन) सिद्ध हो जाता है उतना ही लेना उससे अधिक न लेना. १३.ब्रह्मचर्यसे अष्टाङ्ग ब्रह्मचर्यका ग्रहण है. १४.तपसे कृच्छ्रचान्द्रायण आदि. १५.जिनसे बाह्य शुद्धि और आन्तर शुद्धि हो उन साधनाॅके करनेको शौच कहते हैं. १६.स्वाध्यायसे वेदाध्ययन और १७.पुरुषार्चनसे भगवत्पूजाका ग्रहण करना ।।४।।

मौनं सदासनजयः स्थैर्यं प्राणजयः शनैः।
प्रत्याहारश्चेन्द्रियाणां विषयाद् मनसा हृदि।।५।।

श्लोकार्थः मौन, सदा आसनके द्वारा चित्तको अपने वशमॅ करना, धीरे–धीरे प्राणायामके द्वारा श्वासको जीतना, इन्द्रियाॅको मनके द्वारा विषयाॅसे

हटाकर अपने हृदयमॄ लाना।।५।।

व्याख्यार्थ: १८.मनुष्याॄके साथ सम्भाषण न करना अथवा व्यर्थकी बातॄ न करना मौन है, १९.निरन्तर आसनका सब तरहसे जय करना चाहिये जिससे चित्त कदापि पराधीन न हो जाय. २०.एक निष्ठाको 'स्थैर्य' कहा है अर्थात् चञ्चलताका अभाव. २१.प्राणायाम आदिके द्वारा धीरे-धीरे प्राणॄको जीतना. २२.इन्द्रियाॄको विषयाॄसे हठपूर्वक निवृत्त करना. 'च' से अर्थ है इन्द्रियाॄका जय करना. विषय मोहक होते हैं अतः मन सहित इन्द्रियाॄको उनसे हटाना प्रत्याहार है अथवा प्रत्याहारमॄ मन करणभूत है. विषयाॄसे मनके सहित इन्द्रियाॄको हठात् खींचकर उन्हॄ हृदयमॄ स्थापित करना. यह पूरा एक साधन है ।।५।।

धिष्ण्यानाम् एकदेशेन मनसा प्राणधारणम् ।
वैकुण्ठलीलाभिध्यानं समाधानं तथात्मनः।।६।।

श्लोकार्थ : मूलाधार आदि किसी एक केन्द्रमॄ मनके सहित प्राणॄको स्थिर करना, निरन्तर भगवान्की लीलाआॄका चिन्तन और चित्तको समाहित करना।।६।।

व्याख्यार्थ: २३.मूलाधार आदि स्थानॄके एकदेशसे सब स्थानॄसे प्राणॄको खींचकर हृदय आदि किसी स्थानमॄ एक देशसे मनके सहित प्राणॄको धारण करना. यहां मनकी योजना इन्द्रिय जयके साथ और प्राणायामके साथ भी करना. अर्थात् मन सहित इन्द्रियाॄको तथा मन सहित प्राणॄको एकदेशमॄ स्थापित करना. 'एकदेशेन' यह सप्तमीके अर्थमॄ तृतीया ऐसा समझना. २४.'वैकुण्ठ-लीलाभिध्यानं'का अर्थ है भगवान्की लीलाआॄका निरन्तर चिन्तन करना. २५.सभी अवस्थाआॄमॄ व्यग्रताका अभाव ही अन्तःकरणका समाधान है. स्वसिद्धान्तमॄ ये साधन कहे गये हैं और मतान्तरमॄ सिद्ध अन्य साधनाॄका भी यहां उपयोग किया जा सकता है ।।६।।

एतैर् अन्यैश्च पथिभिर् मनो दुष्टम् असत्पथे ।
बुद्ध्या युञ्जीत शनकैर् जितप्राणो ह्यतन्द्रितः।।७।।

श्लोकार्थ : पूर्वोक्त इन साधनाॄसे तथा व्रत, दान आदि अन्य साधनाॄसे भी सावधानीके साथ प्राणॄको जीतकर बुद्धिको जीतकर बुद्धिके द्वारा अपने कुमार्गगामी दुष्ट चित्तको धीरे-धीरे एकाग्र करे, परमात्माके ध्यानमॄ लगावे।।७।।

व्याख्यार्थ: सभी मार्गोंसे असत्पथ(लौकिक मार्ग)मॄ प्रवृत्त दुष्ट मनका

बुद्धिसे योग करे, अर्थात् दुष्ट मनको असन्मार्गकी ओरसे हटाकर विवेक वाली बुद्धिसे आत्मामॄ लगा दे. मनका योग करनेमॄ बल प्रयोग नहीं करना चाहिये. अन्यथा मन कलुषित हो जायेगा यह 'शनकैः' इस पदसे सूचित होता है. इस तरह जीते हुए प्राणॄका और जीती हुई इन्द्रियॄका सदा अन्वेषण होता है ।।७ ।।

आभास : इस तरह खण्डशः किये हुए अनेक जन्मॄसे सिद्ध साधनॄसे जब मन इन्द्रियां प्राण और देह सिद्ध होते हैं तब फलपर्यवासयी योगमॄ उनको मुक्त करे उसे कहते हैं:

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य विजितासन आसनम् ।
तस्मिन् स्वस्तिकम् आसीनः ऋजुकायः समभ्यसेत् ।।८।।

श्लोकार्थ : पवित्र देशमॄ आसनको बिछाकर पहले आसनको जीते. फिर उस आसन पर शरीरको सीधा और स्थिर रखते हुए सुखपूर्वक बैठकर अभ्यास करे।।८।।

व्याख्यार्थ: अनेक प्रकारसे अनेक बार पूर्वोक्त यम-नियम जब हुए हॄ तब आसन कहा जाता है. पवित्र देशमॄ जैसे गंगा आदिके तीरका प्रदेश हो और केश, कीट, अस्थि आदिसे रहित स्थान पर पहले कुशका आसन बिछाकर उस पर मृगचर्म बिछाए. उस पर कपड़ेका आसन बिछाकर उस पर बैठकर अभ्यासके द्वारा आसनको जीते. सब आसनॄका अभ्यास उसी आसन पर करे. जब आसनको जीत लेता है तब उसी आसन पर स्वस्तिकासनसे बैठे, शरीरको सीधा रखते हुवे ठीक तरहसे योगका अभ्यास करे. जितने प्राणी हैं उतने ही आसन हैं. उनमॄ स्वस्तिक और पद्मासन ही श्रेष्ठ हैं उसमॄ स्वस्तिकासनसे बैठकर प्राणगति सरलतासे हो सकती है अतः सीधा बैठे और प्राणायामका अभ्यास करे ।।८।।

प्राणस्य शोधयेद् मार्गं पूर-कुम्भक-रेचकैः।
प्रतिकूलेन वा चित्तं यथा स्थिरम् अचञ्चलम् ।।९।।

श्लोकार्थ: पूरक-कुम्भक और रेचक क्रमसे अथवा इसके विपरीत पहले रेचक फिर कुम्भक और तदनन्तर पूरकसे प्राणके मार्गको शुद्ध करे जिससे चित्त स्थिर और निश्चल हो जाए।।९।।

व्याख्यार्थ: उसी अभ्यासमॄ प्राणके मार्गको शुद्ध करे. भौतिक नाडियां मल आदिसे भरी रहती हैं, उन्हॄ पूरक कुम्भक और रेचकके द्वारा शुद्ध करे. पहले उनमॄ वायु भरकर फिर स्तम्भित करके कुम्भकसे नाड़ीको सुखाकर पक्क करके

बादमॄ मल और वायु दोनॄका रेचन करे. इस तरह बार-बार पूरक आदिके द्वारा मार्गको शुद्ध करे. अथवा प्राणायामके भेद कुम्भक आदिसे मार्गको शुद्ध करे. यहां रेचक-पूरक और कुम्भक इस प्रतिकूल प्रक्रियाके द्वारा भौतिक नाड़ियॄको शुद्ध करे. अधिक क्या कहा जाय, जिस तरहसे चित्त अपनी चञ्चलताका परित्याग करके स्थिर हो जाय उस तरहसे प्राणके मार्गको शुद्ध करे. प्राणमार्गका शोधन प्राणायाम आदिसे ही करे, अन्य प्रकारसे न करे क्यॄकि शुद्धिका अन्य प्रकार(मूत्रपान आदि) वैध न होनेसे उससे चित्त शुद्ध नहीं होता ।।९।।

मनोऽचिरात् स्याद् विरजं जितश्वासस्य योगिनः ।
वाय्वग्निभ्यां यथा लोहं ध्मातं त्यजति वै मलम् ।।१०।।

श्लोकार्थ : जिस तरह वायु और अग्निसे तपाया हुआ सोना अपने मलको त्याग देता है उसी तरह प्राणवायुको जीत लेनेवाले योगीका मन शीघ्र ही शुद्ध हो जाता है।।१०।।

व्याख्यार्थ: ऐसा करनेसे योगीका मन, जिसने प्राणवायुको जीत लिया है, शीघ्र ही शुद्ध हो जाता है. शंका हो कि प्राणायामसे मनकी शुद्धि कैसे होती है? तो उसके लिये दृष्टान्त देते हैं. जैसे सुवर्णादिक धातु वायु और अग्नि से धमे जाने पर अपने मलका परित्याग कर देते हैं उसी तरह प्राणायामसे मनकी शुद्धि हो जाती है. प्राणायाम जनित धर्मसे दृष्टादृष्ट उपायॄसे मन मलका परित्याग कर देता है ।।१०।।

आभास : सब दोषॄकी निवृत्तिके प्रकारॄको कहते हैं:

प्राणायामैर् दहेद् दोषान् धारणाभिश्च किल्बिषान् ।
प्रत्याहारेण संसर्गान् ध्यानेनानीश्वरान् गुणान् ।।११।।

श्लोकार्थ: प्राणायामॄसे योगी पापॄको अथवा वातपित्तादि जनित दोषॄको और धारणासे पापॄको, प्रत्याहारसे विषयोंके सम्बन्धको और ध्यानसे संसारी बनानेवाले अज्ञान आदिको जला दे।।११।।

व्याख्यार्थ: प्राणायामॄसे पापॄको अथवा वातपित्त आादिसे उत्पन्न होने वाले दोषॄको तथा भगवन्मूर्तिके चिन्तनरूप धारणाओॄसे वासना सहित महापातक आदि पापॄको योगी जला दे. इन्द्रियॄके संसर्गसे उत्पन्न होनेवाले दोषॄको प्रत्याहारसे जला दे, और ध्यानसे संसारित्वके आपादक अज्ञान आदिको जला दे. संसारदशामॄ जो गुण हैं, जिनके द्वारा ब्राह्मण आदि शरीर प्राप्त होता है, वे

कर्म भी भगवान्‌के ध्यानको समाप्त कर देते हैं ।।११।।

यदा मनः स्वं विरजं योगेन सुसमाहितम्।
काष्ठां भगवतो ध्यायेत् स्वनासाग्रावलोकनः।।१२।।

श्लोकार्थ : जब योगके अभ्याससे मन निर्मल और एकाग्र हो जाता है तब अपनी नासिकाके अग्रभागमॄ दृष्टि लगाकर भगवान्‌की मूर्तिका ध्यान करे।।१२।।

व्याख्यार्थ: इस तरह योगके अभ्याससे जब अपना मन निर्मल हो जाता है और योगसे ठीक तरहसे एकाग्र हो जाता है तब योगी भगवान्‌की काष्ठाका ध्यान करे. यहां योगी योगी 'काष्ठा'से वैकुण्ठ अथवा हृदय या हृदयमॄ वैकुण्ठ लिया गया है. इनका अपनी नाकके अग्रभागमॄ दृष्टि लगाकर ध्यान करे. यदि ऐसा न किया तो चञ्चल दृष्टि मनको विक्षिप्त कर देती है. यदि आंखॄको बिलकुल बन्द कर दिया जाय तो नींद आने लगेगी, इसलिये सर्वथा बन्द न करे. अपनी नाकके अग्रभागको देखता रहे ।।१२।।

आभास: मनमॄ भगवान्‌का ध्यान करना चाहिए ऐसा आगे कहॄगे. वह भगवान् कौन है? ऐसी आकांक्षा हो तो उसके लिए कहा है कि पुरुषोत्तमका ही वह रूप है. मनसे उस रूपकी कल्पना करके निरन्तर चिन्तन करना. उस रूप कल्पनाका वर्णन करते हैं. भगवान्‌के छः गुण हैं इसलिए छः श्लोकॄसे उसका वर्णन है:

प्रसन्न–वदनाम्भोजं पद्म–गर्भारुणेक्षणम्।
नीलोत्पलदल–श्यामं शङ्ख–चक्र–गदाधरम्।।१३।।
लसत्–पङ्कज–किञ्जल्क–पीत–कौशेय–वाससम्।
श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत् कौस्तुभामुक्त–कन्धरम्।।१४।।

श्लोकार्थ: भगवान्‌का मुख कमल आनन्दसे प्रफुल्ल है, नेत्रकमल गर्भमॄ स्थित पत्रवत् अरुण हैं, श्रीअंग नील कमल पत्रवत् श्याम है, हाथॄमॄ शंख–चक्र–गदाको धारण किये हैं. कमलकी केसरके समान पीत रेशमी वस्त्र शोभित हो रहा है, वक्षःस्थलमॄ श्रीवत्सका चिह्न है, गलेमॄ कौस्तुभमणि विराजमान है।।१३–१४।।

व्याख्यार्थ: प्रसन्न है मुखकमल जिसका. यहां प्रसन्नता वर देनेकेलिये है. मुखको कमल इसलिये बताया है कि उसकी दृष्टिसे ही लोगॄको सन्तोष हो जाता

है और उसमृ मधुरता भी है. कमलके गर्भमृ स्थित पत्रकी तरह अरुण(लाल) वर्णके है नेत्र जिनके उसमृ भी प्रसन्नता दोषको दूर करना और योगकी सिद्धि ये सब सूचित होते हैं. नील कमलके पत्रकी तरह श्याम होनेसे सौन्दर्यकी शुद्धि, उग्रता आदिका अभाव और शृंङ्गाररसरूपता सूचित होते हैं. शङ्ख, चक्र और गदा का धारण जल, तेज और वायु की शुद्धि और दोषके अभावकेलिये है. शोभित जो कमलकी केसरा उनकी तरह प्रान्तमृ तो मोती गुंथे हुए हैं और अन्तमृ आरक्त परिधान(पहरने)के योग्य किया गया केसराकारसे पीताम्बर जिनका वह पीताम्बर भी रेशमी है, सर्ववेदमय है. भगवान् त्रिभुवनके सारभूत हैं. उनका छन्दोमयवस्त्र गूढ रसका आच्छादक है. रजोगुणसे मुक्त और सत्वभेदृको ग्रहण करके स्थित पीताम्बरसे युक्त श्रीवत्स है वक्षःस्थलमृ जिनके, क्यृकि जो ब्रह्मानन्द है वह हृदयमृ प्रकाशित होता है. चमकती हुई कौस्तुभमणिसे अमुक्त है कन्धरा जिनकी अर्थात् कौस्तुभमणिको आपने गलेमृ धारण कर रखी है. 'आमुक्तकन्धरम्' ऐसा कहनेका तात्पर्य यह है कि जो मुक्त भक्तजीव हैं उनको भगवान् अपने कण्ठस्थ कर लेते हैं ।।१३-१४।।

मत्तद्विरेफ-कलया परीतं वनमालया।
परार्ध्यहार-वलय-किरीटाङ्गद-नूपुरम्।।१५।।
काञ्ची-गुणोल्लसत् श्रोणिं हृदयाम्भोजविष्टरम्।
दर्शनीयतमं शान्तं मनोनयनवर्द्धनम्।।१६।।

श्लोकार्थः मत्त भंवरोकी पंक्तिसे व्याप्त वनमाला जिनके चरणृ तक शोभित हो रही है. बहुमूल्य हार, कंकण, किरीट, बाजूबन्ध जिनके अंगोमृ विराजमान हैं. जिनकी कमर करधनीकी लडियृमृ सुशोभित है, भक्तृका हृदय कमल ही जिनका आसन है, मन और नेत्रृको आनन्दित करनेवाला दर्शनीय शान्त ऐसा स्वरूप है।।१५-१६।।

व्याख्यार्थः मत्त भंवरृकी कला(पंक्ति) जिसमृ है ऐसी वनमालासे व्याप्त हैं. षड्दर्शनके पारगामी महानुभावृसे स्तुतिकी गई कीर्तिसे निरन्तर व्याप्त हैं. परार्ध्य(अमूल्य) हार, कंकण, किरीट(मुकट), भुजबन्ध और नूपुर हैं जिनके. भगवान्के परार्ध्य सम्बन्धी पांच हैं: भगवान्के भक्त, भगवान्केलिये क्लेश सहना, भगवदीयृकी पहचान होना, भगवद्भक्ति और गति. करधनीकी लड़ियृसे शोभायमान है कमर जिनकी. पृथ्वी पर स्त्री और धनसे सत्व, रजस् और तमो-

गुणरूप संसारका होना प्रसिद्ध है. ध्यानकर्ताका हृदयकमल ही जिनका निवास स्थान है. इससे सिद्ध होता है कि सब प्राणियोंमें विद्यमान भगवान् ध्यान करने योग्य हैं. भगवान् किसी अधिष्ठानमें परिच्छिन्न (नपे तुले) नहीं हैं. दर्शनीयका अर्थ है अतिसुन्दर. भगवान्की सुन्दरताके दर्शनसे जगत्की सुन्दरताको लोग भूल जाते हैं. काम आदि सर्व दोषोंका नाशक और ज्ञानमय ही शान्त कहा जाता है. मन और नेत्रों की वृद्धि जिससे होती है. एक बार मन अपने अन्दर भगवान्के दर्शनीय रूपकी भावना कर लेता है अथवा नेत्र देख लेते हैं तो उनमें पुनः भावना अथवा देखनेकी इच्छा होती है. इससे विषयबलसे भी प्रत्याहारका साधन है और योग तथा ज्ञान की वृद्धि है ।।१५-१६।।

अपीच्य-दर्शनं शश्वत् सर्वलोक-नमस्कृतम् ।
सन्तं वयसि कैशोरे भृत्यानुग्रह-कातरम् ।।१७।।
कीर्तन्यतीर्थयशसं पुण्यश्लोकयशस्करम् ।
ध्यायेद् देवं समग्राङ्गं यावद् न च्यवते मनः।।१८।।

श्लोकार्थ: उनकी अतिसुन्दर किशोर अवस्था है. वे भक्तों पर कृपा करनेकेलिए आतुर रहते हैं. जो अत्यन्त दर्शनीय एवं सर्वलोकके नमस्करणीय हैं. उनका पवित्र यश कीर्त्तनीय है, वे भक्तोंके यशको बढानेवाले हैं ऐसे भगवान्के सम्पूर्ण अंगोंका तब तक ध्यान करे जब तक चित्त वहांसे हटे नहीं।।१७-१८।।

व्याख्यार्थ: अपीच्य(सुन्दर) है दर्शन जिसके. स्त्रियां भी यदि भगवान्में आसक्त हो जायें तो भगवान् उन्हें भी मुक्ति देने वाले हैं. भगवान्का स्वरूप दर्शनसे ही परमानन्दको देने वाला है. इससे ऐसा सूचित होता है कि भगवान्का अनुभव आनन्दके बिना रहता ही नहीं. भगवान्का दर्शन सर्वदा ही सुन्दर है. इससे वृद्धी आदिके कारण कभी वह असुन्दर नहीं होता. जैसे सुन्दर पुरुष वृद्ध या रुग्ण(बीमार) हो जाय तो उसकी सुन्दरता नष्ट हो जाती है ऐसा भगवान्की सुन्दरतामें नहीं होता है. वह सुन्दरता शाश्वतिक(नित्य) है. सब प्रमाणोंसे सिद्ध होता है कि भगवान् ही सर्वलोक नमस्कृत हैं. सर्वलोक नमस्कृत भगवान् हैं यह सर्व प्रमाणोंसे सिद्ध होता है. और वे सर्वरूप हैं. कैशोर अवस्था दस वर्षसे लेकर सोलह वर्ष तक होती है. इससे अधिक अवस्थामें रस प्रादुर्भाव नहीं होता है. और आगे तो लावण्यकी भी कमी हो जाती है. भगवान् किशोर वयमें ही सदा रहते हैं. इससे भगवान्में देवोत्तमता बताई है. अपने भक्तोंके ऊपर अनुग्रह करनेकेलिये

भगवान् अत्यन्त उतावले रहते हैं, इससे भगवान् फलदान अवश्य करते हैं ऐसा सूचित होता है. कीर्तनीय तीर्थरूप है यश जिसका. भगवान् अत्यन्त दयालु हैं क्यूंकि अपनी कीर्तिको कीर्तनीय और तीर्थरूप बनाया है. लोकमूं पापूंको दूर करनेवाले अनेक तीर्थ हैं परन्तु तीर्थोंका सम्बन्ध आवश्यक नहीं है. जिनमूं उक्ति विशेष होती है ऐसे वाक्य ही कीर्त्तनीय होते हैं. सब लोग रसमूं प्रविष्ट होकर कीर्तन करते हैं. सब पापूंका नाश करने वाला और सब फलूंको देने वाला यदि होता है तो वह नित्य सम्बद्ध होता है, उससे सब कृतार्थ होते हैं ऐसी तो कीर्ति ही है तीर्थ नहीं है. भगवान्की कीर्ति इस तरहसे हो ऐसी बात नहीं है. भगवान् अपने भक्तूंकी कीर्तिको भी ऐसी ही बना देते हैं उसे 'पुण्यश्लोकयशस्करम्'से कहा है. पुण्य है श्लोक(कीर्ति) जिनकी ऐसे भक्तूंको भी भगवान् अपने समान बना देते हैं इसलिये 'यशस्करः' कहा. इस तरह बीस धर्म है आत्मा जिनकी ऐसे भगवान् यहां ध्येय बताये हैं. है बीस अंगुलियां है आत्मा इक्कीसवां है, ये ध्यान करने योग्य धर्म बीस हैं. स्वयं भगवान् इक्कीसवूं हैं. इस तरह ऐसे भगवान्का निरूपण करके उनकेलिये क्या करना उसे बताते हैं 'ध्यायेद् देवं'. सब अवयवूंसे पूर्ण उस देवका ध्यान करना चाहिये. ध्यान भी तब तक करना जब तक मन एक भी अवयवको नहीं छोड़ता, तथा जब तक सम्पूर्णरूपकी स्फूर्ति होती रहे. 'यावद् न च्यवते मनः'का तात्पर्य यह है कि जब तक मन सम्पूर्ण अङ्गसे हटता नहीं तब तक. मन तो चञ्चल है, वह एक जगह स्थिर नहीं रह सकता इसलिये ऐसा कहा है. यदि मनमूं स्थिरता होती तो मुख्यके साथ उसका योग होने पर सर्वदा स्थिर हो जाता ।।१७-१८।।

आभास: अलग-अगल अवस्थाआूंमूं अलग-अलग रीतिसे ध्यान करे इसे कहते हैं :

स्थितं व्रजन्तम् आसीनं शयानं वा गुहाशयम् ।
प्रेक्षणीयेहितं ध्यायेत् शुद्धभावेन चेतसा ।।१९।।

श्लोकार्थ: खडे हुए, चलते हुए, बैठे हुए, पौढे हुए अन्तर्यामी रूपसे स्थित एवं दर्शनीय लीलाआूंसे युक्त भगवान्का शुद्ध भाववाले चित्तसे ध्यान करे।।१९।।

व्याख्यार्थ: खड़े हुएका, चलते हुएका, बैठे हुएका, और सोये हुएका - चारूं प्रकारूंका अपने हृदयमूं ध्यान करना चाहिये. भगवान् सबको देखनेकेलिये

खड़े होते हैं, कार्य करनेकेलिये चलते हैं, पूजाको ग्रहण करनेकेलिये बैठते हैं और कार्य करनेके अनन्तर सो जाते हैं. और भी दर्शनीय है चेष्टा जिनकी, ऐसे भगवान्का ध्यान करना चाहिये. भगवान्की चेष्टा भी भगवान्की तरह ही दर्शनीय है. 'ईहित'से भगवान्की क्रीडा(लीला) भी ली जाती है. बच्चॄके साथ, गायॄके साथ, गोपालॄके साथ तथा गोपियॄके साथ एवं अन्यॄके साथ अनेक प्रकारकी क्रीडाएं(लीलाएं) भी ध्यान करने योग्य हैं यह भी इससे कहा गया है. क्रीडाआॄमॄ अपनी रुचिके अनुसार रागसे, काम आदिसे ध्यान हो सकता है किन्तु वह ध्यान उचित नहीं है इसकेलिये 'शुद्धभावेन चेतसा' ऐसा कहा. शुद्ध है भाव जिस चित्तका ऐसे चित्तसे भगवान्का ध्यान करना चाहिये. अर्थात् कामना आदि दोषसे रहित चित्तसे ध्यान करे. इससे धारणाका निरूपण किया गया ।।१९।।

आभास : एक-एक अवयवके रसको जाननेकेलिए ध्यानका निरूपण करते हैं :

तस्मिन् लब्धपदं चित्तं सर्वावयवसंस्थितम् ।
विलक्ष्यैकत्र संयुज्याद् अङ्गे भगवतो मुनिः ।।२०।।

श्लोकार्थ : इस प्रकार योगी जब यह अच्छी तरह देख ले कि भगवान्के श्रीविग्रहमॄ चित्तकी स्थिति हो गई है तब वह उनके समस्त अंगॄामॄ लगे हुए चित्तको विशेषरूपसे एक-एक अंगमॄ लगावें।।२०।।

व्याख्यार्थ: भगवान्के सम्पूर्ण श्रीविग्रहमॄ स्थिरीभूत चित्तको भगवान्के सब अवयवॄामॄ सुप्रतिष्ठित जानकर अथवा इसके विपरित लक्षित करके भगवान्से इसमॄ कुछ कमी है ऐसा जानकर एक-एक अङ्गमॄ मनको लगावे, क्यॄाकि यह चित्त मुनि है. मुनि युक्तिसे ही पदार्थोंको स्थिर करके उनका ध्यान करता है. इसलिए यहां भी एक-एक अवयवका माहात्म्य जान-जानकर सर्वज्ञान करेगा ऐसा भाव है. इसलिये तेरह श्लोकॄासे एक-एक अङ्गका निरूपण करते हैं.

किन्हींका मत ऐसा है कि तेरह श्लोकॄासे वर्णन करनेका तात्पर्य यह है कि चित्तके शोधनका उपाय कालात्मक है, वह संवत्सररूप है और उनमॄ तेरह मास होते हैं इसलिये इन तेरह श्लोकॄासे उसका वर्णन है. परन्तु भक्तिमार्गमॄ तो भगवान् ही फलभूत हैं इसलिये समग्र ही भगवान् ध्येय हैं ।।२०।।

आभास : अतिक्रम यहां कहा गया है अतः पहले चरणारविन्दका वर्णन उनके गुणॄाके वर्णनसे दो श्लोकॄासे करते हैं. स्वतः माहात्म्य प्रतिपादनके द्वारा

और कार्यसे माहात्म्य प्रतिपादनके द्वारा. उनमृ पहले स्वतः माहात्म्य प्रतिपादनके द्वारा वर्णन करते हैं :

सञ्चिन्तयेद् भगवतश्चरणारविन्दं वज्राङ्कुश–ध्वज–सरोरुह–लाञ्छनाढ्यम् ।
उत्तुङ्ग–रक्त–विलसद् नख–चक्रवाल–
ज्योत्स्नाभिराहत–महद्–हृदयान्धकारम् ।।२१।।

श्लोकार्थ : भगवान्के चरणारविन्दका ध्यान करना चाहिए. वे चरणारविन्द वज्र, अंकुश, ध्वजा और कमल के चिह्नॄसे युक्त हैं तथा ऊपरकी ओर उठे हुए लाल–लाल शोभायमान नखचन्द्रमण्डलकी चन्द्रिकासे ध्यान करनेवाले महत् पुरुषॄके हृदयके अन्धकारको दूर कर देते हैं।।२१।।

व्याख्यार्थ: भगवान्के चरणारविन्दका चिन्तन सम्यक्रूपसे करना चाहिये. 'सञ्चिन्तयेत्'मृ 'सं'का अर्थ है सम्यक्. उसकी सम्यकता तभी हो सकती है कि जब दीर्घकाल तक आदरके साथ निरन्तर और वह भी माहत्म्यज्ञान पूर्वक ध्यान किया जाय. चरण भक्तिका प्रतिपादक है, अरविन्द सब प्रकारके तापका नाश करने वाला है. भगवान्का चरणारविन्द वज्र, अंकुश, ध्वजा और कमल इन चार चिह्नॄसे सम्पन्न है. वज्रका चिह्न भक्तॄके पापरूप पर्वतॄके पक्षॄको काटने वाला है, अंकुश भक्तॄके मनरूप हाथीको वशमृ करनेकेलिये है, भगवान्के चरणारविन्दका आश्रय लेनेवालेके सब प्रकारके भय नष्ट हो जाते हैं यह ध्वज बताता है. भगवान्की सेवा बहुत सरल है यह कमलसे जाना जाता है. ये चार चिह्न धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चार प्रकारके पुरुषार्थको देनेवाले हैं. केवल ये चार ही चिह्न नहीं हैं किन्तु इस तरहके अनन्त चिह्न आपके चरणारविन्दमृ हैं इसको बतानेकेलिये 'आढ्य' पद दिया है. इससे फलको देनेवाले भजनीय गुण कहे.

अब दोषॄको दूर करनेवाले गुणॄको कहते हैं. ऊपरकी ओर उठे हुए लाल रङ्गसे शोभित नखचन्द्रॄका मण्डल है उसकी चन्द्रिकाआॄसे नष्ट हो गया है भक्तॄके हृदयॄका अन्धकार जिससे ऐसे चरण हैं. बाहर होनेवाले प्रकाशसे अन्दरका अन्धकार दूर नहीं होता है. महापुरुषॄके हृदयमृ अधिक अंहकार है इसलिये वहांका अन्धकार अवश्य दूर करना चाहिये. वह अन्धकार एक चन्द्रसे दूर नहीं हो सकता और सूर्यका प्रकाश तो तापजनक है इसलिये दस नखरूप दस चन्द्रमा दस अवस्थाआॄमृ सब दोषॄका निवारण करनेवाले हैं. 'उत्तुंग'का अर्थ है

ऊपरकी ओर ऊंचे. वे ऊपरकी ओर ऊंचे इसलिये हैं कि अत्यन्त उत्कटकोटिमृ पहुंचे हुए अहंकारमृ रहनेवाले अज्ञानको नष्ट कर देते हैं. और नख रक्त इसलिये हैं कि उस अज्ञानको दूर करनेकेलिये ही उनका उदय है. और जो उदयको प्राप्त होते हैं वे लाल होते हैं. उदय भी विलास युक्त है इसलिये उस अज्ञानमृ जो नियत भी आवरण है उसे भी दूर कर देते हैं. जैसे कामिनीके आवरणको कामुक दूर कर देता है उसीको तो विलास कहते हैं. चन्द्र अन्धकारको दूर कर सकते हैं परन्तु ये नख हैं, नखका अर्थ है 'न' 'ख'(आकाश) जिनके नहीं हैं. वे 'नख' कहे जाते हैं अर्थात् जिनका आकाशमृ उदय नहीं है. आकाशमृ तो एक ही चन्द्रमा दिखाई देता है. ये तो आकाश सम्बन्धी नहीं हैं. इन नखचन्द्रृका चक्र(आयुध), वाल(अमृत) पोषक है. आकाशस्थ चन्द्र तो केवल अन्धकारको ही नष्ट करता है किन्तु ये नख तो अमृतके पोषक भी हैं. अथवा 'वालं'का दूसरा अर्थ यह भी है कि 'वम्'(अमृत) है. 'अलम्'(अत्यधिक) जिसमृ उसे 'वालं' कहते हैं. अर्थात् ये नख कलंकरहित है. चन्द्रमा तो सकलंक है. 'ज्योत्स्नाभिः' ऐसा बहुवचन इसलिये दिया है कि इन चन्द्रिकाओृसे अनेक प्रकारके अन्धकारृकी निवृत्ति होती है. उक्त कथनका तात्पर्य यह है कि भगवान्के नखृमृ स्वतः आनन्दरूपता है और अज्ञानकी निवृत्ति करनेसे आनन्ददायकता भी है।।२१।।

आभास : इस तरह चरणारविन्दका स्वरूपोत्कर्ष बताया, अब कार्यके द्वारा उसका उत्कर्ष कहते हैं :

यच्छौच–निःसृत–सरित्–प्रवरोदकेन तीर्थेन मूर्ध्न्यधिकृतेन शिवः शिवो–ऽभूत्।
ध्यातुर्मनः–शमलशैलनिसृष्ट–वज्रं ध्यायेत् चिरं भगवतश्–चरणारविन्दम्।।२२

श्लोकार्थ : इन्ही चरणृके धोनेसे जलसे नदियृमे श्रेष्ठ श्रीगंगाजी प्रकट हुई थीं, जिनके पवित्र जलको मस्तक पर धारण करनेसे स्वयं मंगलरूप शिव और भी अधिक मंगलमय हो गए. ये चरणारविन्द अपना ध्यान करनेवालृके पापरूप पर्वतृ पर छोडे हुए इन्द्रके वज्रके समान है. भगवान्के इन चरणकमलृका चिरकाल तक चिन्तन करें।।२२।।

व्याख्यार्थ: भगवान्के चरणारविन्दमृ अत्युत्कृष्ट माहात्म्यके सूचक दो पदार्थ हैं: एक तो गङ्गा और दूसरा भक्तिरस. उसमृ गङ्गाका माहात्म्य तो यह है कि जिनकी प्रायश्चितसे भी शुद्धि नहीं हो सकती उनको भी वह सर्वपूज्य बना देती है. उसीको कहते हैं भगवान्के जिन चरणृके धोनेसे निकला हुआ जो जल है वह

उत्तम* नदी(गङ्गा) बन गई. नदियॄमॄ गङ्गा श्रेष्ठ है, उसका जो जल है वह उसका एकदेश(अंश) है, उसको ही सिरपर धारण करनेसे, जो कि अधिकारकी तरह प्राप्त है उनसे, शिव जो परम कल्याणरूप हैं वे भी शिव=अत्यधिक परम कल्याणमय हो गये. जो साधनके द्वारा सिद्ध ऐसे अपने स्वरूपको प्राप्त करता है वह आधिदैविक रूपको प्राप्त हो जाता है ऐसा निश्चय होता है. आधिदैविकत्वको प्राप्त करनेकी सामर्थ्य जिनके पाप नष्ट हो जाते हैं उन्हींमॄ होती है. जैसा कि श्रुतिमॄ कहा है ''स वाचमेव प्रथमाम् अत्यमुच्यत, स वाग् अग्निर् अभवत्'' (बृहदा. उप.१।३।१२) उसने पहले वाणीका ही उच्चारण किया. वही वाणी अग्नि हो गई. इसी तरह शिव ने भी अपनी देवताको प्राप्त कर लिया. अन्यथा शिवमॄ भगवान्की तरह उनकी प्रमाणादि चतुष्टयसे भी स्वतन्त्रता न होती. इसलिये गङ्गा अपने आधिदैविक रूपको प्राप्त करा देती है. जब चरणसे जिस(गङ्गा)का सम्बन्ध है उसका भी जहां ऐसा माहात्म्य है वहां साक्षात् चरणके ध्यान करनेवालेको आधिदैविक स्वरूपकी प्राप्ति करा दे इसमॄ क्या कहना! यह इसका भाव है. यह गङ्गाका माहात्म्य गङ्गाके जलमॄ नहीं है और न उसकी अभिमानिनी देवताका है, शिवकी अपेक्षा अन्य जितने भी अचेतनाधिष्ठातृ देवता हैं वे हीन हैं किन्तु यहां तो भगवान्के चरणमॄ स्थित रजका यह माहात्म्य है. भक्तॄके पुष्पसे संस्कृत भौतिक वे रज हैं जिनका निरूपण पहले किया जा चुका है. वे चरणका मलरूप ही होती हैं, अन्यथा सेवकरूप देहकी उत्पत्ति नहीं हो सकती. इसलिये यह जल पैरॄके धोनेपर चरणारविन्दकी रजके सहित ही निकला था. महत्वके कारण और रजके सम्बन्धसे गङ्गाका देवता शरीर हो गया उसीको 'सरित्प्रवरा' शब्दसे बताया है. चरणारविन्दसे निकलनेसे ही नदियॄमॄ श्रेष्ठ हुई, सभी भक्तॄके उद्धारका उपायभूत हुई. उस नदीको जो चरणारविन्दकी रजसे मिश्रित है, जिसे शिवने अपने मस्तकपर धारण किया था उसको यदि भक्त धारण करते हैं तो उनकी मुक्ति हो जायगी. इसलिये यहां केवल जलका ही निरूपण किया है.

उस जलमॄ यदि रजका सामर्थ्य न हो तो वह जल क्या शिवत्वका संपादन करने वाला नहीं होता? ऐसी आशंका करके उस जलमॄ तीर्थत्व बताते हैं. वह जल साधारणरूपसे सम्पूर्ण जगत्का आधिदेविकत्व सम्पादन करने वाला तीर्थ हो गया. शंका हो सकती है कि इस जलने आधिदैविकत्व ही क्यॄ संपादित किया? उसका उत्तर यह है कि जब तक मनुष्यॄकी अस्थि गंगामॄ रहती है तब तक वह

स्वर्गमृ निवास करता है. ''यावद् अस्थि मनुष्याणाम्'' इत्यादि वाक्यृसे इस जलकी फलसाधकता सुनी गई है. उसमृ कहते हैं कि शिवजीने उस जलको अपने उत्तम अंग जो सिर है उसका अधिकारी किया. इसलिये उत्तम अंगमृ अपना सब अधिकार उसे देकर स्थापित किया, इसलिये शिवकेलिये वह साधारण फल देता है, क्यृकि सर्वस्वनिवेदनमृ आधिदैविकत्व प्राप्त कराना ही उचित है. शिव (कल्याणकारी) होनेसे उनमृ पाप आादिका सम्बन्ध नहीं है. अमङ्गल रूपवाले केलिये ही वह भजन करनेयोग्य है परन्तु उससे उनके रूपकी भी निवृत्ति नहीं होती. इसलिये ये आधिदैविक ही हुए. 'ध्यातुर्मनः' इससे अन्य माहात्म्य कहते हैं, जो ध्यान करता है उसके मनमृ जो 'शमलशैल'(पाप पर्वत) है उनकेलिये चलाया है वज्र जिसने. इस तरह भगवान्के चरणमृ जो वज्र आदिका निर्माण किया है वह चरण जब ध्यानमृ परम आसक्तिसे युक्त हो जाता है, तब वह चरण उन प्राणियृको पापसे अत्यन्त गुरुतर हैं ऐसा मान कर अनेक जन्मृके पापृके पर्वतृको दूर करता है. इससे चरण भक्तिकी अधिष्ठात्री देवता है ऐसा निरूपण किया. पक्षपातका भी निरूपण किया. चरण इसी प्रकारसे वज्रकी तरह अंकुश आदिके कार्यको भी करेगा ऐसा सूचित किया. 'मनः' पदके देनेसे ध्यानका वहां सम्बन्ध होनेसे सम्बन्धीके ही पापको नष्ट करता है ऐसा समझना चाहिये. परन्तु देहके पापको नहीं नष्ट करता है. क्यृकि मन तो आगे जाता है देह आगे जाय इसकी अपेक्षा नहीं रहती है. पापृमृ अत्यन्त दृढता(मजबूती) और प्रचय(ढेर) होनेसे उनको पर्वतकी तरह बताया है. इस तरह भगवान्के चरणके माहात्म्यको जानकर उस चरणका ध्यान करे. चिरकालतक ध्यान करनेसे मन भी आधिदैविक बन जाता है. उपसंहारमृ भी भगवान्के चरणारविन्दको कहा है. इसका तात्पर्य यह है कि बीचमृ किसी अन्य पदार्थका ध्यान न करे. इससे प्रत्येकका ध्यान अथवा गुरुध्यान(अधिक ध्यान)का निवारण किया ।।२२।।

*'चरणयोः' इस द्विवचनसे बलिके द्वारा धोये गये चरणृका जल सूचित होता है इसलिये उस यज्ञस्थल सम्बन्धी नर्मदाके जलमृ भी पवित्र करनेकी शक्ति सिद्ध होती है. इसीलिये 'दर्शनादेव नार्मदं' ''नर्मदाका जल दर्शनमात्रसे पवित्र कर देता है''. इस कथनकी संगति होती है.

आभास: चरणके ध्यानके अनन्तर दोनृ घुटनृका ध्यान करें उसे कहते हैं :

जानु-द्वयं जलज-लोचनया जनन्या लक्ष्म्याखिलस्य सुर-वन्दितया विधातुः।
ऊर्वोर्निधाय करपल्लवरोचिषा यत् संलालितं हृदि विभोरभवस्य कुर्यात्।।२३।।

श्लोकार्थ : भगवान्के दोनॄ घुटने जिनको कमलनयना अखिललोककी जननी देववन्दिता श्रीलक्ष्मीजी अपनी जांघॄ पर रखकर अपने कर किसलयॄकी कान्तिसे लाड लडा रही हैं ऐसे भगवान्का जो संसारके भयको दूर करनेवाले हैं उनको अपने हृदयमॄ ध्यान करे।।२३।।

व्याख्यार्थ: सम्पूर्ण जगत्की फलरूपा और ब्रह्मानन्दरूपा लक्ष्मी जिसकी सेवा करती हैं, इससे ही दोनॄ घुटनॄका माहात्म्य जाना जाता है. अथवा जिस तरह सोनेमॄ मरकत मणिको जड़ दिया जाय, तो वह स्वरूपसे भी सुन्दर होती है. लक्ष्मीजीकी दोनॄ जांघॄके ऊपर भगवान्के घुटनॄका निरूपण होनसे भगवान् सोये हुए हैं ऐसा लक्षित होता है और लक्ष्मीजी शय्याके ऊपर स्थित हैं. इससे लक्ष्मीके ऊपरका अनुग्रह सूचित होता है, इसलिये लक्ष्मीसे उत्पन्न होनेवाले श्रमको लक्ष्मीको ही दूर करना चाहिये. जलज-लोचनाका अर्थ है कमलनयना. उस रसके सौन्दयर्का निरूपण करनेकेलिये ऐसा कहा है. उसमॄ(लक्ष्मीमॄ) कोई दोष नहीं है और सम्पूर्ण जगत्की सृष्टि भी लक्ष्मीसे ही होती है इसे बतानेकेलिये 'अखिलस्य जनन्या' ऐसा कहा. यदि यह जननी न होती तो जगत्की सृष्टि न होती. भगवान्का ऐसा वचन भी है ''ये महद् ब्रह्म मेरी योनि है. मैं इसमॄ गर्भाधान करता हूं. जिससे हे भारत! सब प्राणियॄकी उत्पत्ति होती है''. 'लक्ष्'धातुसे 'लक्ष्मी' शब्द बनता है अतः वह लक्ष्मी भगवान्की ज्ञानशक्ति भी है ऐसा भी सूचित होता है. इससे माता और पिता दोनॄका ध्यान करना चाहिये. यह इसका निरूपण है.

लक्ष्मीका ध्यान तो योगीको नहीं करना चाहिये, इस शंकाके समाधानकेलिये 'सुरवन्दितया' ऐसा पद दिया है. लक्ष्मी सब देवताओॄकी वन्दनीया है. वह श्रेष्ठदेवता है, इसलिये वह ध्येयदेवता है. उसका ध्यान न करनेसे इष्टसिद्धि नहीं होती है. भगवान्के दोनॄ जानुओंॄको श्रीलक्ष्मीजीने अपने दोनॄ जंघाओॄ पर रखा. इससे लक्ष्मीकी कृतकृत्यताकी भावना होती है और स्नेहकी अधिकतासे श्रीहरि और लक्ष्मीमॄ एकताकी भावना होती है. 'निधाय'(रखकर) इस पदसे भगवान् सोये हुए हैं ऐसा लक्षित होता अथवा भगवदपेक्षा भाव लक्षित होता है. करपल्लवसे यहां अंगुलियॄका ग्रहण है. उन अंगुलियॄकी दीप्तिसे अर्थात्

लीलासे उन अंगुलियॉंको धीरेसे स्थापित करना लिया जाता है अन्यथा भगवान्‌के घुटनुओंकी अपेक्षासे जांघ और अंगुलियोंके कठिन होनेसे भगवान्‌को पीड़ा होगी. जिस तरह ठंडे स्पर्शसे ताप दूर होता है उसी तरह हाथके आनन्दके अन्दर प्रवेश करनेसे श्रम दूर होता है. 'यत्' शब्द प्रसिद्धिवाचक है. अर्थात् ऐसे प्रसिद्ध दोनों जानु हैं उनकी हृदयमें भावना करनी चाहिये, न कि बाहर स्थितका मनसे स्मरण करना चाहिये. कदाचित् ऐसी शंका हो कि हृदय तो अल्प है उसमें ये भावना कैसे होगी. इसका समाधान 'विभोः' पदसे हो जाता है. भगवान् विभु(समर्थ) हैं अतः उनका ध्यान करने पर वे हृदयको बड़ा भी बना सकते हैं. संसारका ही इसमें निरूपण है तो ऐसे ध्यानसे क्या होगा? इस शंकाके निवारणार्थ 'अभवस्य' पद दिया है. जिसमें संसारकी सत्ता नहीं है, जो भगवद्धर्मके सजातीय होता है वह उसका आधिदैविक होता है इसलिये वह तो संसारको नष्ट करनेमें समर्थ होता है. जिस तरह अरणीसे उत्पन्न अग्नि दाहक(जलानेवाली) होती है, अग्निके अतिरिक्त और कोई विजातीयको नहीं जलाता इसीलिये तो पहलेके लोगोंने कहा है कि 'भगवान्‌के मक्खन चुरानेकी लीलाको सुनानेसे लोगोंकी चोरीकी आदत मिट जाती है' ।।२३।।

आभास : अब जांघोंका ध्यान करें इसे कहते हैं :

ऊरू सुपर्ण–भुजयोर् अधिशोभमाना–वोजो–निधी अतसिका–कुसुमावभासौ।
व्यालम्बि–पीतवरवाससि वर्तमानकाञ्चीकलापपरिरम्भि नितम्बबिम्बम्।।२४।।

श्लोकार्थ : भगवान्‌की जांघोंका ध्यान करूं जो अलसीके फूलके समान नीलवर्ण और जो ओज(प्रकाश)की निधि हैं तथा गरुडजीकी पीठ पर शोभायमान हैं. भगवान्‌के नितम्बबिम्बका ध्यान करें जो एडी तक लटकते हुए पीताम्बरसे ढंका हुआ है और उस पीताम्बर पर पहनी हुई सुवर्णमयी करधनीकी लडियोंको आलिंगन कर रहा है।।२४।।

व्याख्यार्थ: गरुड़के ऊपर विराजमान होकर जाते हुए भगवान्‌का ध्यान करना चाहिये. गरुड़की पीठपर तो आप विराजमान हैं, दोनों कन्धों पर पैर लटका रखे हैं. गरुड़ने दोनों हाथोंमें चरणारविन्दोंको स्थापित कर रखे हैं, ऐसे भगवान्‌की दोनो जांघोंका ध्यान करना चाहिये. गरुड़की भुजाओंके अधि(ऊपर) अधिक शोभायमान जैसे दिव्य इन्द्रनील मणिका अधिक प्रकाश होता है उस तरह अत्यधिक प्रकाशमान 'अतसिका'(अलसी)के पुष्पोंकी तरह जिन दोनों ऊरूकी

कान्ति है. भगवान्के नितम्बबिम्बका भी ध्यान करना चाहिये. कैसे करना चाहिये उसे बताते हैं. विशेषरूपसे लटकता हुआ जो पीतवर्णका श्रेष्ठ वस्त्र है उसके ऊपर वर्तमान जो करधका समूह, वह करधनी अनेक सुवर्णके तारसे बनी हुई थी इसलिए उसे 'कांचीकलाप' पदसे बताया है. अथवा 'कलाप'का अर्थ चित्ररूप ऐसा करना. अर्थात् मोरके पंखॄके समान पदकसे युक्त करधनी ऐसा अर्थ समझना. उस करधनीके आलिङ्गनसे युक्त आपका नितम्बबिम्ब है. गरुड़ कालात्मक है. भगवान्की दोनॄ जांघे दैत्यॄकी उत्पत्तिकी स्थानभूता हैं. उनका आधिदैविकरूप दोनॄ जांघे हैं. उनकी गति कालके अधीन है. उस कालके दो स्कन्ध हैं: एक कर्म और दूसरा स्वभाव. गरुड़ कालका भी आधिदैविक रूप है इसलिये गरुड़ सुपर्ण(अच्छे पंखॄवाला) है. दोनॄ ऊरू(जांघॄ)मॄ शोभायमानता इसलिये है कि वे ऊरू काल, कर्म और स्वभाव को दबा देते हैं. भगवान्के ऊरूके ध्यानसे अपनेमॄ भी काल-कर्म और स्वभाव को उपमर्दन(दबा देना) करना हो जायेगा. जैसे पहले संसारकी निवृत्ति फलित होती है उसी तरह यहां स्वभाव आादिका जय होता है. नितम्बबिम्ब सुपर्णके ऊपर ही स्थित है इसलिये नितम्बके ध्यानसे कालका अतिक्रमण हो जायगा क्यॄकि गरुड़ कालात्मक है और नितम्बबिम्ब उसके ऊपर स्थित है इसलिये नितम्बबिम्बके ध्यानसे कालातिक्रमण होगा. इससे सारे विश्वका अतिक्रमण होता है ऐसा भी जानना. क्यॄकि उस ध्यानमॄ विश्वरूप भगवान्की भावना होती है अतः यह विश्वका अतिक्रमण होता है ऐसा कहा. वेदॄने कालातिक्रम रूपको ढक दिया है. वेदसे व्यवहित(वेदमन्त्रॄसे रहित) यज्ञ आदि कालसे सम्बद्ध हो जाते हैं इसलिये कर्मोंमॄ कालोपाधिता है. अग्निहोत्रसे अहोरात्र(दिन रात)का अतिक्रमण होता है और दर्श एवं पूर्णमास से मास(महीने)का अतिक्रम होता है. इसी तरह चातुर्मास्यॄसे ऋतुका अतिक्रम होता है. पशुसे अयन(छः महीनों)का अतिक्रम होता है. सोमसे वर्षका अतिक्रम होता है. भगवान् जगत्के उत्पन्न करनेमॄ कारण हैं इसलिये भगवान्के उक्त अङ्गॄके ध्यानसे जगत्मॄ जन्मका अतिक्रम हो जाता है. भगवान्मॄ ओजोनिधिपन तेजके अतिक्रमकेलिये है. पृथिवी तथा जलसे अलसी उत्पन्न होती है. उसमॄ जो नीला भाग पुष्पका है वह तो पृथिवीका है और जो श्वेत है वह जलका है इसलिये अलसीके पुष्पकी तरह जो आभास है उससे जल तथा पृथिवी दोनॄका अतिक्रम होता है. भगवान् तो सबसे उपमित होते हैं अर्थात् भगवान्को तो सबकी उपमा दी

जा सकती है इसलिये भगवान्‌मृ प्राकृतोपम दोष नहीं होता है.

पीताम्बरका विशेषरूपसे जो लम्बापन है वह अधिकको आच्छादित (ढकना) करना है इस बातको बतानेकेलिये है. वेदका परिकर बहुत होता है. पीत जो अर्थ है वह धर्मसहित है और वह श्रुतिरूप होता है इसलिये अग्नि और वेद इन दोनृ ही से कर्म सिद्ध किया जाता है. आवरक(ढकनेवाले)की सुन्दरतासे ही उसमृ व्यामोहकता तथा श्रेष्ठता होती है. वस्त्र ढकनेवाला है उसीमृ माया व्यामोहित करती है.' कांची'(करधनी) तो मायारूप है और उसका कलाप ही जगत्‌की विचित्रता है. इन माया और जगत्‌की विचित्रताका जो परिरम्भ(मिलन) है वह जगत्‌को विचित्र बनानेकेलिये है. नितम्बमृ जो बिम्बत्व है वह आधिदैविकताको बतानेकेलिये है ।।२४।।

आभास : ऊरू और नितम्बके ध्यानके अनन्तर नाभिका ध्यान करना चाहिए उसे कहते हैं :

नाभि–ह्रदं भुवन–कोश–गुहोदरस्थं
यत्रात्मयोनि–धिषणाखिल–लोक–पद्‌मम्‌।
व्यूढं हरिन्मणि–वृषस्तनयोर्‌ अमुष्य
ध्यायेद्‌ द्वयं विशद–हारमयूखगौरम्‌।।२५।।

श्लोकार्थ : सम्पूर्ण लोकृके आश्रयस्थान भगवान्‌के उदरदेशमृ स्थित नाभिसरोवरका ध्यान करें. इसीमृ ब्रह्माजीका आधारभूत कमल प्रकट हुआ है. फिर प्रभुके श्रैष्ठ मरकतमणिके सदृश दोनृ स्तनृका चिन्तन करें, जो वक्षःस्थल पर पडे हुए शुभ्र हारृकी किरणृसे गौर वर्ण जान पडते हैं।।२५।।

व्याख्यार्थ: सोये हुए भगवान्‌का ध्यान करना चाहिये ऐसा लक्षित होता है. सोयेहुए रूपमृ ही भगवान्‌के नाभिकमलसे ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं. नाभिको 'ह्रद'(दह कुण्ड)की उपमा इसलिये दी गई है कि उसमृ अत्यन्त गम्भीरता है और वह सब जीवृकी आधारभूता है. उस नाभिका ध्यान करनेसे भौतिक जीवभाव चला जाता है. भुवनरूप जो कमलकोश है उसकी गुहा(गुप्त स्थान) हो ऐसा भगवान्‌का उदर है. भगवान्‌के उदरमृ जगत्‌ स्थित है. जो कमलके कोश(डोडी)मृ रहता है. उसे जल कोई बाधा नहीं पहुंचा सकता. उसी तरह भगवान्‌के उदरमृ स्थित प्राणी संघातके द्वारा उपहत नहीं होते. इससे ऐसा ज्ञात होता है कि भगवान्‌का पेट बहुत बड़ा है. भगवान्‌ तुंदिल(तोंदवाले) हैं. जो तुन्दिल होता है

उसीके तो पेटके बीचमॄ गम्भीर नाभि होती है. नाभिका माहात्म्य कहते हैं. आत्मयोनि जो ब्रह्मा है उनकी जो धिषणा(बुद्धि) वह आध्यात्मिकरूप है. वह ही सम्पूर्ण लोकात्मक कमल है. ब्रह्मा, बुद्धि और कमल ये आधिदैविक आदि तीन रूपॉसे नाभिमॄ बताये गये हैं. भगवान्के दोनॄ स्तनॄका भी ध्यान करना चाहिये जो स्तन हरितवर्णकी मणियॄके समान श्रेष्ठ हैं. हरितमणि कामनाओॄको पूरण करने वाली चिन्तामणि है. उसमॄ भी भगवद्धर्मस्वरूप श्रेष्ठ है. वह भगवद्धर्म दो प्रकारका है तो भी उसे दो अवयवॄके रूपसे कहा है. उसकी व्यूढता यह है कि वह भगवद् अवयवॄसे स्वतन्त्ररूपसे प्रकाशमान है. मोतियॄका जो विशद हार है अथवा विशद अर्थात् निर्मल उनका जो हार है उसकी किरणॄसे गौर वर्ण है. शुकदेवजी आदि जिन भगवद्धर्मोंका सेवन करते हैं वे भगवद्धर्म सब लोगॄकेलिये अनुरागके कारण होते हैं. नाना प्रकारकी योगचर्या आदिके अभावको विशद कहते हैं अथवा अलौकिकके करनेके अभावको विशद कहते हैं ।।२५।।

आभास : वक्षःस्थलकी भावना करनी चाहिए उसे कहते हैं :

वक्षो–ऽधिवासम् ऋषभस्य महाविभूतेः पुंसां मनो–नयन–निर्वृतिम् आदधानम् ।
कण्ठं च कौस्तुभमणेर् अधिभूषणार्थं कुर्याद् मनस्यखिललोकनमस्कृतस्य।।२६

श्लोकार्थ : भगवान् पुरुषोत्तमके वक्षःस्थलका ध्यान करें. जो महालक्ष्मी का निवासस्थान और लोगॄके मन एवं नेत्रॄको आनन्द देनेवाला है. तदनन्तर सम्पूर्ण लोकॄके वन्दनीय भगवान्के गलेका चिन्तन करें जो(गला), मानो कौस्तुभ मणिको भी सुशोभित करनेकेलिए हो, उसे धारण करता है।२६।।

व्याख्यार्थ: पुरुषोत्तम भगवान्का वक्षःस्थल महाविभूति(लक्ष्मी)का निवासस्थान है और मनुष्यॄके मन और नेत्रॄ को आनन्द देता है. वक्षःस्थल स्वरूपसे और कार्यसे सर्वोत्तम है. पुरुषोत्तम भगवान्का स्वरूप भी श्रेष्ठ है. श्रेष्ठता तो हृदयके धर्मसे होती है. जैसा अन्दर हृदय होगा वैसाही उसके ऊपरका गोलक होगा परन्तु भगवान् तो आनन्दमय हैं इसलिये उनमॄ इस तरहका भेद नहीं है. इसलिये जितने भगवद्गुण हैं जो पुरुषोत्तमताके ज्ञापक हैं वे सब वक्षःस्थलमॄ हैं. भगवान् ऋषभ(श्रेष्ठ) हैं. इसलिये उनके सम्बन्धसे वक्षःस्थलका माहात्म्य भी कहा.

अब कार्यसे उसके दो प्रकारके माहात्म्य हैं: एक तो ऐहिक(इस लोकका) और दूसरा पारलौकिक(परलोकका). उसमॄ ऐहिक माहात्म्य तो स्त्री,

धन आदिरूप होता है और पारलौकिक माहात्म्य परमानन्दका हेतु होता है. उसका क्रम कहते हैं. भगवान्‌का वक्षःस्थल ऐहिक सब पुरुषार्थरूपा लक्ष्मीका निवास स्थान है. आनन्द भी बाह्य और आभ्यन्तर भेदसे दो प्रकारका है. उन दोनूको कहते हैं. मनको और नेत्रूको पूर्ण रूपसे आनन्दका दान करते हैं. कामादि कृत दोषवश भी वैसा आनन्द हो सकता है उसका वारण 'पुंसा' इस पदसे करते हैं. 'पुंसां'मृ बहुवचन देनेका तात्पर्य यह है कि सब पुरुषूको आनन्द देते हैं वह भी *काकतालीयकी तरह नहीं.

अब कण्ठके ध्यानको कहते हैं. कण्ठ दो प्रकारका है: एक तो बाह्य कण्ठ जो आभरणूका आधारभूत है और दूसरा आन्तर सब वेदूके उद्गमका कारण है और जगद्गुरु है. अत्यन्तप्रिय जो आभरण होते हैं उन्हृ कण्ठमृ पहने जाते हैं. भगवान्‌को तो मुक्त भक्तूके सिवाय और कोई प्यारा नहीं है. उन मोतियूके तत्त्वरूप कौस्तुभमणि है. उस मणिको अधिक शोभित करना ही भगवान्‌के कण्ठका प्रयोजन है. मणिसे कण्ठ भूषित(शोभित) नहीं होता है, किन्तु कण्ठसे मणि भूषित होती है. यद्यपि मणिको भूषित करनेवाला स्वर्ण भी है क्यूकि मणिको जब सोनेमृ जड़ दी जाती है तो उसकी शोभा बढ़ जाती है परन्तु मणिकी अधिक शोभा तो भगवान्‌के कण्ठसे ही होती है. इसलिये 'अधिभूषणार्थम्' ऐसा कहा. 'कण्ठं च'के 'च'से दोनू कन्धे भी लिये गये हैं अर्थात् भगवान्‌के कन्धूका भी ध्यान करना चाहिये. भगवान् अखिल लोकके नमस्करणीय हैं ऐसा इसलिए कहा कि भगवान् सब वेदूके उद्गमके स्थान हैं और अखिल लोकके गुरु भी हैं, यह इससे निरूपित होता है ।।२६।।

* काकतालीयका आशय यह है इधरसे तो कौवेका उड़ना होता है और उधरसे ताड़के फलका उस पर गिरना, उससे जैसे अचानक उसकी मृत्यु हो जाती है उसी तरह अचानक होने वाले कार्यमृ काकतालीय न्यायका प्रयोग होता है.

बाहूंश्च मन्दर–गिरेः परिवर्तनेन
निर्णिक्त–बाहु–वलयान् अधि–लोकपालान्।
सञ्चिन्तयेद् दशशतारम् असह्यतेजः
शङ्खं च तत्करसरोरुह–राजहंसम्।।२७।।

श्लोकार्थः समस्त लोकपालूकी आश्रयभूता भगवान्‌की चारू भुजाओूका ध्यान करू, जिनमृ धारण किये हुए कंकण आदि आभूषण समुद्र

मन्थनके समय मन्दराचलकी रगडसे और अधिक उजले हो गये हैं. इसी तरह जिसके तेजको सहन नहीं किया जा सकता उस सहस्र धारावाले सुदर्शन चक्रका तथा उनके करकमलमें राजहंसके समान विराजमान शंखका चिन्तन करें।।२७।।

व्याख्यार्थ: भगवान्की भुजाओंका ध्यान करें. 'च'से भगवान्की भुजाओंमें देवता स्थित हैं उनका भी ध्यान करना चाहिये. अमृत मन्थनमें लगी हुई भगवान्की भुजाओंने देवताओंको अमृत पिलाया था. भगवान्की भुजाओंमें जो वलय आभूषणरूप हैं वे चार प्रकारके पुरुषार्थरूप हैं. मन्दराचलको चारों और घुमानेसे आपसमें रगडके कारण 'वलय' चमकीले हो गये. अथवा मन्दराचलकी रगड़से भुजाओंके 'वलय' चमकीले हो गये है. जिन भुजाओंमें लोकपालोंको अधिकृत किया है उन भुजाओंमें चक्र आदि आयुधोंका ध्यान करना चाहिये. उन आयुधोंमें सर्वतः प्रथम सुदर्शन चक्रका ध्यान करें, उसे कहते हैं. दशशत(एक हजार) हैं आरा जिसके. यह कालचक्रका निर्देश है. शतसे यहां असंख्यका ग्रहण है और दशसे दस प्राण लिये हैं. प्रत्येक दशके सौ आरा कालके अवयव होते हैं. इससे सुदर्शन चक्र कालात्मक है. सब प्राणोंको हरण करने वाला है. उसका कोई उपाय नहीं है क्योंकि उसका तेज असह्य है अर्थात् उसके तेजकी ऊर्मियां असह्य हैं. कालके गुणोंको सहन करके प्रतीकार किया जाता है परन्तु यहां तो वह स्वयं ही असह्य है. शंखका ध्यान करना चाहिये. 'च'से शंखके अन्दर रहनेवाले वेदोंका ध्यान करें. वह शंख भगवान्के करकमलमें राजहंसके समान शोभित है. भगवान्के ओष्ठकी कान्तिसे आदि और अन्तमें शंखमें कुछ लालिमा है और शंखका वह शब्द भी है. इससे जिसका मुख और चरण तो लाल है और कूजन करता हुआ हंस कमलके ऊपर बैठा हो उसकी इस शंखके साथ समानता निरूपित की है. वह हंस क्षीर–नीरको अलग कर देता है और भगवान्की प्रीतिका बोधक भी है ।।२७।।

कौमोदकीं भगवतो दयितां स्मरेत दिग्धामरातिभट–शोणित–कर्दमेन ।
मालां मधुव्रतसमूहगिरोपघुष्टां चैत्यस्य तत्त्वम् अमलं मणिमस्य कण्ठे ।।२८।।

श्लोकार्थ : विरोधी वीरोंके रुधिरसे सनी हुई प्रभुकी प्यारी कौमोदकी गदाका, भौंरोंके शब्दसे गुञ्जायमान वनमालाका और उनके कण्ठमें सुशोभित सम्पूर्ण जीवोंके निर्मल तत्त्वरूप कौस्तुभ मणिका ध्यान करें।।२८।।

व्याख्यार्थ: कौमोदकी गदाका भी स्मरण करें. वह गदा आसन्य रूपा है,

भगवान्‌को प्यारी है क्यूंकि उसमूं किसी प्रकारका पाप नहीं है. वह सब दैत्यूंको मारनेमूं सहायक है. उसे कहते हैं. शत्रुओंके योद्धा उनके रक्तके पंकसे व्याप्त है. जैसे निष्पाप पुरुष महान् भगवत्प्रिय होता है उसी तरह दैत्यको मारनेवाला भी भगवान्‌का प्यारा होता है. मालाका भी ध्यान करें जो मधुव्रतकी वाणीसे उपघुष्ट(गुंजारित) है. मधुव्रतका अर्थ मनोहर नियमसे युक्त मधु ही है व्रत जिसका. वेद भी भगवान्‌का ही प्रतिपादन करते हैं उनका जो समूह है वह ही वेद है. वेदूंकी वाणी धर्म और ज्ञानरूपा है. उनके द्वारा उपघोषित भगवान्‌की कीर्ति होती है. जो धर्म आदिसे नहीं हो सकता वह कीर्तिसे होता है. मालाका कण्ठमूं ही स्थान है. यह वही पूर्वोक्त कण्ठ है जो कण्ठ कौस्तुभमणिको भूषित करनेवाला बताया था. अब पुनः उसीका यहां स्मरण कराया है. कहते हैं चित्तका अधिष्ठाता जीव उसका जो तत्त्व, संघातमूं जो प्रविष्ट नहीं है ऐसा निजरूप, वह ही कौस्तुभ मणि है. वो इन भगवान्‌के कण्ठमूं है. माला और मणिका कण्ठमूं ध्यान करना चाहिये ऐसा सम्बन्ध है, अर्थात् भक्तूंके साथ भगवान्‌की कीर्तिका ध्यान करना चाहिए ।।२८।।

आभास : कौमोदकी आदिके ध्यानके अनन्तर मुखारविन्दका ध्यान करें उसे कहते हैं :

भृत्यानुकम्पित–धियेह गृहीत–मूर्तेः सञ्चिन्तयेद् भगवतो वदनारविन्दम् ।
यद् विस्फुरद् मकरकुण्डलमण्डितेन विद्योतितामलकपोलम् उदारनासम् ।।२९।।
यत् श्रीनिकेतम् अलिभिः परिषेव्यमाणं भूत्या स्वया कुटिलकुन्तलवृन्दजुष्टम्।
मीनद्वयश्रियम् अधिक्षिपद् अब्जनेत्रं ध्यायेद् मनोमयमतन्द्रितमुल्लसद्भ्रु ।।३०।।

श्लोकार्थ : भक्तूंपर कृपा करनेकेलिए ही यहां पृथवीपर अवतार धारण करनेवाले श्रीहरिके मुखारविन्दका ध्यान करें, जो सुन्दर नासिकासे सुशोभित हैं और झिलमिलाते हुए मकराकृति कुण्डलोंसे मण्डित अतिशय प्रकाशसे प्रकाशमान स्वच्छ कपोलूंके कारण अतिशय मनोहर जान पडता है. काली–काली घुंघराली अलकावलीसे मण्डित भगवान्‌का मुखमण्डल अपनी छविके द्वारा भ्रमरूंसे सेवित कमलकोशपर उछलते हुए मछलियूंके जोडेकी शोभाको तिरस्कृत कर रहे हैं. उन्नत भ्रूलताओंसे सुशोभित भगवान्‌के ऐसे मनोहर मुखारविन्दकी मनमूं धारणा करके आलस्य रहित हो उसीका ध्यान करें ।।२९–३०।।

व्याख्यार्थः वो ही मुखारविन्द ध्येय होता है जो 'सर्वजनीनं'(सब लोगॄका हितकारक) है. सर्वजनीन तभी होता है जब पृथ्वीके ऊपर अवतार होता है. पृथ्वी पर अवतार तभी होता है जब अपने भृत्यॄ(भक्तॄ)को दुख होता है. उसीको कहते हैं. अपने भृत्यॄपर दया करनेकी बुद्धिसे जिन्होंने अवतार ग्रहण किया है. अवतारमॄ अन्यथा बुद्धि न हो इसकेलिये 'भगवतः' ऐसा पद दिया है. अर्थात् अवतार भगवान्का ही है अन्यका नहीं. दृष्टिमात्रसे ही ताप दूर हो जाता है इसलिये मुखको अरविन्द(कमल) बताया है. उस मुखारविन्दका डेढ श्लोकॄसे वर्णन करते हैं. मुखारविन्द विशेषरूपसे चमकते हुए मकराकृति कुण्डलॄसे मण्डित(शोभित) कपोलॄसे युक्त है. मण्डितकी जगह 'वल्गित' ऐसा भी पाठ है तब उसका अर्थ इस तरह करना, मकराकृतिकुण्डलॄका जो हिलना उससे उत्पन्न जो तेज, उससे प्रकाशित स्वच्छ कपोल जिसमॄ हैं व उदार नासिका भी जिसमॄ है. वह मुखारविन्द भौरॄसे सेवित है, और अपनी ही असाधारण कान्तिसे वेष्टित है, तथा घुंघराली अलकावलीयॄसे युक्त है. मछलियॄके जोड़ेकी शोभाको तिरकृत करनेवाले कमलॄके सदृश दो नेत्र हैं जिस मुखपर. सबके मन जिसमॄ निरन्तर लगे रहते हैं उसे मनोमय, अर्थात् प्रचुरतासे जिसमॄ मन है. अतन्द्रित(सावधानता)से उल्लसित हो रही हैं दोनॄ भ्रू जिसपर ऐसा मुख, इस तरह मुखमॄ नौ विशेषणॄका निरूपण किया. ये नौ रसॄके उत्पन्न करनेकेलिये हैं और सबको वशमॄ करनेकेलिए है. इनके द्वारा नवधा भक्तिका भी निरूपण किया गया है. भगवान्का मुखारविन्द आनन्दरूप भगवान्का भक्तिरसात्मक फल है. विषय(लक्ष्य) दोनॄ चरण हैं और जीव प्राप्त करनेवाला है. मुखमॄ नौ रस भी प्रकटरूपसे हैं. भगवान्के दोनॄ कपोल भक्तिरसके अनुभवमॄ भक्तॄके समाज स्थान होते हैं उन कपोलॄमॄ क्रियापरक और ज्ञानपरक भक्त उल्लासको प्राप्त करते हैं. सांख्य और योग ये दोनॄ भगवान्के मकराकृतिकुण्डल हैं. शब्दप्रमाण भगवान्के श्रोत्र(कान) हैं. शाब्द प्रमाणमॄ अनुभवरूप चक्षु हैं. सांख्य और योग का अनुभाव ही कुण्डलॄका चलना है. इससे उनका विद्योतन(प्रकाशन) क्रिया और ज्ञानशक्तिसे आविर्भाव कहा है. उत्तम भक्तॄका जो परस्पर श्रोताॲका समाज है उन श्रोताॲके समाजसे ही उसमॄ स्वच्छता है. इससे बहुत अधिक श्रवणके परिकरका निरूपण किया गया है. उदार नासिका कीर्तनरूप है. कीर्तन सब पुरुषार्थको देता है. ये ही उसमॄ उदारता है. मुखपर नासिका ही प्रधान है. सारे जगत्को सुन्दरता देनेके कारण ही भगवान्की,

नासिकामृ उदारता है. भगवान्‌की स्थितिसे ही सब प्रकारके पुरुषार्थोंकी सिद्धि होती है. भगवान्‌की स्थितिकी प्रतिपादिका होनेसे ही नासिकाकी उदारता है. लक्ष्मीकी स्थिति स्मृतिरूपा है, भक्तिमृ 'श्री' स्मृति ही है. भौरॄसे चारॄ ओर सेवन प्रकारान्तरसे भक्तॄके द्वारा भगवान्‌की चरण सेवा है. अपनी विभूतिसे सेवन और अर्चन स्पष्ट ही है. कुटिल अर्थात् टेडे कुन्तल(केशपाश) वन्दनात्मक होते हैं. वन्दन करनेके समय पुरुष कुटिल(टेडी) आकृतिवाला हो जाता है. यदि ऐसा न होता है तो भगवान्‌के यहां कुटिल रह ही कैसे सकते हैं. 'कुन्तरन्ति इति कुन्तराः'. 'र' और 'ल'मृ कोई भेद न होनेसे कुन्तर और कुन्तलमृ कोई भेद नहीं है. 'कु' कहते हैं पृथिवीको. उसको जो तैरते हैं उसका नाम है कुन्तर अथवा कुन्तल. जिस तरह जलमृ तेरनेवालेका जैसा रूप होता है वैसा ही रूप पृथ्वीके ऊपर नमन करनेवालेका होता है. सौ आदि संख्याकी आवृत्तिको 'वृन्द' कहते हैं, उससे भी सेवित. इससे रस नमनका प्रतिपादन किया है. दास्य प्रत्यक्ष तथा परोक्ष और आन्तर एवं बाह्य होता है. अन्तः तो मलको दूर करनेवाला होता है और बाह्य सौन्दर्यरूप होता है. मछलियां जलमृ रहनेवाले मलको नष्ट करती हैं वह जलका मल बाह्य और आभ्यन्तर भेदसे दो प्रकारका है इसलिये उसके शोधनकेलिए दो मछलियां हैं. वे पाप और अविद्याका नाश करती हैं. दास्यमृ तो दोनॄ ही तरहकी सामर्थ्य है परन्तु वह अधिक्षेपवाली होती है. अर्थात् दास्यमृ पापनाशकता और अविद्यानाशकता दोनॄ ही सामर्थ्य है परन्तु उसको इन(नेत्रॄ)ने तिरस्कृत कर दिया है. आकृतिके अनुसार तो इसका वर्णन स्पष्ट है ही और रसदानार्थ उसके घुमानेमृ वैसी ही प्रतीति होती है. नेत्रॄका कमलरूपसे वर्णन बाह्य शोभाकेलिये है. दोनॄ नेत्र सबके अनुभवके कारण हैं, दास्य भी सर्वानुभवका कारण है. 'अब्जनेत्रं ध्यायेत्' इस तरह पुनः ध्यानका कथन स्वाधीन जो सात(भक्ति) हैं वे इनसे अलग हैं, इसको बतानेकेलिए है. मनोमय सख्यभक्तिको बताता है परंतु वस्तुतः विचार किया जाय तो भगवान्‌के साथ सख्य हो नहीं सकता. भ्रुवॄका उल्लास आत्मसमर्पण भक्ति है. ये लक्षण फलमुख है. 'भगवान्‌की भ्रकुटी परमेष्ठि (ब्रह्मा)का स्थान है. आत्मस्थानमृ ब्रह्माजीको रखा है क्यॄकि गीतामृ भगवान्‌ने कहा है ''जो जिस तरह मेरे शरणमृ आता है मैं उसी तरह उसको अंगीकार करता हूं'' इस वाक्यसे फलनिरूपणके द्वारा आत्मसमर्पण कहा है ।।२९-३०।।

आभास : इस तरह नौ प्रकारकी भक्तिके निरूपणके अनन्तर भगवान्‌की ज्ञानशक्ति और मायाशक्तिका निरूपण दो श्लोकाृसे करते हैं :

तस्यावलोकम् अधिकं कृपयातिघोर–तापत्रयोपशमनाय निसृष्टम् अक्ष्णोः ।
स्निग्धस्मितानुगुणितं विपुलप्रसादं ध्यायेत् चिरं विततभावनया गुहायाम् ।।३१।।

श्लोकार्थ : हृदयगुहामृ चिरकाल तक भक्तिभावसे भगवान्‌के नेत्राृकी चितवनका ध्यान करना चाहिए जो कृपासे और प्रेमभरी मुस्कानसे क्षण–क्षण अधिकाधिक बढती रहती है, विपुल प्रसाद(प्रसन्नता)की वर्षा करती रहती है और भक्तजनाृके अत्यन्त घोर त्रिविध तापाृको शान्त करनेकेलिए ही प्रकट हुई है।।३१।।

व्याख्यार्थ: भगवान्‌के अवलोकन(चितवन)का अधिक ध्यान करृ. उसका ध्यान अनिष्टका निवारण करनेवाला तथा इष्टका साधक है. उसीका निरूपण करते हैं. भगवान्‌के नेत्राृकी चितवन लौकिक और अलौकिक अमृतरूप है. वह चितवन लौकिक तथा अलौकिक दोनाृके आध्यात्मिक आदि त्रिविध तापाृको नष्ट करती है. क्याृकि भगवान्‌ने कृपा करके उस चितवनको त्रिविध तापाृको दूर करनेकेलिये नेत्राृमृ ही स्थापित किया है. भक्ति भगवत् कृपासे ही होती है. फलकेलिये कहते हैं, 'स्निग्ध'(प्रेमयुक्त) जो स्मित(मन्दहास) भक्ति केलिये जो मोह है उससे अनुगुणित(सहित) भक्तिके सहित ज्ञानशक्ति भक्तिकेलिये जो अध्यास है उससे विरुद्ध नहीं है. विपुल प्रसाद स्वतन्त्र भक्ति पर्यन्त होता है और ज्ञान तब तक सिद्ध होता है. ज्ञान अनेक जन्माृमृ होता है उसके स्वरूपको जाननेकेलिये चिरकाल तक ध्यान करना चाहिये. निरन्तर भावना उस(भावना)के उपयोगी सब पदार्थोंके विचारकेलिये है. गुहामृ ध्यान करनेका अभिप्राय यह है कि वहां(हृदयमृ) अन्य विषयाृके विचारका अभाव है ।।३१।।

आभास : ज्ञानके हो जाने पर भी उसके बाद यदि भक्ति न हो तो फल नहीं होगा इसलिए सर्वथा यदि मोहका अभाव होगा तो भक्ति नहीं होगी इसलिए हास्यका ध्यान करना चाहिए:

हासं हरेरवनताखिल–लोकतीव्र–शोकाश्रु–सागर–विशोषणम् अत्युदारम् ।
संमोहनाय रचितं निजमाययाऽस्य भ्रूमण्डलं मुनिकृते मकरध्वजस्य ।।३२।।

श्लोकार्थ : श्रीहरिका हास्य प्रणत जनाृके तीव्रसे तीव्र शोकके अश्रु–

सागरको सुखा देता है और अत्यन्त उदार है. मुनियॄके हितकेलिए कामदेवको मोहित करनेकेलिए ही अपनी मायसे श्रीहरिने अपने भ्रूमण्डलको बनाया है उनका ध्यान करना चाहिए।।३२।।

व्याख्यार्थ: भगवान्के हास्यका ध्यान करें. जो अत्यन्त दु:खी हो उनके क्लेशॄको भगवान् दूर करनेवाले हैं अतः यहां भगवान्केलिये 'हरे:' पद दिया है. उसे यहां कहते हैं. भगवान्को प्रणत(नमन) करनेवाले लोगॄको जो भगवद्विरह जनित तीव्र शोक होता है, जिसके साक्षी सब भक्तजन हैं, उस तीव्रशोकसे उत्पन्न होनेवाले आंसुओॄके समुद्रका शोषण जिससे होता है. भगवान् अपनी मायासे उन्हॄ मोहित कर देते हैं इसीसे उनके शोकसागरका शोषण होता है. यदि भगवान् उन्हॄ अपनी मायासे मोहित(संज्ञा शून्य) न करते तो वे निरन्तर शोक ग्रस्त ही रहते. मायासे मोहनमॄ परमपुरुषार्थमॄ किसी प्रकारकी हानि नहीं होती उसे कहते हैं. भगवान्की वह माया अत्यन्त उदार है इसलिये उससे विरहकी अनिवृत्ति और परम पुरुषार्थकी प्राप्ति भी होती है. तथापि प्रतीतिसे वह माया दु:खात्मिका होती है इसलिये उस मायाका निराकरण करके हास स्वयं ही उस पुरुषार्थको और अधिकारको सम्पादन करके दे देता है इसीसे भगवान्का हास उदार है.

यदि शंका हो कि जो दीन भक्त हैं उनपर भगवान्को हंसी कैसे उत्पन्न होती है? उसकेलिये कहते हैं 'मकरध्वजस्य संमोहनाय'. मुनि जब भगवान्का ध्यान करते हैं तब उस ध्यानमॄ भगवान्का ऐश्वर्य उन्हॄ दिखाई देता है. उस समय जिसे मुनियॄने पहले जीत लिया था वह बाधक काम भगवान्की सन्निधिमॄ ऐसा चाहता है कि ही ''ये मुनि भगवान्के ऐश्वर्यको देखकर उसे चाहॄ'' तब मुनि उस भगवान्के ऐश्वर्यमॄ मुग्ध न हॄ(क्योंकि) मुग्ध होने पर तो उनका सब काम नष्ट हो जायगा इसलिये कामको मोहित करनेकेलिये भगवान्के हासकी उत्पत्ति होती है. वह काम भी भगवान्के मुखकी सुन्दरताको देखकर विस्मित हो जाता है जिससे मुनियॄको मोह नहीं कर सकता. 'निजमायया' कहनेका तात्पर्य यह है कि आधिदैविक काम भी मुनियॄको मोहित नहीं कर सकता इससे भगवान्के हास–बल निरूपित हुआ.

भगवान्के भ्रूमण्डलका भी ध्यान करें. भ्रूमण्डलका ध्यान भी हासकी ही तरह कार्यका साधक है. मृत्युरूपसे यद्यपि किसीका विनाश कर डालना ठीक होता है क्योंकि वह पुनः कुछ नहीं कर सकता किन्तु ऐसा विनाश तो दुष्ट लोग

करते हैं. मोहमू तो जीवाृको स्वतः ही दुःखका अभाव हो जाता है. भ्रूमंडलके ध्यानमू तो मोह भगवत्कर्तृक है. इस तरह दोनाृका निरूपण किया. मगरमच्छ क्रूर स्वभावका(जीव) होता है इसलिये उसकी क्रूरताका यहां निरूपण किया है. मण्डलसे यहां मण्डलके आकारमू किये हुए धनुषको लेना चाहिये. जब धनुषपर बाण चढ़ाया जाता है तब धनुष मण्डलाकार हो जाता है इसलिये यहां बाण जिसके ऊपर चढ़ाया है ऐसे धनुषका ग्रहण है ।।३२।।

आभास : पूर्व श्लोकमू भगवान्के हासका ध्यान करनेका कहा. अब भगवान्का प्रहसित ध्यान करू. पूर्वध्यान सर्वबाधकाृको व्यामोहित करनेकेलिए था :

ध्यानायनं प्रहसितं बहुलाधरोष्ठ–भासाऽरुणायित–तनुद्विज–कुन्दपङ्क्ति।
ध्यायेत् स्वदेहकुहरेऽवसितस्य विष्णोः
भक्त्यार्द्रयार्पितमना न पृथग् दिदृक्षेत् ।।३३।।

श्लोकार्थ : अत्यन्त प्रेमार्द्रभावसे अपने हृदयमू विराजमान श्रीहरिके प्रहसित(खिलखिलाकर हंसने)का ध्यान करू. जो वस्तुतः ध्यानके ही योग्य है तथा जिसमू ऊपर और नीचेके दोनाृ होठाृकी अत्यधिक अरुण कान्तिके कारण उनके कुन्द–कलीके समान शुभ्र छोटे–छोटे दांतो पर कुन्द–कलिके समान लालिमा सी प्रतीत होती है. इस प्रकारके ध्यानमू तन्मय होकर उनके सिवाय किसी अन्य पदार्थको देखनेकी इच्छा नहीं होती।।३३।।

व्याख्यार्थ: भगवान्के खिलखिलाकर हंसनेका ध्यान सब ध्यानाृका स्थान है. सब लोग वहां प्रतिबन्ध निवृत्तिकेलिए भगवान्के प्रहसितका ध्यान करते हैं. अत्यन्त आनन्दमू ही भगवान्का प्रहसित होता है. वह प्रहसित सबको भुला देनेवाला है तो फिर कालादिकाृको कैसे मोहित नहीं करेगा. अधर और ओष्ठाृकी जो अत्यधिक कान्ति है, लज्जा और लोभ का कार्य स्वरूप तथा धन का सङ्कोच होता है. ऐसे अधर–ओष्ट कान्तिसे लालिमा युक्त है तनु जिनका. दांत ही जहां कुन्द पुष्प हैं, उनकी पंक्ति(कक्ष) जहां है. प्रहसित है दांत भी प्रकट दिखाई देते हैं वे कुन्दपुष्पके समान हैं. पृथिवीपर स्नेहके कारण दांत ही हैं जो पुत्र आदि स्नेहरूप है. जैसे पुत्र अपनेको प्यारे लगते है वैसे ही दांत भी हमू प्यारे लगते हैं. तीनसे सबका संकोच है अर्थात् दोनाृ होठ और दांत.

शंका: ऐसा प्रहसित तो अपनी आत्माको भी व्यामोहित करता है तो

फिर उसका ध्यान कैसे किया जाय? इसकेलिए कहते हैं 'स्वदेहकुहरे अवसितस्य' जब भगवान् अपने हृदयमॄ प्रकट ही हैं तब स्वयंको मोह नहीं होता है यह सिद्ध है. जब भगवान् सिद्ध हैं और मुख्य हैं तो उनमॄ सख्यभक्ति और आत्मनिवेदन करना चाहिये उसे कहते हैं. आर्द्रभक्तिके द्वारा अर्पित है मन जिसका ऐसा होने पर 'अपृथग्दर्शनम्'(अपनेको अलग न देखना) ही तो आत्मनिवेदन है ।।३३ ।।

आभास : इस तरह भगवान्मॄ पूर्णरूपसे नौ प्रकारकी भक्ति ध्यानसे सिद्ध होती है. और उसके सिद्ध हो जाने पर मोक्षफल अवश्य ही प्राप्त होता है. अब भक्तिको उत्पन्न करनेवाले ध्यायमान भगवद्रूपकी निवृत्तिको कहते हैं :

एवं हरौ भगवति प्रतिलब्धभावो भक्त्या द्रवद्हृदय उत्पुलकः प्रमोदात् ।
औत्कण्ठ्यबाष्पकलया मुहुरर्द्यमानः तच्चापि चित्तबडिशं शनकैर्वियुङ्क्ते।३४।

श्लोकार्थ : इस प्रकारके ध्यानके अभ्याससे साधकका श्रीहरिमॄ प्रेम हो जाता है, उसका हृदय भक्तिसे द्रवित हो जाता है, शरीरमॄ आनन्दके अतिरेकसे रोमाञ्च होने लगते हैं. उत्कंठाजनित प्रेमाश्रुआॄकी धारामॄ वह बारंबार अपने शरीरको नहला देता है और फिर मछली पकडनेके कांटेसे जैसे मछलीको अपनी और खींच लेते हैं उस तरह श्रीहरिको अपनी और आकर्षित करनेके साधनरूप अपने चित्तको धीरे-धीरे ध्येयसे हटा लेता है।।३४।।

व्याख्यार्थ: 'एवं हरौ भगवति प्रतिलब्धभावो' का अर्थ है: सब दुःखॉको दूर करनेवाले और सब पुरुषार्थोंको देनेवाले भगवान्मॄ जब पूर्वोक्त भाव प्राप्त हो जाता है जिससे. अब भक्तिका अवान्तर कार्य कहते हैं 'द्रवद्हृदयः'. जिस तरह तापके द्वारा जमा हुआ ठंडा घी पिघल जाता है उसी तरह भक्तिसे हृदय द्रवित हो जाता है. हृदयके द्रवणसे देहमॄ विकलता होती है क्यॉकि आनन्दके प्रतिबन्धक हृदयके द्रवित हो जानेसे(विकलता होती है). प्रेम होने पर रोमाञ्च होते हैं, तब भगवान्मॄ प्रेमकी अधिकतासे कण्ठ भी रुक जाता है. तदन्तर उत्कण्ठा होने पर प्रेमाश्रु उत्पन्न होते हैं. उस उत्कण्ठासे वारंवार पीड़ित होते हुए सकल भक्तिके सिद्ध हो जाने पर वह चित्तका बडिश(मछली पकड़नेका कांटा) वशीकरणका कारण भूत मनःकल्पित भगवद्रूप है, उससे धीरे-धीरे चित्तको हटा लेता है ।।३४।।

मुक्ताश्रयं यर्हि निर्विषयं विरक्तं निर्वाणमॄच्छति मनः सहसा यथाऽर्चिः ।

आत्मानम् अत्र पुरुषोऽव्यवधानम् एकम् अन्वीक्षते प्रतिनिवृत्तगुणप्रवाहः ।।३५।।

श्लोकार्थ : जैसे तेल आदिके समाप्त हो जाने पर दीपशिखा अपने कारणरूप तैजस् तत्त्वमॄ लीन हो जाती है वैसे ही 'आश्रय-विषय' और 'राग'से रहित होकर मन शान्त ब्रह्माकार हो जाता है. इस अवस्थाके प्राप्त होने पर जीव, गुणप्रवाह देहादि उपाधिके निवृत्त हो जानेके कारण ध्याता, ध्येय आदि विभागसे रहित एक अखण्ड परमात्माको ही सर्वत्र अनुगत देखता है।।३५।।

व्याख्यार्थ: अन्यॄसे जब मन हट गया तब भगवन्मूर्तिकी कल्पना करके उसमॄ संतोष पूर्वक स्थित रहता था. उस मनःकल्पित(मूर्ति)के चले जाने पर वह मुक्ताश्रय(जिसने अपने सहारेको छोड़ दिया है) और निर्विषय हो गया. आश्रयत्व और विषयत्व ये दोनॄ इतने समय तक यहीं पर रहे. पूर्वके विषय तो पहले ही छोड़ दिये थे और भगवद्रसका आस्वादन किया था किन्तु उसमॄ भी अब विरक्त हो गया. इस तरह सब तरहसे विषयॄके अभावमॄ कारणमॄ स्वयं लयको प्राप्त हो जाता है. सङ्घात जब तक रहता है तब तक उसका निर्वाण नहीं होता. उसका दृष्टान्त देते हैं. जैसे दीपशिखा अथवा काष्ठकी ज्वाला, सामग्रीके न रहने पर शान्त हो जाती है उसी तरह मन भी विषयॄके अभावमॄ शान्त हो जाता है. उससे क्या होता है उसे कहते हैं. उपाधिरूप अन्तःकरणके चले जाने पर इसी शरीरमॄ पुरुष(जीव) आत्माको(भगवान्को) किसी व्यवधानके धर्मसे रहित अकेलेको ही देखता है, अर्थात् अखण्ड परमात्माको ही देखता है. किसी सजातीय पदार्थोंको नहीं देखता. शंका होती है कि आध्यात्मिक सत्व आदि गुणॄसे निरन्तर राग आदिका प्रवाह उत्पन्न किया जाता है और भगवदीय गुणॄसे विषय उत्पन्न किये जाते हैं.

ये दोनॄ जब व्यवधान करनेवाले हैं तो एकत्वकी प्रतीति कैसे होगी? तभी तो श्रुति कहती है ''न तं विदाथ''(ऋग्वेद १०।८२।७) 'उसका ज्ञान नहीं होगा'. उसकेलिए कहते हैं 'प्रतिनिवृत्तगुणप्रवाहः' गुणॄके प्रवाहके निवृत्त हो जाने पर एकत्वकी प्रतीति होती है. दोनॄ तरहके प्रतिबन्धकॄकी निवृत्ति होने पर एकत्वकी प्रतीति होती है ऐसा कुछ लोगॄका कहना है और कुछ लोगॄका ऐसा कहना है कि दोनॄ प्रतिबन्धकॄमॄसे किसी एक प्रतिबन्धककी निवृत्ति होने पर ही एकत्वकी प्रतीति होती है. इस तरह आत्मज्ञानकेलिए मनकी अन्तिम वृत्ति अपेक्षित है. उसके बिना ब्रह्मात्माका अनुभव नहीं होता ।।३५।।

आभास : ज्ञानके होने पर उसकी निवृत्ति होती है ऐसी आशंका करके

कहते हैं :

सोऽप्येतया चरमया मनसो निवृत्त्या स्वस्मिन् महिम्न्यवसितः सुख–दुःख–बाह्ये।
हेतुत्वमप्यसति कर्तरि दुःखयोर्यत् स्वात्मन्यधत्त उपलब्ध–परात्मकाष्ठः।।३६।।

श्लोकार्थ : योगाभ्याससे प्राप्त हुई चित्तकी इस अविद्या रहित लयरूप निवृत्तिसे अपनी सुख–दुःख रहित ब्रह्मरूप महिमासे स्थित होकर परमात्म तत्त्वका साक्षात्कार कर लेने पर वह योगी जिस सुख–दुःखके भोक्तृत्वको पहले अज्ञानवश अपने स्वरूपमॄ देखता था उसे अब अविद्याकृत अहंकारमॄ ही देखता है।।३६।।

व्याख्यार्थ: जिसने अपने अनुभवकेलिये इस तरहकी चरम(अन्तिम) अवस्थाको स्थापित किया है वह भी मनकी इसी चरम वृत्तिसे अपनेमॄ ही मोक्ष नामक महिमामॄ स्वयं अवसित हो जाता है. वहां ही स्थिर हो जाता है, अर्थात् पुनः पूर्ववत् पूर्व अवस्थाको प्राप्त नहीं होता है. अन्तिम अवस्थाकी पूर्व अवस्थासे विलक्षणता बतलाते हैं. वह सुखदुःखसे बाह्य हो जाता है, अर्थात् उस चरम(अन्तिम) अवस्थामॄ विषय सम्बन्धी सुखदुःख नहीं होते हैं. शंका होती है कि कर्त्तापन चित्तमॄ रहता है, जब चित्त आत्मामॄ लीन हो जायगा तो वह कर्तृत्व आत्मामॄ आ जायगा, तो फिर आत्मामॄ सुख–दुःख अवश्य हो जायॄगे. इस आशंकाका उत्तर 'हेतुत्वमपि'से दिया है. आत्मामॄ जिस तरह सुख–दुःख नहीं होते हैं उसी तरह सुख–दुःख जिससे उत्पन्न होते हैं वह हेतु भी वहां नहीं है. क्यॄकि सुख–दुःखकी हेतुता(कारणता) मिथ्याभूत अथवा दुष्टकर्त्ता मॄ दुष्ट अन्तःकरण ही है. यदि कहो कि आत्मामॄ भी सुखदुःखकी प्रतीति होती ही है. उसकेलिये कहते हैं 'यः स्वात्मनि पूर्वम् अधत्त चित्तगतं'(चित्तमॄ रहनेवाला) कर्त्तृत्व ही पहले आत्मामॄ आरोपित किया था. किन्तु अब तो परमात्माका स्वरूप उपलब्ध हो गया है, अर्थात् अब तो परमानन्द प्राप्त हो गया है इसलिये अन्य(चित्त)मॄ रहनेवाले कर्त्तापनके आरोपसे क्या प्रयोजन है. इस तरह सारी अन्तः स्थितिका निरूपण किया गया ।।३६।।

आभास : पूर्व श्लोकमॄ अन्तःस्थितिका निरूपण किया अब आगेके दो श्लोकॄसे बाह्य स्थितिका निरूपण करते हैं. बाह्य स्थितिका निरूपण स्वानुपयोग और देहस्थिति इस भेदसे किया जाता है. उसमॄ पहले स्वानुपयोगको कहते हैं :

देहं तु तं न चरमः स्थितम् उत्थितं वा सिद्धो विपश्यति यतोऽध्यगमत् स्वरूपम्।

दैवाद् उपेतम् अथ दैववशाद् अपेतं वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः।।३७।।

श्लोकार्थ : जिस तरह मदिराके मदसे मतवाले पुरुषको पहने हुए वस्त्रके रहने या गिरने का कुछ ध्यान नहीं रहता उसी तरह चरमावस्थाको प्राप्त हुए सिद्ध पुरुषको भी अपनी देहके बैठने-उठने अथवा दैववश कहीं जाने या लौट आने के विषयमॅ कुछ भी ज्ञान नहीं रहता क्यॅकि वह अपने परमानन्दमय स्वरूपमॅ स्थित है।।३७।।

व्याख्यार्थ: चरम स्थितिको प्राप्त सिद्ध वह तो अपने देहको ही नहीं देखता है(देहमॅ यह मेरा है इस प्रकारका अभिमान तो दूर रहा) उस देहको चरम अवस्थाकी प्राप्तिके पहले उसका उपलालन(पोषण) भी किया था क्यॅकि अब तो वह चरम अवस्थाको प्राप्त हो गया है इसलिये अब वह देहके द्वारा किये गये उपकारॅकी अपेक्षा नहीं रखता. घट-पट आदिकी तरह उस देहकी अवस्थाको भी नहीं जानता है उसे कहते हैं 'स्थितम् उत्थितं वा' जिस आसन पर पहले बैठा था उसी पर पुनः बैठ जाता है उस आसनसे मैं उठा हूं या नहीं इसकी भी उसे खबर नहीं. क्यॅकि यह जीव तो स्वरूपको अर्थात् ब्रह्मभावको प्राप्त हो गया है. जैसे गार्हस्थ्य दशामॅ स्थित घर आदिका महाराज होने पर उसका अनुसंधान नहीं करता है. शंका होती है कि अधिष्ठाताके बिना कैसे तो देह खड़ी रहेगी और कैसे चलेगी? ऐसी आशंका पर कहते हैं 'कालाद् उपेतम्'. काल आदिकी प्रेरणासे ही वासनाके वश किसी देशान्तरमॅ चला जाता है और वहांसे हट भी जाता है. शंका होती है कि यह तो असम्भावित है! उसको दृष्टान्तसे समझाते हैं: जैसे मदिराके उन्मादसे जो अन्धा हो रहा है अर्थात् मतवाला है वह जैसे स्वयं के द्वारा कमरमें बांधे हुए वस्त्रको नहीं जानता है तो फिर अपने जानेको अथवा लौटनेको कैसे जान सकता है? जहां 'देहं तु नश्वरम्' ऐसा पाठ है वहां नश्वरका अर्थ है जिसका कोई उपयोग नहीं ।।३७ ।।

आभास: देहका स्वरूप कहते हैं :

देहोऽपि दैववशगः खलु कर्म यावत् स्वारम्भकं प्रतिसमीक्षत एव सासुः ।
तं सप्रपञ्चम् अधिरूढसमाधियोगः स्वाप्नं पुनर्न भजते प्रतिबुद्धवस्तुः ।।३८।।

श्लोकार्थ: उसका शरीर तो पूर्वजन्मके संस्कारॅके अधीन है, अतः जब तक उसका आरम्भक प्रारब्ध शेष है तब तक इन्द्रियॅके सहित जीवित रहता है, किन्तु जिसे समाधि पर्यन्त योगकी स्थिति प्राप्त हो गयी है और जिसने

परमात्मतत्त्वको भी भलीभांति जान लिया है वह सिद्ध पुरुष पुत्र स्त्री आदिके सहित इस शरीरको स्वप्नमृ प्रतीत होनेवाले शरीरृके समान फिर स्वीकार नहीं करता, फिर उसमृ अहंता ममता नहीं करता।।३८।।

व्याख्यार्थ: यह देह काल, कर्म तथा स्वभाव के अधीन है यह निश्चित है. जब तक अपना आरम्भक(आरम्भ किया हुआ) कर्म रहता है तब तक यह देह प्राण धारण करता है अर्थात् देहकी स्थितिकेलिये उन कर्मोंकी अपेक्षा है जिन्हृ उसने किये थे. यदि कर्म अधिक होते हैं तो शरीर अधिक समय तक भी रहता है. परन्तु देहका अनुसन्धान तो उसे नहीं रहता इसे बताते हैं. प्रपञ्च सहित उस देहको पुनः प्राप्त नहीं करता है. जिसने समाधिपर्यन्त योगको प्राप्त कर लिया है इसे नित्यारूढसमाधि कहा गया. जो नित्यारूढसमाधि (योगकी समाधि पर्यन्तकी स्थितिको जिसने प्राप्त कर लिया है) ऐसे सिद्धको बाह्य ज्ञानका अभाव होता है. इसलिये उसकेलिये देहको न देखना उचित ही है. जिसे स्वतः आत्मतत्व स्फुरित हो गया है वह प्रपञ्च सहित इस देहको स्वप्नमृ प्रतीत वस्तुकी तरह तुच्छ जानता है इसलिये उसका किसीमृ अनुराग नहीं होता लौकिककी तरह भी उसका अनुसन्धान नहीं है ।।३८।।

आभास: अब देहादिसे अलग आत्माको सिद्ध करते हैं. यह सिद्ध किये बिना पूर्वमृ कही गई बात सिद्ध नहीं हो सकती :

यथा पुत्राच्च वित्ताच्च पृथङ्–मर्त्यः प्रतीयते।
अप्यात्मत्वेनाभिमताद् देहादेः पुरुषस्तथा ।।३९।।

श्लोकार्थ: जिस तरह पुत्र धन आदिमृ स्नेह बुद्धिके कारण आत्मबुद्धि हो जाती है अर्थात् पुत्र धनको अपनी आत्मा समझता है किन्तु विचार करने पर पुत्र, धन आदिसे मनुष्य अलग ही प्रतीत होता है उसी तरह देह आदिको जिसे आत्मा मान रखा है उनसे यह आत्मा अलग ही है।।३९।।

व्याख्यार्थ: लोकमृ पुत्र और धन मृ आत्मबुद्धि होती है. शास्त्र भी ऐसा ही कहता है. पुत्र आन्तर देह(आत्मा) है, धन बाह्य प्राण है. परन्तु वहां जैसे पुत्रसे और धनसे मरणधर्मा मनुष्य अलग ही है. क्यृाकि यदि पुत्र और धन तो उसकी आत्मा या प्राण होते तो वह तो मर जाता है और पुत्र धन तो बने ही रहते हैं! इसलिये इनसे(पुत्र–धनसे) मनुष्य अलग है. यदि कोई शंका करे कि मनुष्यका और पुत्र–धनका भेद तो स्वतः सिद्ध है इसको सिद्ध करनेकी क्या आवश्यकता

है? इसका उत्तर देते हैं. जिनको आत्मरूपसे नहीं माना है उनको आत्मरूपसे मानना ऐसा हम सिद्ध नहीं कर रहे हैं परन्तु जिनको आत्मरूपसे माना जाता है उनको भी देहसे वे भिन्न है ऐसा समझना. इसी तरह देह आदि अर्थात् देह, इन्द्रिय, प्राण और अन्तःकरण से पुरुष भिन्न है ।।३९।।

आभास: लोकमॄ आत्माकी अलग प्रतीतिका अभाव होनेसे युक्तिसे पूर्वके श्लोकमॄ कही गई बात ठीकसे समझमॄ नहीं आती इसलिए उसे दृष्टान्तसे स्पष्ट करते हैं :

यथोल्मुकाद् विस्फुलिङ्गाद् धूमाद् वापि स्वसम्भवात् ।
अप्यात्मत्वेनाऽभिमतात् तथापि पृथग् उल्मुकात् ।।४०।।

श्लोकार्थ: जिस तरह जलती हुई लकडीसे, चिनगारीसे, स्वयं अग्निसे ही प्रकट होनेवाले धूंएसे तथा अग्नि मानी जानेवाली लकडीसे अग्नि अलग ही है।।४०।।

व्याख्यार्थ: अग्निके तीन अन्य सम्बन्धी हैं १.अग्निकी आधारभूता लकड़ी २.अग्निका कार्य धुंआ और ३.अग्नि ही जिसका आधार ऐसे अपने ही स्वांश अग्निकण(चिंगारी). ये तीनॄ ही अग्निसे भिन्न हैं. यद्यपि इन्हॄ अग्निरूपसे माना जाता है. 'उल्मुक' कहते हैं जलती हुई लकड़ीको. अग्निका राजस रूप धुंआ है, तामस रूप जलती हुई लकड़ी और सात्विक विस्फुलिङ्ग(अग्निकरण). ये तीनॄ ही अग्निसे उत्पन्न होते हैं. 'स्वसम्भवात्' यह उल्मुकात्, विस्फुलिङ्गात् और धूमात् इन तीनॄका ही विशेषण है. अग्निके सम्बन्धसे ही लकड़ीमॄ उल्मुकता है अन्यथा तो वह लकड़ी ही है. 'अप्यात्मत्वेन आभिमतात्'की जगह 'अग्न्यात्मत्वेन अभिमतात्' ऐसा भी पाठ है. यह पृथग् उल्मुकात् इसलिये कहा कि धूम आदिमॄ तो भेद प्रत्यक्ष दीखता है किन्तु उल्मुक(जलती हुई लकड़ी)मॄ भेद सन्दिग्ध है इसलिये केवल उसीको यहां कहा।।४०।।

आभास : अब दृष्टान्तसे उसको कहते हैं:

भूतेन्द्रियान्तःकरणात् प्रधानाद् 'जीव'सञ्ज्ञितात् ।
आत्मा तथा पृथग् द्रष्टा भगवान् 'ब्रह्म'सञ्ज्ञितः।।४१।।

श्लोकार्थ: उसी तरह देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण और जीव से उनका साक्षी आत्मा अलग है. वह आत्मा 'ब्रह्म' इस नामसे कहा है।।४१।।

व्याख्यार्थ: भूतसे देहका ग्रहण है. देह, इन्द्रियां, अन्तःकरण तथा प्रधान

(स्वभावात्मक) जिसकी 'जीव' संज्ञा है, वह 'लिङ्गशरीर' शब्दसे कहा जाता है. देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण, जीव इन चारूसे ही आत्मा अग्निकी तरह अलग है क्यूकि आत्मा दृष्टा है, इन सबको देखने वाला है और यह देहादि चारू ही दृश्य हैं (दीखने वाले हैं). वह आत्मा भगवान् है, भगवान्के समान प्रकृति वाला है, तत्त्वकी प्रकृतिवाला नहीं है. आत्मा भगवान्का अविकृत कार्य है और भगवान्का अंश है इसलिए उसे भगवत्सम्बन्धसे 'भगवान्' ऐसा ही कहा जाता है ऐसा कोई कहते हैं. 'भगवान्' शब्द कार्यमू भी है. इसलिये उसकी व्यावृत्ति केलिये 'ब्रह्मसञ्ज्ञित:' ऐसा कहा गया है. 'ब्रह्म' ऐसी जिसकी सञ्ज्ञा है. आत्माकी विलक्षणताके स्पष्ट होनेसे संघातसे आत्मा अलग है ।।४१।।

आभास: इस तरह आत्मा अलग है ऐसे ज्ञानके अनन्तर जो करना चाहिए उसे कहते हैं:

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षेताऽनन्यभावेन भूतेष्वपि तदात्मताम् ।।४२।।

श्लोकार्थ: सब प्राणियूमू अपनी आत्माको और सब प्राणियूकी आत्मामू अपनी आत्माको एवं अनन्य भावसे सब प्राणियूमू तदात्मताका निरीक्षण करें।।४२।।

व्याख्यार्थ: यद्यपि संघातसे आत्मा अलग प्रतीत होती है तथापि वह परिच्छिन्न(सीमित) प्रतीत होती है इसलिये कार्यसिद्धि नहीं होगी क्यूकि परिच्छिन्न ज्ञानसे अपरिच्छिन्न फल नहीं हो सकता. इसलिये सब प्राणियूमू ब्रह्मासे लेकर तृण-स्तम्ब पर्यन्तोमू सबमू अपनी आत्माओूको देखू, स्वयं ही तो सब जगह है. जैसे अपनी आत्मामू यह देह आदि संघात किसी सम्बन्धसे है उसी तरह सभी संघात अपनेमू ही है, अन्यमू नहीं ऐसा भी देखें. ऐसा देखना औपचारिक अथवा स्नेहसे नहीं होना चाहिये किन्तु अनन्यभावसे होना चाहिये. नहीं है अन्यभाव जिसका उसे अनन्यभाव कहते हैं. अन्य बुद्धि जिसके मनमू स्फुरित नहीं होती है उस प्रकारके मनसे जिस तरहका निरूपण संघातमू है उसी तरहका प्राणियूमू भी जानना चाहिये उसे 'भुतेष्वपि तदात्मताम्'से कहते हैं. सब प्राणियूमू अपनी ही आत्मा देखनी चाहिये और सब प्राणियूको अपनेमू देखना चाहिये इसीको 'तदात्मता'=भूतात्मता कहते हैं. 'भूतेष्विव' इस प्रकारके पाठमू प्राणियूमू तत्त्वकी प्रतीतिसे तद्भावको प्राप्त इस तरहका ज्ञानियूकेलिये दृष्टान्त है

।।४२।।

आभास: शंका होती है कि एककी नाना रूपसे प्रतीति कैसे होती है? कैसे वा सुख-दु:ख आदिकी उपपत्ति होती है? इस आशंका पर कहते हैं:

स्वयोनिषु यथा ज्योति: एकं नाना प्रतीयते।
योनीनां गुणवैषम्यात् तथात्मा प्रकृतौ स्थित:।।४३।।

श्लोकार्थ: जिस तरह अग्नि अपनी कारणभूत लकडी आदि आश्रयाृमृ अनेक रूपसे प्रतीत होती है इसी तरह प्रकृतिमृ स्थित आत्मा योनियाृके गुणाृकी विषमतासे अनेक प्रकारसे भासित होती है।।४३।।

व्याख्यार्थ: जैसे एक ही अग्नि अपनी उत्पत्तिके कारणभूत लकड़ीमृ अनेक रूपसे प्रतीत होती है, कहीं टेढ़ा कहीं सीधा कहीं श्वेत तो कहीं रक्त इत्यादि भेदाृसे. उसमृ कारण है अपनी उत्पत्तिकी कारणभूत लकड़ीका आकार तथा जाति. उसी तरह आत्मा भी प्रकृतिमृ विद्यमान है. आत्मासे ही यद्यपि तत्त्व उत्पन्न होते हैं इसलिये दृष्टान्तके साथ इसकी बराबरी नहीं है तथापि जब तत्त्वाृमृ आत्मा प्रविष्ट होकर निकलता है तब दृष्टा हो जाता है इसको बतानेकेलिये 'तथात्मा प्रकृतौस्थित:' ऐसा कहा ।।४३।।

आभास: शास्त्रार्थका उपसंहार करते हैं:

तस्माद् इमां स्वां प्रकृतिं दैवीं सदसदात्मिकाम्।
दुर्विभाव्यां पराभाव्य स्वरूपेणाऽवतिष्ठते।।४४।।

श्लोकार्थ: इसलिए इस सदसदात्मिका अपनी दैवी प्रकृति जो दुर्विभाव्य है उसे पराजित करके आत्मा स्वरूपमृ ब्रह्मरूपमृ स्थित हो जाता है।।४४।।

व्याख्यार्थ: यह सांख्य शास्त्र है. योगको तो इसके अंगरूपसे कहा गया है, जैसे भक्ति को. इसलिये प्रकृतिको पराजित करना चाहिये ऐसा उपसंहार करते हैं. स्वभावरूपसे अनुभवमृ आनेवाली इस अपनी प्रकृतिको अपने संसारको जन्म देनेवाली जाया(स्त्री)की तरह अनुभव करता है. यह प्रकृति दैवी है, भगवत् सम्बन्धिनी है. यह प्रकृति बिना भगवान्की कृपाके अथवा बिना भगद्भावके निवृत्त नहीं होती. यह दैवी प्रकृति सदसदात्मिका है अर्थात् कार्य-कारणरूपा है, यद्वा अनेक प्रकारकी है. ऐसी यह अस्थापनमृ कारण है. इसके सम्बन्धका निरूपण न होनेमृ इसकी दुर्विभाव्यता कारण है, इसलिये स्वत: निवृत्तिका अभाव है. इस प्रकारकी प्रकृतिको पराभूत करके आत्मा अपने स्वरूपमृ स्थित हो जाता

है ऐसा इस शास्त्रका कथन है. इससे प्रकृति तथा उसके विकारूके उपधानके विलय होने पर जब पुरुष अपने स्वरूपमू अवस्थित हो जाता है उसे ही मोक्ष कहते हैं ऐसा सिद्ध है ।।४४ ।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराणके तृतीय स्कन्धके २८ वृअध्यायकी
श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्रीसुबोधिनी टीकाका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण.

अध्याय २९

श्रीकपिलदेवजीका

माता देवहूतिजीको वैराग्यकेलिये बताया हुआ कालका स्वरूप

एवं ज्ञानप्रकरणं साङ्गं वै सुनिरूपितम्।
अतः परं तु वैराग्यं चतुर्भिः विनिरूप्यते।।१।।

कारिकार्थः इस तरह अंगके सहित ज्ञानके प्रकरणका अच्छे प्रकारसे निरूपण किया अब उनतीसवृ अध्यायसे चार(२९-३२) अध्यायाृमृ वैराग्यका निरूपण किया जाता है।।१।।

वैराग्ये कारणं कालः परिच्छेदक ईरितः।
कालस्य भक्तिहेतुत्वं माहात्म्यार्थं स्वतोऽपि तत्।।२।।

कारिकार्थः परिच्छेदक(सीमा बांधनेवाला) काल वैराग्यमृ कारण है ऐसा कहा गया है. वह काल [१]प्रथम(उनतीसवृ) अध्यायमृ सगुण भक्तिके हेतु रूपसे और स्वतः(अपने आपसे) माहात्म्य बतानेसे कहा गया है।।२।।

१.प्रथम(२९वृ) अध्यायमृ काल सगुण भक्तिके हेतु रूपसे और स्वतः महात्म्य बतानेसे कहा गया है. दूसरे (३०वृ) अध्यायमृ वैराग्यजनक द्विविध हेतुरूपसे, तीसरे और चौथे(३१ और ३२वृ) अध्यायाृमृ द्विविध लोकके हेतु रूपसे, इस तरह काल चार प्रकारकी गतियाृका कारण है इसलिये वैराग्यका चार अध्यायाृसे वर्णन है. प्रकाश.

ततो जीवस्य गतयो लोक-शास्त्रविभेदतः।
लोको हि द्विविधः प्रोक्तः परलोकस् तथैहिकः।।३।।
वैदिको ब्रह्मपर्यन्तः कालश्चैवं चतुर्गतिः।
यावाद् निरूपितं पूर्वं तत् कालास्पृष्टमेव हि।।४।।

कारिकार्थः इसके अनन्तर लोक और शास्त्रके भेदसे जीवकी गतियां कही गई हैं. लोक भी दो प्रकारका है: एक पारलौकिक और दूसरा ऐहिक. वैदिक ब्रह्म पर्यन्त है. इस तरह काल चार गतिवाला है. जितना भी पहले निरूपण किया गया है वह कालसे अस्पृष्ट(बिना सम्बन्धवाला) है।।३-४।।

अग्रे सर्वं कालसाध्यम् अतो वैराग्यहेतुकम्।
कालस्तु सर्वत्र समः स्वतन्त्रैः स विरुद्ध्यते।।५।।

कारिकार्थः आगे जो वर्णन किया जाएगा वह काल साध्य(कालसे प्राप्त

होनेवाला) है अतः वह वैराग्यका हेतु है. काल तो सर्वत्र समान है अतः वह स्वतन्त्र पुरुषसे विरुद्ध है।।५।।

दण्डनेतुर्यथा सर्वे हरिणैव तथा यतः।
अतः कालवशानां हि वार्ता प्रकरणे तथा।।६।।

कारिकार्थ: जिस प्रकार भगवान्ने दण्डनेता(यम)के अधीन सबको कर दिया है उसी प्रकार भगवान्ने सबको कालके भी अधीन कर दिया है. अतः कालके वशीभूत किये गयोंकी वार्ता इस प्रकरणमें है।।६।।

एकोनत्रिंशद् अध्याये कालभक्तिः ससाधना।
माहात्म्यं चापि कालस्य विस्तरेण निरूप्यते।।७।।

कारिकार्थ: उनतीसवें अध्यायमें ससाधना(साधन सहित) काल भक्तिका एवं कालके माहात्म्यका भी विस्तार पूर्वक निरूपण किया गया है।।७।।

सर्गे यद् यस्य नोत्पत्तिः वैराग्यं न भवेत् ततः।
आधिभौतिक–भूतादीन्येतानीत्यपि बोध्यताम्।।८।।

कारिकार्थ: सृष्टिमें यदि इस(काल)की उत्पत्ति न होती तो उससे वैराग्य नहीं होता. ये आधिभौतिक भूतादि हैं ऐसा भी जानना चाहिए।।८।।

आभास: पूर्व प्रकरणमें अंग सहित ज्ञानका अच्छी तरहसे निरूपण किया गया. वह ज्ञान वैराग्यके अभावमें उत्पन्न नहीं हो सकता इसलिए पूर्वके अनुवाद पूर्वक वैराग्यके हेतुको(देवहूति) पूछती हैं. यद्यपि भक्तिसे वैराग्य होता है ऐसा पहले सूचित किया जा चुका है तथापि ''कैसी भक्ति वैराग्यको उत्पन्न करती है?'' इस तरह भक्तिके भेदोंको भी पूछती है. उनमें पहले डेढ श्लोकसे पूर्वानुवादको कहते हैं:

देवहूतिः उवाच
लक्षणं महदादीनां प्रकृतेः पुरुषस्य च।
स्वरूपं लक्ष्यतेऽमीषां येन तत् पारमार्थिकम्।।१।।

श्लोकार्थ: देवहूतिने पूछा, प्रभो! प्रकृति, पुरुष, महत्तत्व आदि इनका परमार्थिक स्वरूप जिससे लक्षित होता है (वह मुझे कहिए)।।१।।

व्याख्यार्थ: महत्तत्त्व आदिका और प्रकृति पुरुषका लक्षण कहा. जिस लक्षणसे स्वरूप और आत्मरूप लक्षित होता है और इनका स्वरूप जाना जाता है. इससे ज्ञानका जो भी उपाय है वह सारा ही कहा गया।।१।।

आभास: उसमृ आपने प्रमाण भी कहा यह कहते हैं:

यथा साङ्ख्येषु कथितं यद् मूलं तत् प्रचक्षते।
भक्तियोगस्य मे मार्गं ब्रूहि विस्तरतः प्रभो।।२।।

श्लोकार्थ: जैसा प्रकृति, पुरुष और महत्तत्व आदिका रूप सांख्यमृ कहा है उसे आपने मुझे कहा. अब भक्तियोगके मार्गको मुझे विस्तारसे बताईये।।२।।

व्याख्यार्थ: जैसा सांख्यामृ कहा है ऐसा कहना सांख्यके माहात्म्यका कथन है. उसीको 'यन्मूलं तत्प्रचक्षते'से कहते हैं. पूर्वमृ जो भी लक्षण आदि कहे गये उसे ही सांख्यका मूल कहा गया है. अथवा भगवान् सांख्यका मूल हैं ऐसा कहते हैं. इस तरह पूर्वोक्तका अनुवाद करके वैराग्यकी हेतुभूता भक्तिको पूछती हैं. मुझे भक्तियोगका मार्ग जो अनेक प्रकारका है उसे आप अनेक साधनाृके भेदसे कहो. प्रभो! सम्बोधन इसलिये दिया है कि आप उसके कहनेमृ सामर्थ्य रखते हैं।।२।।

आभास: उससे क्या होगा उसके लिए कहते हैं:

विरागो येन पुरुषो भगवन्! सर्वतो भवेत्।
आचक्ष्व जीवलोकस्य विविधा मम संसृतीः।।३।।

श्लोकार्थ: इसके सिवाय जीवाृकी जन्म-मरणरूपा अनेक प्रकारकी गतियाृका भी वर्णन कीजिए. जिनके सुननेसे जीवका सब प्रकारकी वस्तुआृसे वैराग्य होता है।।३।।

व्याख्यार्थ: वैराग्य भी भगवान्का गुण है. उसके भक्ति साध्य होने पर भी कोई दोष नहीं है इसको बतानेके लिये 'भगवन्!' ऐसा सम्बोधन दिया है. ऐसा भक्तिमार्ग कहिये जिस भक्तिमार्गसे पुरुष सबसे विरक्त हो जाय, यही वाक्य आगे भी युक्त होता है. अलौकिक प्रकारसे ही वैराग्यका कारण भक्ति होती है. लौकिक प्रकारसे वैराग्य कैसे हो इसका कारण पूछती है यह 'आचक्ष्व'से बताया है. 'जीवलोक'से लोकके प्राणी लिये गये हैं. संसरण(संसार प्राप्ति)के अनेक मार्ग हैं जिनसे देव-पशुपक्षी मनुष्य आदि योनियां प्राप्त होती हैं. उसे मुझे कहो।।३।।

आभास: काल भी वैराग्यका कारण है उसका स्वरूप कहिए:

कालस्येश्वररूपस्य परेषां च परस्य ते।
स्वरूपं बत कुर्वन्ति यद् हेतोः कुशलं जनाः।।४।।

श्लोकार्थः जिसके भयसे लोग शुभ कर्मोमृ प्रवृत्त होते हैं और जो ब्रह्मा आदि पर शासन करनेवाला है उस सर्वसमर्थ कालका भी स्वरूप आप मुझसे कहिये।।४।।

व्याख्यार्थः कालका रूप भी ईश्वरके रूपकी तरह ही है इसलिये 'ईश्वररूपस्य' 'ईश्वरके रूपके समान रूप है जिसका' ऐसा कहा. भगवान्ने कालमृ अपना ऐश्वर्य अंश स्थापित किया है. इसलिये कालका स्वरूप जानना चाहिये. वह काल 'परेषां परः'है. पर जो ब्रह्मा आदि हैं उनसे भी पर अर्थात् उनका नियन्ता है. 'बत' हर्ष वाचक है. सब लोग कालके कारण ही शुभ कार्य करते हैं. यदि कालसे भय न हो तो कोई शुभ कार्य करे ही नहीं।।४।।

आभासः शंका होती है कि मुझे सब कहना चाहिए ऐसा तुम्हारा आग्रह क्यृा है? उसकेलिए कहते हैं:

लोकस्य मिथ्याभिमतेरचक्षुषः चिरं प्रसुप्तस्य तमस्यनाश्रये ।
श्रान्तस्य कर्मस्वनुविद्धया धिया त्वम् आविरासीः किल योगभास्करः।।५।।

श्लोकार्थः ज्ञानदृष्टिके लुप्त हो जानेके कारण देह आदि मिथ्या वस्तुओृमृ जिन्हृ आत्माभिमान हो गया है तथा बुद्धिके कर्मासक्त होनेसे अत्यन्त श्रमित होकर जो चिरकालसे अपार अन्धकारमय संसारमृ सोये पडे हैं उन्हृ जगानेकेलिए आप योगप्रकाशक सूर्य ही प्रकट हुए हैं।।५।।

व्याख्यार्थः लोकका निस्तार(उद्धार) करनेकेलिये योगभास्कर(सूर्य) आप आविर्भूत हुए हो इसलिये आपको ही अज्ञानका निवर्त्तक(योग) कहना चाहिये. सूर्य ही से तो सारा अन्धकार दूर किया जाता है. यदि शंका हो कि लोग स्वयं ही अपने अज्ञानको क्यृा नहीं दूर कर लेते हैं. उसकेलिये कहते हैं 'मिथ्याभिमतेः' लोगृाको मिथ्या अभिमान है. जो लोग अभिमानसे ग्रस्त होते हैं वे सन्मार्गको नहीं जानते हैं. और यह भी बात है कि चक्षुसे ही मार्गका परिज्ञान होता है, लोग तो बिना चक्षुके हैं. यहां चक्षुसे सत् शास्त्र लिया गया है. लोकमृ भी बिना आंखवालृाको सूर्यसे भी क्या कार्य है! अर्थात् सूर्यसे उनको कुछ भी कार्य नहीं. अत्यन्त अविवेककेलिये कहते हैं 'अनाश्रय'(अरक्षक) तम(अज्ञान)मृ चिरकाल तक जो सोया हुआ है अर्थात् जिसे आगे-पीछेका कोई अनुसन्धान नहीं है, केवल संसारमृ ही रमण करता है, वह भी कर्मोमृ बुद्धिके अनुविद्ध होनेसे श्रान्त(थका हुवा) है.

कर्मश्रान्तः शयानोऽज्ञः अन्यः सुप्तस्तमस्यधः।
दीनो भवति सर्वेषां ये समर्था दयालवः।।९।।

कारिकार्थः कर्मोंको करके जो थक गया है, थककर जो सो गया है ऐसा बेसमझ, तथा जो अन्य अज्ञानमृ नीचे सो गया है वह समर्थ दयालु जनृकेलिए दयाका पात्र होता है।।९।।

व्याख्यार्थः ऐसे दयनीयृकेलिये आप योगभास्कर हैं. इसलिये आप उन्हृ १.नेत्र भी देते हैं. २.अन्धकार(अज्ञान)को भी दूर करते हैं. ३.सोये हुएको भी जगाते हैं. ४.श्रम भी दूर करते हैं. ५.कर्मकी आसक्तिको छुड़ा देते हैं. ६.मिथ्या अभिमानको भी दूर कर देते हैं. ७.सबका आश्रय बनते हैं. ८.और शीघ्र कृतार्थ करते हैं. इस तरह आठ यज्ञृसे उद्धार करनेमृ आप कारण हैं इसलिये आप योगभास्कर(सूर्य) हैं।।५।।

आभासः यह सन्मार्ग पूछ रही हैं. इससे कपिलदेवजीको सन्तोष हुआ. मैंने वैराग्यका कारण नहीं कहा उसके सुननेकी इसकी इच्छा है ऐसा जानकर भी प्रसन्न हुए. माता होनेके कारण उसने अनुरोध भी किया अतः उसकी दीनताको देखकर करुणासे पीडित हुए. (आगे जाकर यह कृतार्थ हो जाएगी) ऐसा (महामुनि होनेसे) जानकर प्रश्नृके अनुमोदनसे उसे अपनी और आकृष्ट करके बोले इसे कहते हैं:

मैत्रेयः उवाच
इति मातुर्वचः श्लक्ष्णं प्रतिनन्द्य महामुनिः।
आबभाषे कुरुश्रेष्ठ! प्रीतस्तां करुणार्दितः।।६।।

श्लोकार्थः मैत्रेयजी बोले, हे कुरुश्रेष्ठ विदुरजी! माताके मनोहर वचन सुनकर महामुनि कपिलजीने उनकी प्रशंसा की और जीवृके प्रति दयासे द्रवीभूत हो कर बडी प्रसन्नताके साथ उनसे इस प्रकार बोले।।६।।

व्याख्यार्थः श्लक्ष्ण=मनोहर, मांके वचनृका उस रूपसे अभिनन्दन करके पुरुषार्थके उपयोगिनी माताको प्रत्युत्तर दे दिया।।६।।

आभासः भक्ति कहनेकेलिए आरम्भमृ गुणृके सम्बन्धसे अलग-अलग प्रकारकी भक्ति कहते हैं:

श्रीभगवान् उवाच
भक्तियोगो बहुविधो मार्गैर्भामिनि! भाव्यते।

स्वभावगुणमार्गेण पुंसां भावो विभिद्यते।।७।।

श्लोकार्थ: श्रीभगवान्ने कहा, माताजी! साधकॄके भावके अनुसार भक्तियोगका अनेक प्रकारसे प्रकाश होता है. क्यॄकि स्वभाव और गुणॄ के भेदसे मनुष्यॄके भावमॄ भी विभिनन्ता आ जाती है।।७।।

व्याख्यार्थ: यह भक्तियोग, मार्गों(मतॄ)के भेदॄसे और पुरुषॄके स्वभावभेदसे अनेक प्रकारका हो जाता. क्यॄकि गुण-मार्गसे पुरुषॄका स्वभाव भिन्न हो जाता है. जीवॄके भेदके कारण स्वभाव भेद होता है. जीव अनेक प्रकारके हैं और अनेक स्वभावके हैं. भेदक(भेद करनेवाले) गुण भी अन्तःकरणके स्वभावके भेदमॄ कारण हैं. देश-काल के नियमसे कर्मादि मार्ग देहके नियामक हैं. मार्गके तथा वर्णाश्रमधर्मके प्रतिपादक शास्त्रॄ द्वारा पाषण्डादिका ज्ञान होता है. उनकी आवृत्तिसे प्राणियॄके भावमॄ भेद हो जाता है. ऐसा न होता तो किसी शास्त्रको सुनकर भी स्वभाववश उसके अर्थकी अन्यथा कल्पना कैसे करते? और उनके अनुसार चलनेवाले उसी तरह प्रवृत्त होते हैं इसलिये भक्तिमॄ अनेक प्रकारके मार्ग हैं।।७।।

आभास: उसमॄ पहले भक्तिके तामस भेदॄको कहते हैं:

अभिसन्धाय यो हिंसां दम्भं मात्सर्यमेव वा।
संरम्भी भिन्नदृग्भावं मयि कुर्यात् स तामसः।।८।।

श्लोकार्थ: जो भेददर्शी क्रोधी मनुष्य हृदयमॄ हिंसा, दम्भ, मात्सर्य का भाव रखकर मुझसे प्रेम करता है वह मेरा तामस भक्त है।।८।।

व्याख्यार्थ: शत्रुओॄकी हिंसाके उद्देश्यसे जो मेरेमॄ भाव(भक्ति) करता है वह तामस होता है. उस हेतुसे जो दम्भसे करता है अथवा दूसरॄको ठगनेकेलिये करता है यह राजस तामस है. दूसरेकी बुद्धि और धनका अपहरण करता है, इसलिये उसमॄ तामसता है. मात्सर्य कहते हैं: दूसरेके उत्कर्षको सहन न करना. उससे लोकॄकी असाधारण बुद्धिकी निवृत्तिकेलिये जो मेरेमॄ भाव करता है वह सात्त्विक तामस है. भाव आन्तरबुद्धिरूप है अर्थात् अभिध्यानरूप है अथवा तपोरूप है, श्रवणादिरूप नहीं है. क्यॄकि श्रवणमॄ उसका अधिकार नहीं है. क्या अभेद दृष्टिवालॄमॄ भी पूर्वोक्त भाव हो सकते हैं? इस आशंकाकी निवृत्तिकेलिये 'भिन्नदृक्' ऐसा कहा. अर्थात् जिसकी भेद दृष्टि है उसीमॄ ये भाव होते हैं, और वह तामस है. इसकेलिये कहा भी है कि ''जितना भी कार्य अथवा कारण रूप

जगत् है वह वास्तवमॄ भगवान् ही है. इस सत्यके प्रभावसे हमारे सब उपद्रव नष्ट हो जायें'' इस वाक्यसे अभेद दृष्टिवालेमॄ ये भाव नहीं हो सकते. तमोगुणका मूल संरम्भ है. भगवान्की स्तुतियाॅमॄ तो सबका संग्रह हो इसकेलिये बहुतसे फल कहे गये हैं इसलिये फल विशेषकी कामनासे ही भगवान्के स्तोत्र आदिका श्रवण सम्भव होता है इसलिये ऐसी भक्ति तामस कही गई है।।८।।

आभास: तामस भक्तिकी तरह ही तीन प्रकारकी राजस भक्तिको कहते हैं:

विषयान् अभिसन्धाय यश ऐश्वर्यमेव वा।
अर्चादावर्चयेद् यो मां पृथग्भाव: स राजस:।।९।।

श्लोकार्थ: जो पुरुष विषय, यश या ऐश्वर्य की कामनासे प्रतिमा आदिमॄ भेदभावसे मेरी पूजा करता है वह राजस भक्त है।।९।।

व्याख्यार्थ: विषय(माला, चन्दनादि), यश(कीर्ति), ऐश्वर्य (अधिकार) आादिकी प्राप्तिका अनुसंधान करके गुणॄसे भेददृष्टि रखता हुआ प्रतिमा(मूर्ति) आदिमॄ जो मेरी पूजा करता है वह राजस है. जिस तरह तामस भेददृष्टिवाला होता है उसी तरह राजस भी भेददृष्टिसे ही ऐसा करता है. 'एव' पदका आशय यह है कि विषय, यश और ऐश्वर्य इन सबका अनुसंधान नहीं है, किन्तु अपनी इच्छानुसार किसी एक, दो अथवा तीनॄ का अनुसन्धान करके जो मेरी पूजा करता है ऐसा समझना. 'वा'का अर्थ विकल्प है. अर्थात् इन तीनॄमॄसे किसीका भी. यदि इसे विकल्पार्थक न मानॄ तो चार भेद हो जायॄगे. 'आदि' शब्दसे सूर्य आदिकी पूजाका भी ग्रहण है।।९।।

आभास: सात्त्विक भक्तिके भेदॄको कहते हैं:

कर्मनिर्हारम् उद्दिश्य परस्मिन् वा तदर्पणम्।
यजेद् यष्टव्यम् इति वा पृथग्भाव: स सात्त्विक:।।१०।।

श्लोकार्थ: जो व्यक्ति पापॄका क्षय करनेकेलिए, परमात्माको अर्पण करनेकेलिए, पूजन करना मेरा कर्त्तव्य है इस बुद्धिसे, भेदभावसे मेरा पूजन करता है वह सात्त्विक भक्त है।।१०।।

व्याख्यार्थ: 'कर्म' अर्थात् पाप, उसका 'निर्हार' दूर करना, वह प्रायश्चित आदिके द्वारा होता है. अथवा पूर्व जन्ममॄ किये गये कर्मोंका परिज्ञान रोग आदिसे होता है. उसकी निवृत्तिकेलिये भगवान्का यजन करे. जो वैदिक अथवा तान्त्रिक

मार्गसे भगवान्‌की पूजा करता है वह तामस–सात्त्विक है. सबसे पर(उत्तम) जो भगवान् हैं उनकेलिये अपने द्वारा किये जानेवाले सब कर्मोंका समर्पण और उस समर्पणके उद्देश्यसे जो हरिका यजन करता है वह राजस–सात्त्विक है. इस प्रकारके विधानसे भगवान्‌का यजन करके उन्हींको सब कर्म समर्पित करने चाहिये इस तरह जो यजन करता है वह सात्त्विक है और जो नित्यकर्मकी तरह भगवान्‌का यजन करना ही चाहिये इस तरह यजन करता है वह सात्त्विक–सात्त्विक है. पृथग्भाव तो पूर्ववत् ही है।।१०।।

आभास: निर्गुण भक्तिको दो श्लोकाॅसे कहते हैं:

मद्‌गुण–श्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिर् अविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसो–ऽम्बुधौ।।११।।

श्लोकार्थ: जिस तरह गंगाका जल अविच्छिन्न(निरन्तर)रूपसे समुद्रकी ओर बहता रहता है उसी तरह सबके हृदयमॅ निवास करनेवाले मेरे गुणॅके श्रवण मात्रसे मेरेमॅ मनकी गति अविच्छिन्नरूपसे हो जाती है।।११।।

व्याख्यार्थ: सत्त्व आदि गुण परिच्छेदक(सीमित) हैं. भगवद्गुण सर्वोत्कृष्ट (सबसे उत्तम) गतिको प्राप्त करानेमॅ कारण होते हैं ऐसा जानकर श्रवण करने पर वह श्रवण गुणॅके आश्रयरूप भगवान्‌का अविच्छिन्नरूपसे बोधन करता है. यदि ऐसा न हो तो वे गुण अपने उत्कर्षके कारण नहीं हो सकते. अतः सब हृदयमॅ तो निवास करनेवाले मुझ भगवान्‌मॅ प्रतिबन्धॅ(रुकावट)से रहित अनवरत जो मनकी गतिका होना निर्गुण भक्ति है. जैसे गंगाका जल पर्वतका भेदन करके समुद्रमॅ चला जाता है उसी तरह लौकिक–वैदिक प्रतिबन्धॅको दूर करके भगवान्‌मॅ मनकी गति होनी चाहिये. मनकी गति होना ऐसा कहना तो केवल उपलक्षणमात्र है. केवल मनकी ही गति हो ऐसा नहीं है. शरीरकी गति भी इससे ली जाती है, जैसे गोपिकाॅको कायिक गति थी. अथवा ऐसा होना दुर्लभ है इसको बताने केलिये है. ऐसी गति निर्गुण भक्तियोग है. अर्थात् भगवान्‌मॅ प्रेमकी गतिका लक्षण है, ज्ञापक है, ऐसा आगेके श्लोकके साथ इसका सम्बन्ध है।।११।।

आभास: निर्गुणभक्तियोगका स्वरूपलक्षण कहकर अब लक्ष्य और लक्षण का सम्बन्ध कहते हैं:

लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे।।१२।।

श्लोकार्थ: बिना किसी कामनाके(निष्काम) अनन्यरूपसे पुरुषोत्तममृ जो भक्ति है यही निर्गुणभक्तिका लक्षण कहा गया है।।१२।।

व्याख्यार्थ: निर्गुणभक्तियोगका वह लक्षण कहा यह प्रमाण है. अब आत्यन्तिक भक्तिका लक्षण कहते हैं 'अहैतुकी अव्यवहिता' इस डेढ श्लोकसे. जो बिना किसी कारणके पुरुषोत्तममृ भक्ति है वह ही 'आत्यन्तिक भक्तियोग' कहा गया है. पुरुषोत्तममृ ही भक्ति होनी चाहिये पुरुषमृ अथवा अवतारृमृ नहीं. प्रेमपूर्वक सेवाको ही भक्ति कहते हैं. 'हेतु' कहते हैं : किसी प्रकारके फलकी इच्छा रखना. और जिस भक्तिमृ ऐसी इच्छा नहीं रहती वह अहैतुकी है. उसीको 'अनिमित्ता' भी कहते हैं. इससे सगुणभक्तिका निवारण होता है. 'अव्यवहित'का अर्थ है कालसे अथवा कर्मसे जिस सेवामृ किसी प्रकारकी रुकावट नहीं है. यद्यपि नींद-भोजनको भी सेवामृ व्यवधानकारक मान सकते है परन्तु ये तो सेवामृ सहायक कारण हैं. यदि भोजन नहीं करेगा तो शरीर काम कैसे देगा? और यदि नींद नहीं लेगा तो भी अस्वस्थ होनेसे सेवा नहीं कर सकेगा. इसलिये नींद और भोजन तो सेवाके करानेमृ कारण हैं. 'या भक्तिः'से लोक-वेदमृ प्रसिद्ध भक्तिका ग्रहण है, चोरी आादिसे विषयृका संपादन करके भगवान्की सेवा करना उचित नहीं है।।१२।।

आभास: भक्तिका स्वरूप बताकर अब उसका निदर्शन बताते हैं:

सालोक्य-सार्ष्टि-सामीप्य-सारूप्यैकत्वम् अप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः।।१३।।
स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः ।
येनाऽतिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावायोपपद्यते।।१४।।

श्लोकार्थ: निष्काम भक्त मेरी सेवाको छोडकर मेरे द्वारा दी जानेवाली सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य मोक्षको भी नहीं लेते. ऐसा यह भक्तियोग परमपुरुषार्थ कहा गया है. इसके द्वारा पुरुष तीनृ गुणृका अतिक्रमण करके मेरे भावको प्राप्त हो जाता है।।१३-१४।।

व्याख्यार्थ: आत्यन्तिकभक्ति उसे कहते हैं जो स्वतः ही रसभावको प्राप्त हो गई हो. वैसी भक्ति अन्य फलको अंगीकार नहीं कराती. आत्यन्तिक भक्ति अत्यन्त प्रेमकी उत्पत्तिमृ ही होती है. सालोक्य(समान लोक) वैकुण्ठमृ रहना. सार्ष्टि (भगवान्के समान ऐश्वर्यका होना). सामीप्य(भगवान्के समीपमृ

रहना). सालोक्यमृ तो एक ही लोकमृ रहता है परन्तु सामीप्यमृ भगवान्के समीप रहता है ये इनकी विशेषता है. सारूप्य(भगवान्की तरह चतुर्भुजताका होना). एकत्व(सायुज्य) भगवान्मृ मिल जाना. उसकी मुख्य फलता क्या है यह 'उत'से बताते हैं. ऊपर बताई गई मुक्तियाृको भक्त तो मांगता ही नहीं है, किन्तु दी जाने पर भी उनको नहीं लेता है. इससे मुक्तिके विषयमृ उसका अत्यन्त ही अनादर सिद्ध होता है. 'दीयमानं' पद स्नेहसे देनेके अर्थमृ है. 'मत्सेवनं' इस समस्त पदसे यह जताया है कि सेवा ही उनकेलिये आनन्दरूप हो गई है. क्याृकि वे जन हैं अर्थात् सेवक हैं. भगवान्की सेवाका ही नाम भक्तियोग है. उसीको यहां आत्यन्तिक (परम पुरुषार्थ) बताया है. भक्तियोग स्वतन्त्र है इसलिये वह स्वयं ही फलको देने वाला है यह 'येन'से बताया है. जिस भक्तियोगसे त्रिगुणका अतिक्रमण(उल्लंघन) करके भगवत्वकेलिये भक्त योग्य हो जाता है।।१३-१४।।

आभास: 'निषेवित' आदि चार श्लोकाृसे इसी भक्तिके साधनाृको कहते हैं:

निषेवितानिमित्तेन स्वधर्मेण महीयसा।
क्रियायोगेन शस्तेन नातिहिंस्रेण नित्यशः।।१५।।

श्लोकार्थ: निष्कामभावसे श्रद्धापूर्वक नित्य तथा नैमित्तिक कर्त्तव्योंका पालन करते हुए नित्यप्रति हिंसारहित उत्तम क्रिया योगसे. . .।।१५।।

व्याख्यार्थ: मुख्य साधन तो अन्तःकरणकी शुद्धि है. वह अन्तःकरण सोलह कलाका होता है इसलिये उसकी शुद्धिकेलिये सोलह साधन कहे जाते हैं. वे भी तीन प्रकारके हैं. उनमृ जो आधिभौतिक रूपसे किया जाता है उनके करनेसे वे धर्मकेलिये उत्कृष्ट(उत्तम) अन्तःकरणकी शुद्धिका संपादन करते हैं. वे ही साधन आध्यात्मिक हों तो ज्ञानकेलिये शुद्धिका संपादन करते हैं और वे ही साधन जब आधिदैविक हों तो भक्तिकेलिये परम शुद्धिका संपादन करते हैं और वह भक्ति भी आत्यन्तिक होती है. इस विलक्षणताको 'मद्धर्माचरणैरेतैः' (भाग.पुरा. ३।२९।१९)से कहते हैं. यदि मेरे धर्मोंका इन साधनाृसे अनुष्ठान नहीं किया जाता है तो इन साधनाृमृ मेरा धर्मपन विहित नहीं होता. अतः सबसे पहले तीन धर्म कहे जाते हैं. वे हैं: स्मार्त, श्रौत और तांत्रिक. इनको डेढ श्लोकमृ कहा है.

पहले श्रौत धर्ममृ रुचि नहीं होती इसलिये स्मार्त धर्मका यहां विधान किया गया है. अपने धर्मपालनसे अत्यन्त शुद्ध हो गया है आशय-अन्तःकरण

जिसका ऐसा पुरुष मेरे सन्मुख होता है, इस तरहका यहां सम्बन्ध है. इसी तरह अन्य साधनाॅमृ भी जानना. 'स्वधर्म'से वर्णाश्रमधर्म लिया गया है. वह देहके प्रयोगसे होता है. वह स्वधर्म भी अनुकल्परूपसे नहीं किन्तु ठीक तरहसे निरंतर सेवित हो तब और उसमृ भी कामना न हो तब और निष्कामतामृ भी सजातीय प्रचय(अच्छे प्रकारसे आचरण किया गया)के सहित उत्तमतासे युक्त स्वधर्मसे (सेवा की जाय उससे अन्तःकरण की शुद्धि होती है). सत्त्व, रजस् और तमस् इन त्रिविध गुणाॅसे युक्त यदि स्वधर्म, जो स्नानादिरूप स्मार्त्त है वह, तो पृथ्वी सम्बन्धी दोषाॅको दूर करता है. इसलिये षोडशांश अन्तःकरणका उपकार करता है. इसी तरह वैदिक यज्ञात्मक क्रियायोग भी अन्तःकरणकी शुद्धि करता है. जिनमृ ब्राह्मणवाक्य(वेदका एक भाग) अत्यन्त प्रशंसा करनेवाले होते हैं, न कि द्वादशाह जो हीन है उसकी तरह, निन्दित हो उसे प्रशस्त(उत्तम) कहते हैं. उसमृ भी जो यज्ञ हिंसा प्रचुर हो उसे कभी न करें. अल्पहिंसा तो इध्म(समिधा) बर्हि(कुश) इनमृ भी होती है. आलभनमृ भी वैसा(पिष्टका) पशु हो तो उसमृ भी इध्म आदिकी तरह अल्प हिसा होती है. श्रुतिमृ ''मृत्यवे वा एष नीयते''(तैत्ति.संहि.३।१।५) ''मृत्युकेलिये इसे ले जाया जाता है'' तो पिष्टपशु उस जगह हो तो अल्पहिंसा होती है. इसलिये मूलमृ 'न अतिहिंस्रेण' ऐसा पद दिया है. वह यज्ञ भी सर्वदा कर्तव्य है. इसी तरह गुणत्रय सहित क्रियायोग भी सदा करना चाहिये. यह क्रिया आध्यात्मिक दोषको दूर करती है. जल आध्यात्मिक है इसलिये यह क्रियायोग जलकी शोधिका होती है।।१५।।।

आभास: इस तरह स्मार्त और श्रौत इन दोनाॅ क्रियाआॅसे परिशुद्ध पुरुष तान्त्रिक साधनामृ आग्रह रखता हुआ पञ्चाङ्ग भगवान्का भजन करता है उसे कहते हैं:

मद्धिष्ण्य–दर्शन–स्पर्श–पूजा–स्तुत्यभिवन्दनैः।
भूतेषु मद्भावनया सत्त्वेनाऽसङ्गमेन च।।१६।।

श्लोकार्थ: मेरी प्रतिमाका दर्शन करना, उसका स्पर्श, उसकी स्तुति और वन्दन से और सब प्राणियाॅमृ मेरी भावना करनेसे, धैर्य और वैराग्यके अवलम्बसे. ..।।१६।।

व्याख्यार्थ: भगवान् जिसमृ निवास करते हैं वह स्थान यह 'धिष्ण्य'पदका आशय है. प्रमाणमूलक ऐसी श्रीरङ्ग आदिकी मूर्तियां समझना

चाहिये. सर्वप्रथम तो उनका दर्शन करना, तदनन्तर उनके चरणस्पर्श करना, फिर पूजा करना, तदनन्तर उनकी स्तुति और फिर उनको दण्डवत् प्रमाण करना –ये पांच क्रियाएँ हैं. पांचोंमें प्रत्येक(हर एक)में भी सामर्थ्य है इसको बतानेकेलिये यहां 'मद्भिष्ण्य–दर्शन–स्पर्श–पूजा–स्तुत्यभिवन्दनैः' ऐसा बहुवचन दिया है. इन क्रियाओंसे सभी तैजसकी शुद्धि कही गई. क्योंकि यह क्रियायोग पञ्चाग्निमें उत्पन्न हुआ है. अथवा यह इस प्रकारकी अवस्थावाला है. जिस प्रकारके करनेसे वायुकी शुद्धि होती है.

अब अन्य साधनोंको बताते हैं. सत्त्वगुण भी साधन है. वह तीन प्रकारका है: १.सात्त्विक कर्मरूप २.सज्जनोंके स्वरूप प्राप्त करानेवाला ३.वसुदेवरूप शुद्ध सत्वरूप अन्तःकरणका साधक है. भगवान् आकाशशरीर होनेसे इसके द्वारा आकाशकी शुद्धि कही गई.

अब इन्द्रियशुद्धिको 'असङ्गमेन'से कहते हैं. सबके सङ्गका परित्याग करना चाहिये. 'च'से सङ्गकी इच्छाका भी परित्याग करना ऐसा जानना।।१६।।

महतां बहुमानेन दीनानाम् अनुकम्पया।
मैत्र्या चैवात्मतुल्येषु यमेन नियमेन च।।१७।।

श्लोकार्थ: महापुरुषोंके सम्मान करनेसे, दीनों पर दया करनेसे और अपने समान स्थितिवालोंके साथ मित्रताका व्यवहार करनेसे और यम–नियमोंका पालन करनेसे. . .।।१७।।

व्याख्यार्थ: अपनी अपेक्षा जो बड़े हैं उनका बहुत सम्मान करना और अपनी अपेक्षासे जो हीन हैं उनके ऊपर दया करनेसे, अपने समान हों उनसे मित्रता रखनेसे, डाह न करनेसे. किसीकी भी अवगणना(अपमान) तथा स्पर्धा(होड़) न करना यह 'च'का अर्थ है. इससे आंखोंसे जिन्हें हम देखते हैं, जिनका स्पर्श करते हैं उनसे होनेवाले दोषोंकी निवृत्ति बताई गई. यम और नियम ये बारह–बारह प्रकारके हैं. इनसे हाथ और पैर शुद्ध हो जाते हैं. अहिंसा आदि यम हैं और स्नान आदि नियम हैं. 'च'से और जो अवान्तर साधन हैं उनका ग्रहण है।।१७।।

आध्यात्मिकानुश्रवणाद् नामसङ्कीर्तनात् च मे।
आर्जवेनार्यसङ्गेन निरहङ्क्रियया तथा।।१८।।

श्लोकार्थ: अध्यात्मशास्त्रोंके श्रवणसे, मेरे नामोंके संकीर्तनसे तथा मनकी सरलतासे, सज्जनोंके संगसे और अहंकारके त्यागसे...।।१८।।

व्याख्यार्थः सांख्य, योग आदि जो आध्यात्मिकशास्त्र हैं उनको सुनने (अनुश्रवण)का तात्पर्य है: गुरुमुखसे श्रवण करना. यह श्रोत्रेन्द्रियका संस्कार करता है. भगवान्का निरन्तर नामसंकीर्त्तन वाणीको संस्कृत करता है. 'च'से भगवान्के गुणकर्मोंका श्रवण भी लिया जाता है. 'मे' पदसे भगवान्से अतिरिक्त अन्य कोई विषय नहीं लिया जाता अर्थात् श्रवण-कीर्त्तन आदि भगवत्सम्बन्धी ही हा, अन्य सम्बन्धी नहीं. सर्वत्र सरलता रखना यह घ्राण (नासिका)का संस्कार कहा. आर्य(सज्जन) पुरुषाका सङ्ग जीह्वाको संस्कृत करता है. ये सब इतर रसके निवर्त्तक हैं. अहङ्कारका न होना तो मनको शुद्ध करता है यह तो अत्यन्त प्रसिद्ध है।।१५।।

मद्धर्माचरणैर् एतैः परिशुद्धाशयः स्फुटम् ।
अञ्जसा पुरुषोऽभ्येति श्रुतमात्रगुणं हि माम्।।१९।।

श्लोकार्थः मेरे(भगवत्सम्बन्धी) धर्मोंका अनुष्ठान करनेसे चित्त शुद्ध हो जाता है यह स्पष्ट है. तब मेरे गुणाके सुनने मात्रसे ही चित्त मेरेमा लग जाता है।।१९।।

व्याख्यार्थः ये पूर्वोक्त सब धर्म भक्तिको उत्पन्न करते हैं. उनके द्वारा सब ओरसे आशय-अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है तब ही पुरुष सब प्रकारसे मेरे गुणाके श्रवणमात्रसे मुझे प्राप्त कर लेता है. जैसे विदेशमा गये हुए अपने पुत्रके गुणाको सुननेसे पिताका मन उसी ओर लग जाता है और स्वयं पुत्रकी ओर आकृष्ट हो जाता है अथवा स्त्री विदेशमा गये हुए अपने पतिके गुणाको सुनकर पतिकी ओर अत्यन्त आकृष्ट हो जाती है, उसी तरह मेरे गुणाको सुननेसे पुरुषकी स्थिति हो जाती है. 'हि'का अर्थ है ऐसा होना उचित ही है. 'पुरुषस्य अञ्जसा' ऐसा जहां पाठ हो वहां आशयको ही कर्ता समझना।।१९।।

आभासः अब भगवत्प्राप्तिका मुख्य साधन कहते हैं:

यथा वातरथो घ्राणम् आवृङ्क्ते गन्ध आशयात् ।
एवं योगरतं चेत आत्मानम् अविकारि यत्।।२०।।

श्लोकार्थः जिस तरह वायुके द्वारा उडकर जानेवाली गन्ध अपने आश्रय-पुष्पसे घ्राणेन्द्रिय(नाक) तक पहुंच जाती है उसी प्रकार भक्तियोगमा तत्पर और रागद्वेष आदिके विकाराासे रहित चित्त परमात्माको प्राप्त कर लेता है।।२०।।

व्याख्यार्थः निरन्तर सेवित किया जाता केवल एक योग ही सबका साधक है. उसमॄ शुद्धिकी अपेक्षा नहीं है. यह साधन ऐसा ही है इसे दृष्टान्तसे कहते हैं. जैसे गन्ध वायु पर चढकर अथवा स्वभावसे नाकको प्राप्त हो जाती है. क्यॄकि गन्धको ग्रहण करनेवाला घ्राण(नाक) ही है. 'वातरथः'का अर्थ वायु ही है रथ जिसकी ऐसी गन्ध. अर्थात् वायुपर चढकर गन्ध नाकका ही वरण करती है. नाक ही उसको ग्रहण करती है. इसी तरह योगमॄ निरन्तर लगा हुआ चित्त आत्माको ही ग्रहण करता है, अर्थात् आत्मगामी ही होता है. परन्तु वह चित्त निर्विकार होना चाहिये इसलिये पूर्वसाधनॄकी अपेक्षा है यह 'अविकारि यत्'से ज्ञात होता है. अर्थात् जो चित्त सब विकारॄका परित्याग कर चुका है वह आत्मगामी ही होता है।।२०।।

आभासः इस तरह साधनॄके सहित उत्तम भक्तिका साधन करके पूर्वोक्त तीन प्रकारकी सगुणा भक्तिकी 'अहं सर्वेषु' आदि चार श्लोकॄसे निन्दा करते हैं:

अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्माऽवस्थितः सदा ।
तम् अवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुतेऽर्चाविडम्बनम्।।२१।।

श्लोकार्थः मैं आत्मारूपसे सदा सभी जीवॄमॄ स्थित हूं, इसलिए जो लोग मुझ सर्वभूत स्थित परमात्माका अनादर करके केवल प्रतिमामॄ ही मेरा पूजन करते हैं वह पूजा केवल स्वांगमात्र है।।२१।।

करोति यत्तद् नटवद् मुख्यस्याऽतिक्रमस्तथा ।
दोषोत्पत्तिश्च प्रचुरा मत्प्रीतेश्च न साधकम्।।का. १।।

कारिकार्थः जो मुख्यका अतिक्रमण करके और नटकी तरह केवल भक्तियोगका स्वांग करता है उससे प्रचुर(अत्यधिक) दोषॄकी उत्पत्ति होती है और वह भक्तियोग मेरी प्रीतिका साधक नहीं होता।।१।।

व्याख्यार्थः वहां पहले जो सगुणभक्ति बताई गई है वह तो भक्तिका स्वांग मात्र है. भक्ति नहीं है उसीको 'सर्वेषु भूतेषु अहम् आत्मा'से बताया है. इसका प्रतिपादन ''अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः''(ब्रह्मसू.१।४।२२) इस ब्रह्मसूत्रमॄ है. भगवान्की ही अवस्थाविशेष जीव है. इसे 'अवस्थितः'से बताया है. अथवा भगवान् कहते हैं कि मैं ही भूतात्मा हूं, सर्वभूतरूप हूं, तत्त्वरूप हूं, जीवरूप और सङ्घातरूप हूं. सदा अवस्थितका अर्थ है मैं अन्तर्यामी हूं, इसलिये सर्वभावसे सब भूतॄमॄ विद्यमान होनेवाले मेरा अपमान करके और अपनेसे

अतिरिक्तामृ भेदबुद्धि या हिंसा आादिको उत्पन्न करके और अपनी आत्माको भी केवल मनुष्यशरीर मानकर जो पूजा करता है वह तो पूजाका स्वांग मात्र है।।२१।।

आभास: भगवान्का आकार न होनेसे केवल अपनी बुद्धिसे शास्त्रका उल्लंघन करके यदि मेरी पूजा करता है तब उसको जो फल होता है उसे कहते हैं:

यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तम् आत्मानम् ईश्वरम् ।
हित्वार्चां भजते मौढ्याद् भस्मन्येव जुहोति सः।।२२।।

श्लोकार्थ: मैं सबका आत्मा परमेश्वर सभी भूतामृ स्थित हूं ऐसी दशामृ जो मोहवश मेरी उपेक्षा करके केवल प्रतिमाके पूजनेमृ ही लगा रहता है वह तो मानो भस्ममृ ही हवन करता है।।२२।।

व्याख्यार्थ: मैं सङ्घात(देह)मृ तीनरूपसे वर्तमान हूं. १.पहले तो मैं सब भूतामृ पृथ्वी आदिमृ उन-उन रूपामृसे हूं. तदनन्तर २.आत्मारूपसे हूं और उसके अनन्तर ३.अन्तर्यामी(नियामक)रूपसे हूं. इस तरह पुरुषमृ सर्वभावसे विद्यमान भगवान्को छोड़कर जो प्रतिमाकी सेवा करता है, उसकी इस प्रकारसे प्रतिमाकी सेवामृ कोई प्रमाण नहीं है उसको 'मौढ्यात्'से बताया है. अर्थात् ऐसा करना केवल उसकी मूर्खता है, प्रमाण सिद्ध नहीं है. शंका हो सकती है कि एकादश स्कन्धमृ भगवान्ने 'मदर्चासम्प्रतिष्ठाप्य' इत्यादिसे बहुत विस्तारसे प्रतिमापूजनको ही मुख्य बताया है और यहां प्रतिमापूजनकी निन्दा कर रहे हैं! इसका तात्पर्य यह है कि स्वतंत्र भगवन्मार्गका यहां निषेध नहीं है क्यामृकि वह तो गुणातीत है. यह 'मन्निकेतं तु निर्गुणम्' इससे ग्यारहवे स्कन्धमृ बतायृगे. वाक्यामृका प्रकरणसे सम्बन्ध रहता है अतः उस प्रकरणमृ जो आता है उसीके गुण-दोषामृको उस प्रकरणके वाक्य बताते हैं उनमृ 'पृथक् भाव' तो कहा नहीं है. अथवा द्वादशस्कन्धके अनुसार नारायण पुरुषकी अर्चना करनी चाहिये. दोनामृ ही जगह भेद और गुणामृका अभाव होनेसे पूर्वोक्त दूषण नहीं होते हैं. किन्तु इसी प्रकरणमृ वे पूर्वोक्त सगुणभक्तिके दूषण हैं. प्रतिमामृ ज्ञान, क्रिया, चैतन्य और आनन्दका अभाव होनेसे उनकी प्राप्तिकेलिये प्रयत्न भी किया जाता है किन्तु प्राणियामृ भगवान्की अवज्ञासे ये ज्ञानादि बादमृ उसे छोड़ देते हैं तो फिर उसकी की गई अर्चा राखमृ किये गये हवनकी तरह होती है. यदि अर्चक(पूजा करनेवाले)मृ ज्ञान होता तो प्राणियामृ अवज्ञा क्यामृ करता! इसलिये उस अर्चकको ज्ञान, क्रिया आदि सब छोड़ देते हैं तब उसकी अर्चा(पूजा) भस्ममृ हवन करनेके समान ही है. जैसे

राखमॄ हवन करनेवालेने पहले राखमॄ अग्नि देखी थी परन्तु बादमॄ अग्नि तो बुझ गई. अग्निके बुझ जाने पर अग्निके भ्रमसे किये जानेवाले हवनको यहां दृष्टान्तमॄ लिया है।।२२।।

आभास: अपनेसे भिन्नमॄ द्वेष आदिसे की गई अर्चासे भगवद्भजनमॄ काम आदिकी उत्पत्ति होनेसे कभी भी मनःशान्ति नहीं होती उसे कहते हैं:

द्विषतः परकाये मां मानिनो भिन्नदर्शिनः।
भूतेषु बद्धवैरस्य न मनः शान्तिम् ऋच्छति।।२३।।

श्लोकार्थ: जो भेददर्शी और अभिमानी पुरुष दूसरे जीवॄके साथ वैर बांधता है और इस प्रकार उनके शरीरॄमॄ विद्यमान मुझ–आत्मासे द्वेष करता है उसके मनको कभी शान्ति नहीं मिल सकती।।२३।।

व्याख्यार्थ: जो अन्य प्राणियॄसे द्वेष करता है वह मुझसे ही द्वेष करता है क्यॄकि सब प्राणियॄमॄ मैं वर्तमान हूं. इसलिये अन्य शरीरमॄ मेरे साथ द्वेष करनेवालेको कभी शान्ति नहीं मिलती ऐसा सम्बन्ध है. शंका हो सकती है कि अन्यके शरीरके साथ किया गया द्वेष भगवान्के साथ द्वेष है ऐसा कहना तो लोक और वेद के विरुद्ध है! इसका उत्तर देते हैं. द्वेष जीव ही के साथ है या शरीरके साथ? जीव और संघात दोनॄ ही भगवद्रूप हैं इसलिये व्यवहार कैसे होगा? उस व्यवहारकेलिये भेद अवश्य मानना पड़ेगा. श्रुतिमॄ कहा है कि जिसके साथ द्वेष करे उसका ध्यान करे. तो वहां भगवान्ने ''तान् अहं द्विषतः'' (भग.गीता. १६।१९) ऐसा कैसे कहा? उसे बताते हैं. जीवमॄ रहनेवाली अपकार करनेकी क्रिया ही भिन्न जीवमॄ द्वेष कहा जाता है. वह अपकार क्रिया मेरेसे की गई है (क्यॄकि मैं ही तो सर्वत्र विद्यमान हूं) अथवा मेरी प्रेरणासे हुई है. यदि अपकार करनेकी बुद्धिसे अन्यके साथ द्वेष करता है तो वह मेरे ही से द्वेष करता है. भगवान्ने ही जब व्यवहारकेलिये भेद प्रकट किया है तो भेदके कारण द्वेष होता ही है! उसकी व्यवस्थाकेलिये कहते हैं कि (यदि अर्चक अपनेको मुझसे अलग मानता है तो जैसे यज्ञके विरोधी दैत्य हैं वे भी मेरे ही मॄ स्थित हैं किन्तु वे दैत्य, शरीरमॄ रहनेवाले रोगकी तरह हैं और उनको हटाया जाता है. जैसे व्रीही(शाल)मॄ रहे तुषॄका हटाया जाता है. यद्यपि तुष भी चावलके अङ्ग है परन्तु वे हटाये जानेके योग्य हैं). अतः यज्ञकेलिये द्वेष है परन्तु द्वेषकेलिये यज्ञ उचित नहीं है. यदि शंका हो कि श्येनयाग तो आभिचारिक याग है तो उसकी संगति कैसे होगी? उसका

उत्तर देते हैं कि यज्ञका शत्रु ही अपना शत्रु है. वहां तो यज्ञ निरभिमान है इसलिये भी करना चाहिये. परन्तु यहां तो भगवान् साभिमान हैं इसलिये द्वेष करनेवालेसे भी द्वेष न करे. इसमॄ प्रह्लादको दृष्टांत समझना चाहिये. उसके साथ पिताने कितना द्वेष किया परन्तु उसने उससे कभी द्वेष नहीं किया. बिना द्वेषके ही उसका सब काम सिद्ध हो गया. इसलिये इस मार्गमॄ द्वेष सर्वथा अनुचित है. यह सृष्टि तो भगवान्केलिये है अतः सृष्टिके किसी प्राणीके साथ द्वेष करना भगवान्से द्वेष करना है. यहां 'मानिनः भिन्नदर्शिनः भूतेषु बद्धवैरस्य'में तीन दोष कहे हैं. सात्त्विक मानी होता है. राजस भिन्नदर्शी होता है और तामस प्राणियॄके साथ शत्रुता रखनेवाला होता है. जो त्रिदोषसे व्याप्त होता है उसे कभी शान्ति नहीं होती. अभिमान तो सात्त्विक दोष है ही, क्यॄकि उत्कृष्ट कर्मसे अभिमान होता है. क्रियासे ही भेद होता है इसलिये भेदज्ञान राजस है. वैर तो तामस है ही।।२३।।

आभास: यद्यपि द्वेष आदि महान् दोष हैं परन्तु मैं जिस दोषसे असंतुष्ट होता हूं उस मुख्य दोषको कहते हैं:

अहम् उच्चावचैर् द्रव्यैः क्रिययोत्पन्नयाऽनघे!।
नैव तुष्येऽर्चितोऽर्चायां भूतग्रामावमानिनः।।२४।।

श्लोकार्थ: हे निष्पाप माता! जो दूसरे जीवॄका अपमान करता है वह भले ही उच्चअच्छी या घटिया सामग्रियॄसे अनेक प्रकारके विधि-विधानसे मेरी मूर्तिका पूजन भी करे परन्तु मैं उससे प्रसन्न नहीं हो सकता।।२४।।

व्याख्यार्थ: यद्यपि बहुतसे सुवर्णपुष्प आदि मुझे अर्पित करता है तो भी उनसे उत्पन्न होनेवाली क्रियाओॄसे मैं कभी प्रसन्न नहीं होता हूं. उसका कारण यह है कि वह प्राणियॄका अपमान करता है. उसकी पूजासे मैं प्रसन्न नहीं होता हूं ऐसा कहना केवल उपलक्षण(परिचयमात्र) है. किन्तु यदि किसी पुरुषविशेषका भी यदि वह भजन करता है पर प्राणियॄका अपमान करता है तो भी मुझे प्रसन्नता नहीं होती. पुरुषविशेषकी अर्चना भी वह मेरी प्रतिमाके अर्चनके समान ही करता है इसलिये 'अर्चायाम्' ऐसा कहा है।।२४।।

आभास: शंका होती है कि फिर तो जितने भी पूजाके विधान करनेवाले वाक्य हैं वे व्यर्थ हो जाएॄगे. इस आशंकाका उत्तर देते हैं:

अर्चादावर्चयेत् तावद् ईश्वरं मां स्वकर्मकृत्।
यावद् न वेद स्वहृदि सर्वभूतेष्ववस्थितम्।।२५।।

श्लोकार्थ: मनुष्य अपने धर्मका अनुष्ठान करता हुआ तब तक मेरी प्रतिमा आदिकी पूजा करता रहे जब तक उसे अपने हृदयमॄ एवं सम्पूर्ण प्राणियोंमॄ स्थित परमात्माका अनुभव न हो जाए।।२५।।

व्याख्यार्थ: जब तक सर्वात्मक(सबके भीतर रहनेवाले) भगवान्‌को नहीं जानता तब तक प्रतिमाकी पूजा करे. क्योंकि मैं ईश्वर हूं. पूजा न करने पर ईश्वर मार देता है. उसके द्वारा की गई वह भगवान्‌की अर्चा धर्मरूपा है. उसको 'स्वकर्मकृत्'से बताया है. जैसे ब्राह्मण आदिकेलिये संध्यावन्दन आदि नित्यकर्म हैं, उसी तरह भगवत्पूजा भी नित्यकर्म है. इसलिये नित्यकर्म करनेवाला शालिग्राम आदिमॄ मेरी पूजा करे. वह पूजा तब तक करता रहे जब तक उसके हृदयमॄ सब प्राणियोंमॄ मैं स्थित हूं ऐसा ज्ञान न हो जाये. केवल शाब्दिकज्ञानसे ऐसी समझ होना पर्याप्त नहीं है किन्तु जब तक सब प्राणियोंमॄ मैं स्थित हूं ऐसा अनुभव न हो जाय तब तक प्रतिमार्चन(मूर्ति पूजा) करता रहे. जिस तरह साक्षात् भगवान्‌के पधारने पर बुद्धि होती है वैसी ही बुद्धि यदि कृमि कीट(कीडे) आदिको देखकर हो जाय तब भले ही कर्म छूट जाय या पूजा छूट जाय. इसकेलिये यहां 'सर्वभूतेष्ववस्थितं माम्' ऐसा साधारण वाक्य कहा है. क्योंकि ऐसा होने पर उसमॄ गौण–प्रधान ऐसा कोई भाव नहीं रहता।।२५।।

आभास: जब सब प्राणियोंमॄ मैं हूं ऐसा ज्ञान हो जाए तब उसे प्रतिमा पूजन नहीं करना चाहिए उसमॄ हेतु कहते हैं:

आत्मनश्च परस्यापि यः करोत्यन्तरोदरम्।
तस्य भिन्नदृशो मृत्युः विदधे भयम् उल्बणम्।।२६।।

श्लोकार्थ: जो व्यक्ति आत्मा और परमात्माके बीचमॄ थोडा सा भी अन्तर करता है उस भेददर्शीको मैं मृत्युरूपसे महान भय उपस्थित करता हूं ।।२६।।

व्याख्यार्थ: यदि ज्ञान हो जानेके अनन्तर भी पूजा करता है तो (अ)भेद[1]बुद्धिसे अपनी सेवाकी तरह प्रतिमाके अर्चनमॄ कोई दोष नहीं है. क्योंकि अपनी सेवासे स्वयं सन्तुष्ट होता है. श्रुतिमॄ भी आत्माकी ही उपासना बताई है ''यदि कोई अन्य देवताकी उपासना करता है, यह अन्य है और मैं अन्य हूं ऐसा जानता है वह पशु है, वह देवताओंका पशु है''. और यदि कोई अपनेमॄ और अन्यमॄ थोड़ा भी भेद करता है(उसको मृत्युका भय होता है) 'अर' शब्द भेद वाचक है

क्यूंकि अरा चक्रके भेदक होते हैं. श्रुति ने भी ऐसा ही कहा है कि ''जब यह पुरुष अन्यसे थोड़ा सा भी भेद करता है तो उसे भय होता है''. उसी भयको यहां 'तस्य भिन्नदृशः' आदिसे बताया है. जो भेददृष्टि करता है उसकेलिये मैं अत्यन्त भय उपस्थित करता हूं वह भय मृत्यु ही हो सकता है मृत्युके अतिरिक्त अन्य भयसे कभी प्राणी प्राणोंका परित्याग नहीं करता. प्राणोंको धारण करना यह सहज प्रयत्न है इसलिये भेदबुद्धिवालेकेलिये भक्तिका फल मिलना तो दूर रहा उसकी जगह उसे मृत्यु प्राप्त हो जायेगी. ज्ञानके अनन्तर तो मृत्युका अभाव(अमर) होना चाहिये इसलिये जिससे मृत्युका भय उपस्थित हो ऐसा कभी न करे ऐसा यहां स्पष्ट रूपसे जाना जाता है।।२६।।

१.यहां भेदबुद्ध्याकी जगह अभेदबुद्ध्या ऐसा पाठ होगा ऐसा 'प्रकाश' का मत है क्यूंकि उन्होंने ''तेनसिद्धम् आहुः भेदबुद्ध्येत्यादि. अत्र 'अकारः पतित इति प्रतिभाति'' ऐसा लिखा है.

आभास: अज्ञान दशामें भी ज्ञानार्थीको मूर्तिमें अर्चन करनेकी अपेक्षा सब प्राणियोंमें ही भजन उत्तम है इसे कहते हैं:

अथ मां सर्वभूतेषु भूतात्मानं कृतालयम्।
अर्हयेद् दान–मानाभ्यां मैत्र्याऽभिन्नेन चक्षुषा।।२७।।

श्लोकार्थ: सब प्राणियोंके भीतर रहनेका घर बनाकर उन प्राणियोंके ही रूपमें स्थित मुझ परमात्माका यथायोग्य दान, मान, मित्रताके व्यवहारसे तथा समदृष्टिके द्वारा पूजन करना चाहिए।।२७।।

व्याख्यार्थ: पूर्वमें ज्ञानीका निरूपण था अब यहां प्रक्रमके बदल जानेसे भिन्नक्रम हो गया उसको बतानेकेलिये 'अथ' शब्द दिया है. सब भूतोंमें भगवद्रूपसे भजन भक्तिमार्गमें भी है परन्तु उसे यहां नहीं लिया है. यहां तो भूतोंकी आत्मा जीव है वह लिया गया है. शंका होती है कि भगवान् तो सर्वत्र हैं फिर भूतों(पञ्चमहा भूतों)में ही ऐसी क्या विशेषता है? उसके लिये 'कृतालयम्' पद दिया है. भगवान्ने भूतोंके भीतर अपना घर बना रखा है. जैसे कोई अपना कहीं घर बना कर उसमें रहता है तो उसको प्राप्त करना वहां सुलभ होता है. इसलिये आत्माको भी संघात(शरीर) रूप घरमें प्राप्ति सुलभ है. लोकमें भी हम देखते हैं घरमें कोई पदार्थोंको लाकर रखता है तो उससे घरका स्वामी प्रसन्न होता है अतः सङ्घातोंमें ही मेरी पूजा करनी चाहिये. पूजा भी योग्यताके अनुसार होनी चाहिये

जिस तरहसे वह प्रसन्न हो वैसा करना चाहिये. उन सबमॅ मुख्य है दान, मान और मित्रता. जो अपनेसे कम हो उसको देना, अपनेसे बड़ा हो उसका सम्मान करना तथा जो अपने समान हो उसके साथ मित्रता करना. यह सब भी अभिन्नदृष्टिसे अर्थात् सर्वत्र आत्मज्ञानसे करना चाहिये, केवल लोक दृष्टिसे नहीं. इसको बतानेके लिये 'अभिन्नेन' ऐसा पद दिया है।।२७।।

आभास: विशेष पूजाका पात्र उत्कृष्ट ब्राह्मण है. वह मेरा(भगवान्का) अधिष्ठान(घर) है इस बातको बतानेकेलिए सब जीवॄकी अपेक्षा ब्राह्मणकी उत्कृष्टता(श्रेष्ठता)को साढे छः श्लोकॄसे कहते हैं:

जीवा: श्रेष्ठा ह्यजीवानां तत: प्राणभृत: शुभे!।
तत: सचित्ता: प्रवरा: ततश्चेन्द्रियवृत्तय:।।२८।।

श्लोकार्थ: माताजी! पत्थर आदि अचेतनॄकी अपेक्षा वृक्षादि जीव श्रेष्ठ हैं. उनसे श्रेष्ठ श्वास लेनेवाले जंगम होते हैं. उनमॄ भी मनवाले प्राणी उत्तम हैं और उनसे श्रेष्ठ होते हैं इन्द्रियॄकी वृत्तियॄसे युक्त प्राणी।।२८।।

व्याख्यार्थ: प्राणयुक्त जीव कहलाते हैं. वे अजीवॄसे अर्थात् पाषाण (पत्थर) आदिसे श्रेष्ठ होते हैं जैसे वृक्ष आदि. उन प्राणधारी वृक्षॄसे श्वास और उच्छ्वास वाले जङ्गम प्राणी श्रेष्ठ हैं. कपिलदेवजी कहते हैं कि मैं जो कह रहा हूं उसमॄ तुम्हारा विश्वास है इसे 'शुभे' सम्बोधनसे सूचित किया है. देहकी अपेक्षा स्थूल प्राण श्रेष्ठ है और स्थूल प्राणसे आसन्य प्राण उत्तम है. इस तरह देह, स्थूल प्राण और आसन्यप्राण इन तीनॄ का निरूपण हुआ. ये तीनॄ क्रियाशक्तिप्रधान हैं. इन क्रियाशक्तिप्रधानॄसे ज्ञानशक्तिवाले प्रधान(उत्तम) होते हैं. उन्हॄ 'ततः सचित्ताः प्रवराः' आदिसे बताते हैं. चेतनाका आधारभूत अन्तःकरण चित्त कहलाता है. चित्तवाले अर्थात् ज्ञानवान् श्रेष्ठ हैं. केवल ज्ञानवालॄसे भी जो इन्द्रियवृत्ति वाले हैं अर्थात् जिनको विषयॄका ज्ञान है वे श्रेष्ठ हैं. ये इन्द्रियां भी क्रियामय हैं.

आभास: इन सबसे ज्ञानवालॄकी श्रेष्ठताको कहते हैं:

तत्रापि स्पर्शवेदिभ्य: प्रवरा रसवेदिन: ।
तेभ्यो गन्धविद: श्रेष्ठा: तत: शब्दविदो वरा:।।२९।।

श्लोकार्थ: इन्द्रियवाले प्राणियॄमॄ भी स्पर्शका अनुभव करनेवालॄसे रसका ग्रहण करनेवाले (मछली आदि) श्रेष्ठ हैं, रसको जाननेवालॄसे भी गन्धका

अनुभव करनेवाले (भ्रमर आदि) श्रेष्ठ हैं और गन्धका ग्रहण करनेवालोमॄ भी शब्दका ग्रहण करनेवाले(सर्प आदि) श्रेष्ठ हैं।।२९।।

रूपभेदविदस्तत्र ततश्चोभयतो दतः।

तेषां बहुपदाः श्रेष्ठाः चतुष्पादस्ततो द्विपात्।।३०।।

श्लोकार्थः शब्दज्ञानीसे भी रूपका अनुभव करनेवाले(काक आदि) उत्तम हैं. उनकी अपेक्षा भी जिनके उपर तथा नीचे दोनॄ ओर दांत होते हैं वे जीव श्रेष्ठ हैं. उनसे भी बहुत पैरॄवाले श्रेष्ठ हैं, बहुत पैरॄवालोंसे चार पैरवाले श्रेष्ठ हैं, चार पैरॄवालों से दो पैरॄवाले श्रेष्ठ हैं।।३०।।

ततो वर्णाश्च चत्वारः तेषां ब्राह्मण उत्तमः।

ब्राह्मणेष्वपि वेदज्ञो ह्यर्थज्ञोऽभ्यधिकस्ततः।।३१।।

श्लोकार्थः मनुष्यॄमॄ चार वर्ण श्रेष्ठ हैं, उन चार वर्णोमॄ भी ब्राह्मण उत्तम है, और ब्राह्मणॄमॄ भी वेदको जाननेवाला ब्राह्मण उत्तम है. वेदॄके जाननेवालॄमॄ भी वेदके तात्पर्यको जाननेवाला उत्तम है।।३१।।

अर्थज्ञात् संशयच्छेत्ता ततः श्रेयान् स्वकर्मकृत्।

मुक्तलिङ्गस्ततो भूयान् अदोग्धा धर्मम् आत्मनः।।३२।।

श्लोकार्थः तात्पर्यको जाननेवालोमॄ भी संदेहका निवारण करनेवाला उत्तम है. संदेह निवारण करनेवालॄसे भी अपने धर्मका आचरण करनेवाला उत्तम है. उनकी अपेक्षा भी जो देहाभिमानसे रहित होता हुआ ऐहिक तथा पारलौकिक कुछ फल नहीं चाहता हो वह उत्तम है।।३२।।

व्याख्यार्थः ज्ञानेन्द्रियॄमॄ सबसे निकृष्ट है स्पर्श, उससे रसना उत्कृष्ट है क्यॄकि मधुर आदि रस स्पर्शकी अपेक्षा भी मोहक हैं. गन्ध पृथिवीका गुण है. गन्धका ज्ञान दूरसे ही हो जाता है इसलिये गन्धसे पहचानने वाले रसवेत्ताओॄकी अपेक्षा उत्तम हैं. सभी कृमि(कीडे) प्रायः स्पर्शज्ञानवाले होते हैं. उनसे उत्कृष्ट रसज्ञान वाले मत्स्य(मछली) हैं. गन्ध ज्ञानवाले भ्रमर आदि होते हैं. उनसे श्रेष्ठ शब्दको जानने वाले हरिण हैं. गन्धकी अपेक्षा भी शब्द दूरसे ही अर्थ(पदार्थ)का ज्ञान करा देता है. उससे भी अधिक नेत्र हैं. नेत्र बहुत दूर तककी वस्तुको बता देता है. रूपभेदको जाननेवाले कौए आदि श्रेष्ठ हैं. ऊपर और नीचे दांत वाले साधनकी अधिकताके कारण उनसे भी श्रेष्ठ हैं. जैसे बन्दर, चूहे आदि. ये दांत जो साधन हैं वे वस्तुको अन्दर ले जानेमॄ कारण हैं. उनसे श्रेष्ठ बाह्य करणवाले होते हैं.

वे हैं गोजर(गजाई) आादि. उनसे भी श्रेष्ठ होते हैं चार पैर वाले चूहे, बिल्ली, घोड़े आदि. उनसे श्रेष्ठ दो पैर वाले सभी पक्षी तथा मनुष्य हैं. उनसे भी ब्राह्मण आदि वर्ण उत्तम हैं, क्यूंकि वे धर्मवाले हैं. उन चारूं वर्णोंमूं भी सबसे आद्य मुख्यधर्म वाला होनेसे ब्राह्मण श्रेष्ठ है. जातिसे जो ब्राह्मण हो उसकी अपेक्षा वेदका अध्ययन करनेवाला ब्राह्मण श्रेष्ठ होता है. उससे श्रेष्ठ वेदके अर्थको जानने वाला होता है. उससे भी श्रेष्ठ वेदके अर्थमूं होनेवाले सन्देहका निवारण करने वाला होता है. उनमूं यज्ञ आदिको करने वाला श्रेष्ठ है. उससे भी श्रेष्ठ जिसका देहाभिमान नष्ट हो गया है वह है. उससे भी श्रेष्ठ वह है जो देहाभिमानसे रहित होता हुआ इस लोक एवं पारलौकिक कोई कार्य नहीं करता और न इनके करनेकी इच्छा रखता है।।२९-३२।।

आभास: इसलिए वैसा होते हुए जो भगवद्भक्त है वह महान् है इसे कहते हैं:

तस्माद् मय्यर्पिताशेष-क्रियार्थात्मा निरन्तरः।
मय्यर्पितात्मनः पुंसो मयि संन्यस्तकर्मणाम्।।
न पश्यामि परं भूतम् अकर्तुः समदर्शनात्।।३३।।

श्लोकार्थ: इन सबकी अपेक्षा जो लोग अपने सम्पूर्ण कर्म उनके फल तथा अपने शरीर को भी मुझे अर्पण कर देते हैं और भेदभावको छोडकर मेरी उपासना करते हैं वे श्रेष्ठ हैं. इस प्रकार मुझे ही चित्त और कर्म समर्पण करनेवाले अकर्ता और समदर्शी पुरुषसे बढकर मुझे कोई अन्य प्राणी नहीं दीखता।।३३।।

व्याख्यार्थ: व्यर्थके त्यागकी अपेक्षा भगवान्को समर्पित करना उत्तम है. मेरेमूं अर्पित कर दिया है सभी क्रियाओंका अर्थ(फल) जिसने. यहां तक कि जिसने अपनी आत्माका भी अर्पण कर दिया है. वैसा होते हुए भी जो भगवान्को आत्मारूपसे जानता है वह महान् है. उसमे भी बढकर और कोई महान् है क्या ऐसी आशंका यदि हो तो उसकेलिये कहते हैं कि जिसने आत्माको मुझे अर्पित कर दिया और मेरे लिये ही कर्म एवं कर्मके फलोंको अर्पित कर दिया है और जो अकर्त्ता एवं समदर्शी है उससे उत्कृष्ट(उत्तम) कोई हो ऐसा मैं नहीं देखता. यद्यपि उन-उन शास्त्रोंमूं वे श्रेष्ठ हैं ऐसा निरूपण है तथापि विचारकोंके हृदयमूं वे नहीं आते हैं इसलिये 'पश्यामि' ऐसा कहा. सबकी अपेक्षा भक्ति और ज्ञान मूं उत्कर्ष है. भक्तिमूं भी आत्मसमर्पणकी उत्कृष्टता है. ज्ञान तो सांख्यज्ञान और ब्रह्मज्ञान

उत्कृष्ट है ही. यद्यपि ये तीनॄ ही प्रकारके त्याग करने वाले परित्यागी होते हैं तथापि आत्मनिवेदन और सांख्य तथा ब्रह्म इन दोनॄ प्रकारका ज्ञान जिसको है उससे अधिक क्या होगा! उसी बातको यहां 'मय्यर्पितात्मनो, अकर्तुः, समदर्शनात्' इन तीन पदॄसे कहा है।।३३।।

आभास: शंका होती है कि यदि ऐसा है तो वह ही भजन करनेके योग्य होगा और वह सभीसे स्वतः ही सेव्य होगा! तो फिर शास्त्र निष्फल है और पूर्व दोषॄकी निवृत्ति भी नहीं होगी ऐसी आशंका पर कहते हैं:

मनसैतानि भूतानि प्रणमेद् बहु मानयेत्।
ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवान् इति।।३४।।

श्लोकार्थ: साक्षात् भगवान् ही जीव रूप अपने अंशसे सबमॄ प्रविष्ट हैं इसलिए इन समस्त प्राणियॄको बडे आदरके साथ मनसे प्रणाम करॄ।।३४।।

व्याख्यार्थ: अपने ही लिये इस ज्ञानका निरूपण किया है. अन्य अधिकारीकी पूजाके अर्थ यह ज्ञान नहीं है. अतः ऐसा जानने वाला भी इन प्रत्यक्ष दीखने वाले प्राणियॄको प्रणाम करे. अपनेसे भी इनका अधिक सम्मान करे. इसमॄ हेतु यह है कि भगवान् जीवकलारूपसे अथवा जीवकलाके साथ सद्गुणॄके सहित इनमॄ प्रविष्ट हैं. 'इति' शब्द हेतुमॄ है. अर्थात् भगवान् क्यॄकि ईश्वर हैं अतः प्राणियॄको प्रणमन न करने वालेको अपने स्थानसे च्युत कर देगा. जीवमॄ हीन बुद्धि नहीं करना क्यॄकि जीव भगवान्की कला है. लीलाके लिये ही वह कला है अन्यथा तो स्वयं भगवान् ही है।।३४।।

आभास: इस तरह भक्ति और ज्ञानका निरूपण करके नमस्कार और भगवद्दर्शनसे व्यवहारमॄ भी उन दोनॄका उपपादन करके अब यह आशंका करते हैं कि भक्ति और ज्ञान दोनॄका समुच्चय फलका कारण है अथवा इनमॄसे प्रत्येक फलके कारण है:

भक्तियोगश्च योगश्च मया मानव्युदीरितः।
ययोरेकतरेणैव पुरुषः पुरुषं व्रजेत्।।३५।।

श्लोकार्थ: माताजी! इस प्रकार मैंने तुम्हारे लिए भक्तियोग और अष्टांगयोगका वर्णन किया. इनमॄसे एकका भी साधन करनेसे जीव परमपुरुष भगवान्को प्राप्त कर सकता है।।३५।।

व्याख्यार्थ: हे माता! मैंने भक्तियोग और अष्टांगयोग दोनॄ कहे. मानवि!

यह सम्बोधन इसको तुम जानती हो इसको बतानेके लिये दिया है. भक्तियोग और ज्ञानयोग इन दोनू मू से किसी एकसे पुरुष आत्म-भगवान्को प्राप्त कर सकता है. ज्ञानमू जो योग कहा वह साक्षात्कारकी आवृत्तिकेलिये और प्रवेशके लिये उतराङ्ग भी कहा. भक्ति तो स्वतंत्र है. जब एक प्रधान होता है तो बाकीके सब गौण भावका ही अबलम्बन करते हैं. समुच्चय तो समानका होता है इसलिये भक्ति-ज्ञानका समुच्चय नहीं हो सकता यह शास्त्रका अर्थ है।।३५।।

आभास: इस तरह पूछी गई भक्तिका निरूपण करके वैराग्यकेलिए कालका पराक्रम कहनेके लिए पहले कालका स्वरूप दो श्लोकूसे कहते हैं:

एतद् भगवतो रूपं ब्रह्मण: परमात्मन: ।
परं प्रधानं पुरुषो दैवं कर्मविचेष्टितम्।।३६।।
रूपभेदास्पदं दिव्यं 'काल' इत्यभिधीयते ।
भूतानां महदादीनां यतो भिन्नदृशां भयम्।।३७।।

श्लोकार्थ: भगवान् परमात्मा पर ब्रह्मका अद्भूत प्रभाव सम्पन्न जगत्सम्बन्धी पदार्थोंकी विचित्रताका कारण स्वरूपविशेष ही 'काल' कहा जाता है. प्रकृति और पुरुष इसीके रूप हैं तथा इनसे यह काल अलग भी है. नाना प्रकारके कर्मोंका मूल अदृष्ट भी यही है. इस कालसे महत्तत्व आदिके अभिमानी भेददर्शी प्राणियूको कालसे सदा भय लगा रहता है।।३६-३७।।

व्याख्यार्थ: कालके कार्यमू निविष्ट जीव कालके स्वरूपको प्राप्त हो जाता है इसको बतानेके लिये कालका कार्य और स्वरूप कहा जाता है. यह सम्पूर्ण जगत् भगवान्का रूप है. 'प्रकृतेर्गुणसाम्यस्य' इससे प्रकृतिमू चेष्टाको उत्पन्न करने वाले भगवान्को ही काल कहा है. यदि जगत्की भगवद्रूपता नहीं कही जाती तो जगत्के भगवद्रूप न होनेसे उस जगत्मू कालरूपता कैसे बता सकते? इसलिये यह जगत् भगवद्रूप है ऐसा कहा. श्रुतिमू जगत्का निरूपण दो प्रकारसे है १.आत्मत्वरूपसे और २.ब्रह्मत्वरूपसे. ''आत्मैवेदं सर्वम्'' इससे तो जगत्को आत्मा बताया है और ''ब्रह्मैवेदं सर्वम्'' इससे जगत्को ब्रह्म बताया है. सबका पोषण करने वाला होनेसे उसे 'ब्रह्म' और सर्वत्र व्यापक होनेसे उसे 'आत्मा' कहा है. इन्हींको बतानेकेलिये 'ब्रह्म' और 'आत्मा' इन दो पदूकी प्रवृत्ति हुई. यद्यपि ब्रह्म और आत्मा इन दोनूका स्वरूप तो आनन्द ही है तथापि आत्मा सप्रकार है और ब्रह्म निष्प्रकार है ऐसा अन्तर्यामी ब्राह्मण(वेदके भाग

विशेष) ये ''यस्य पृथिवी शरीरम्'' यहांसे लेकर ''यस्य आत्मा शरीरम्'' यहां तकके मन्त्रासे शरीरूके प्रकार रूपसे सिद्ध होनेके कारण आत्मा सप्रकार है और ब्रह्म ''एकमेव अद्वितीयम्'' इस श्रुतिसे निष्प्रकार है. ''अयं आत्मा ब्रह्म विज्ञानमयः'' इस श्रुतिसे आत्माको ब्रह्म बताया गया है. विचारमू तो ब्रह्म-विचारकी ही प्रतिज्ञाकी है, आत्मविचारकी नहीं. जैसे ''अथातो ब्रह्मजिज्ञासा''. जगत्के दोनू ही रूप हैं इसलिये 'ब्रह्मणः परमात्मनः' ये दो पद दिये हैं. अथवा ब्रह्म-परमात्मा-भगवान् ''ब्रह्मेति परमात्मेति भगवान् इति शब्द्यते'' इन तीन मतका यहां संग्रह किया गया है. लोकमू ऐश्वर्य आदि धर्मोंको मुख्य मानकर उनमू भगवत्व कहा है और विलक्षणताको मुख्य मानकर आत्मत्व कहा है. इसी तरह सद्रूपताको मुख्य मानकर उनमू ब्रह्मत्व कहा है. उसके कितने रूप हैं? इसकी जिज्ञासा होने पर उसे गिनाते हैं. प्रकृति और पुरुषका जो नियामक है वह 'पर' है और प्रकृतिको 'प्रधान' शब्दसे कहा है. काल अथवा भगवान् की इच्छाको 'दैव' कहा और कर्मसे 'अदृष्ट' लिया गया है. 'विचेष्टितं'से अनेक प्रकारकी चेष्टाओंसे युक्त स्वभावका ग्रहण है. और यह दिखाई देनेवाला और नहीं दिखाई देनेवाला दिव्य सारा ही जगद्रूप भेदास्पद है. इस तरह यह पर, प्रधान, पुरुष, देव, कर्म, विचेष्टित और रूप भेदास्पद दृश्यजगत् तथा नहीं दिखाई देनेवाला दिव्यजगत् यह सब 'काल' नामसे कहा गया है. क्यूंकि इन सबका आधार काल है और ये सब कालके अधीन है. कालकी कालताको सिद्ध करते हैं 'भूतानाम्'से. महत्तत्व आदि सबको जिस कालसे भय है वह 'काल' है. भेददृष्टि होना ही भयका कारण है. जो बहिर्मुख होते हैं उन्हू काल ग्रस जाता है।।३६-३७।।

आभासः कालकी उपासनाके लिए उसका आधिदैविक रूप कहते हैं:

योऽन्तः प्रविश्य भूतानि भूतैरत्त्यखिलाश्रयः।
स विष्णवाख्योऽधियज्ञोऽसौ कालः कलयतां प्रभुः।।३८।।

श्लोकार्थः जो सबका आश्रय होनेके कारण समस्त प्राणियोंमू अनुप्रवेश करके भूतोंके द्वारा ही भूतोंका संहार करता है, वह जगत्का शासन करनेवाले ब्रह्मा आदिका भी प्रभु है, वह काल ही यज्ञोंका फल देनेवाला विष्णु है।।३८।।

व्याख्यार्थ : जिसने अन्दर प्रवेश कर रखा है (यहां प्रवेश मारकरूपसे जानना चाहिये -प्रकाश). वह भगवान् काल है. वह काल कौनसा भगवान् है? इसका उत्तर देते हैं: वह भगवान् अधियज्ञ है. अर्थात् यज्ञकी अधिष्ठात्री देवता

विष्णु है. ''यज्ञो वै विष्णुः'' यज्ञ ही विष्णु है यह श्रुति इसमृ प्रमाण है. एक ही भगवान्की 'काल' यह सञ्ज्ञा और 'विष्णु' यह भी सञ्ज्ञा है. उसकी विष्णु सञ्ज्ञा कैसे है? इसका उत्तर देते हैं कि वह काल व्यापक है. उसकी व्याप्तिका निरूपण करते हुए उसके अन्तःप्रवेशका निरूपण करते हैं: जो भूतृके साथ भीतर प्रवेश करके सबका आश्रय(आधार) हो गया है. प्रविष्ट होनेके कारण तो वह भीतर व्याप्त है और आश्रय होनेसे बाहर व्याप्त है. उस कालकी कालताको कहते हैं: 'कलयतां प्रभुः'. जो आकलन(नियमन) करता है, जानता है या भक्षण करता है; अथवा क्रिया वा ज्ञान के द्वारा व्याप्त होता है वह काल है. 'कलयन्ति इति कलयन्तः, तेषां कलयतां' अर्थात् जो सबका नियन्त्रण करने वाले ब्रह्मा आादि है उनका भी यह काल नियन्ता है, नियमन करने वाला है. अतः यह काल है।।३८।।

आभास: भगवान्का यह कालरूप केवल मारनेके ही स्वभाववाला है ऐसा कहनेके लिए उसकी सर्वधारणता बताते हैं:

न चास्य कश्चिद् दयितो न द्वेष्यो न च बान्धवः।
आविशत्यप्रमत्तोऽसौ प्रमत्तं जनम् अन्तकृत्।।३९।।

श्लोकार्थ: इस कालरूप भगवान्का न कोई मित्र है, न कोई शत्रु, और न कोई इसका कुटुम्बी. यह सदा सावधान रहता है और अपने स्वरूपभूत भगवान्को भूलकर भोगरूप प्रमाद(आलस्य)मृ पडे हुए प्राणियृका संहार कर देता है।।३९।।

व्याख्यार्थ: इस कालकी कोई उपासना भी करे तो भी वह इसे प्रिय नहीं है अथवा जो इससे द्वेष करता है वह भी कालका शत्रु नहीं है. सभीकी उत्पत्ति कालमृ होती है इसलिये उस कालका किसीसे कोई सम्बन्ध विशेष न होनेसे बान्धव भी कोई नहीं है. परन्तु यह काल तो सर्वप्रकृति है. जो इस कालको देखता रहता है(कालका ध्यान रखता है) उसे यह ग्रहण नहीं करता किन्तु जो असावधान रहता है उसीको पकड़ता है. यह काल असावधान नहीं है यह अन्त करनेवाला है. 'आविशति'का अर्थ है खानेके लिये प्रमादी पुरुषके ऊपर बाघकी तरह झपटता है।।। ३९।।

आभास: इस कालकी कालताको सभी जानते हैं उस जाननेका कार्य ही तो भय है! उस भयको पांच श्लोकृसे कहते हैं:

यद् भयाद् वाति वातोऽयं सूर्यस्तपति यद् भयात्।

यद् भयाद् वर्षते देवो भगणो भाति यद् भयात्।।४०।।

यद् वनस्पतयो भीता लताश्चौषधिभिः सह।

स्वे-स्वे कालेऽभिगृह्णन्ति पुष्पाणि च फलानि च।।४१।।

श्लोकार्थः जिसके भयसे वायु चलता है, जिसके भयसे सूर्य तपता है, जिसके भयसे इन्द्र वर्षा करता है, जिसके भयसे यह खगोल प्रकाश करता है, जिसके भयसे औषधियाृके सहित लताएं सभी वनस्पतियां अपने-अपने समय पर फल फूल धारण करती हैं।।४०-४१।।

अधिकारिणो महान्तो ये ये वा मूढा अचेतनाः।

तत्त्वानि देवाः सर्वे च कालाद् भीता इतीर्यते।।का. १०।।

कारिकार्थः जो कोई बडे अधिकारी हैं, महान् हैं, अथवा जो मूढ हैं, या जो अचेतन हैं वे, तथा तत्त्व, देवता ये सब कालसे डरते हैं ऐसा कहा जाता है।।४१।।

व्याख्यार्थः जब कालके भयसे ही वायु आदि भी अपना-अपना काम करते हैं तो फिर जो प्राणी हैं वे अपने स्वधर्मको करृ इसकेलिये क्या कहा जाय!

यह वायु जिस कालके भयसे समय-समय पर चलती रहती है. सूर्य भी जिस नक्षत्र पर जितना ताप उचित है वैसा ही तपता है. मेघ अपने समय पर बरसता है, नक्षत्राृका समुदाय भी ज्योतिश्चक्रको अपने समय पर प्रकाशित करता है. अर्थात् ज्योतिश्चक्रमृ स्थित शुक्र आदि ग्रह भी अपने अधिकारके अनुसार प्रकाशित होते हैं. अत्यन्त मूर्ख जो वनस्पति और लताएं अश्वत्थ(पीपल) आदि, कुष्माण्ड आदि फल प्रधान लताएं और पुष्प प्रधान; तथा 'च'से पत्र प्रधान हैं वे भी औषधियां शाल(चांवल) आदिके साथ अपने-अपने समय पर अपने-अपने नक्षत्राृमृ, देशविशेषाृमृ कालका अतिक्रमण न करते हुए पुष्प तथा फलाृको ग्रहण करती हैं।।४०-४१।।

आभासः चेतनता रहित(जड) भी डरते हैं उसे कहते हैं:

स्रवन्ति सरितो भीता नोत्सर्पत्युदधिर्यतः।

अग्निरिन्धेत् सगिरिभिः न भूर्मज्जति यद् भयात्।।४२।।

श्लोकार्थः जिसके डरसे नदीयां बहती हैं और समुद्र भी अपनी मर्यादाका उल्लंघन नहीं करता. जिसके भयसे अग्नि जलती है और जिसके भयसे पर्वतके सहित पृथ्वी जलमृ नहीं डूबती।।४२।।

व्याख्यार्थ: नदियां भी डरती हुई बहती हैं. समुद्र पृथिवीसे ऊंचा होते हुए भी अपनी मर्यादासे आगे नहीं सरकता, अग्नि लकड़ी आदिसे जलती है. यदि भय न हो तो लकड़ी जो अग्निकी उत्पत्तिका कारण है उसे कभी न जलाती. जिसके डरसे ही पर्वतॄके सहित पृथिवी भी डूबती नहीं. 'अग्निः ज्वलति यद् भीत्या' ऐसा भी पाठ है।।४२।।

आभास: तत्त्व भी डरते हैं उसे कहते हैं:

नभो दधाति श्वसतां पदं यद् नियमाद् अदः।
लोकं स्वदेहं तनुते महान् सप्तभिरावृतः।।४३।।

श्लोकार्थ: जिस कालके नियमसे यह आकाश जीवित प्राणियॊकी श्वास-प्रश्वासकेलिए अवकाश देता है और महत्तत्त्व अहंकाररूप शरीरका सात आवरणॊसे युक्त ब्रह्माण्डके रूपमॆ विस्तार करता है।।४३।।

व्याख्यार्थ: आकाश जिस कालके नियमसे स्वर्ग आदि लोकॊके स्थानको धारण करता है ऐसा प्रसिद्ध है. अर्थात् अकाश भी(जिसका कोई आकार नहीं, जो आकाश रूप है) स्वर्ग आदि लोकॊके स्थानको धारण करता है. वेदमॆ आकाश आदिकी सृष्टि बताई है इसलिये आकाशका निरूपण किया. और पुराणॊमॆ महत्तत्त्व आदिसे उत्पत्ति बताई इसलिये उसे भी यहां कहा है. महत्तत्त्व लोकात्मक स्वदेहको ही विस्तृत करता है. प्रकृति, अहंकार और पञ्चमहाभूत इन सातसे आवृत्त अहङ्कार देहका विस्तार करते हैं।।४३।।

आभास: ब्रह्मा आदि भी डरते हैं उसे कहते हैं:

गुणाभिमानिनो देवाः सर्गादिष्वस्य यद् भयात्।
वर्तन्तेऽनुयुगं येषां वश एतत् चराचरम्।।४४।।

श्लोकार्थ: जिसके भयसे सत्त्व आदि गुणोंके नियामक विष्णु आदि देवगण, जिनके अधीन यह सारा चराचर जगत् है, अपने जगत् रचना आदि कार्योंमॆ युग क्रमसे तत्पर रहते हैं।।४४।।

व्याख्यार्थ: गुणाभिमानी देवता ब्रह्मा आदि. रजः प्रभृति गुण होते हैं. उनमॆ रजोगुणाभिमानी ब्रह्मा, सत्वगुणाभिमानी आधिभौतिक विष्णु, तमोभिमानी शिव हैं. वे भी कालके अनुसार सबकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करते हैं. प्रत्येक युगके अनुक्रमसे ये वशमॆ रहते हैं. अनेक प्रकारसे अवतार लेकर भी ये कार्य करते हैं. जिन ब्रह्मा आदिके वशमॆ यह सारा चराचर जगत् है ऐसा जिनका

माहात्म्य है।।४४।।

आभास: इस तरह कालके माहात्म्यको कहकर उसका कार्य कहते हुए उपसंहार करते हैं:

सोऽनन्तोऽन्तकरः कालो–ऽनादिरादिकृदव्ययः।
जनं जनेन जनयद् मारयन् मृत्युनाऽन्तकम्।।४५।।

श्लोकार्थ: वह अविनाशी काल स्वयं अनादि है किन्तु दूसरूका आदि कर्त्ता है. स्वयं अनन्त है किन्तु दूसरूका अन्त करनेवाला है. यह पितासे पुत्रकी उत्पत्ति करता हुआ सारे जगत्की रचना करता है और अपनी संहार शक्ति मृत्युके द्वारा यमराजको भी मार देता है।।४५।।

व्याख्यार्थ: काल स्वयं अन्तसे रहित है परन्तु सबका अन्त करनेवाला है. स्वयं अनादि है परन्तु सबका आदिकर्त्ता है. कार्य करते हुए भी विकार रहित है अर्थात् अन्य बीजमृ जैसे विकार होता है इस तरह कालमृ विकार नहीं होता. उत्पत्ति भी उसकी विचित्र है. जो स्वयं उत्पन्न होनेवाले पिता आदि हैं उन्हींसे पुत्र आदिको उत्पन्न करता हुआ और जो सबका मरणरूप मृत्यु है उससे अन्तक (यम)को भी मारते हुएकी तरह रहता है ऐसा उस कालका माहात्म्य है. अतः ऐसा ज्ञान होनेसे ही वैराग्य हो जाता है यह इससे कहा गया. जो उस कालसे भयभीत नहीं होता और इसी कालमृ रहता है उसकी गति आगे कही जायेगी।।४५।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराणके तृतीय स्कन्धके २९ वृ अध्यायकी
श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्रीसुबोधिनी टीकाका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण.

अध्याय ३०

गृहस्थीको कालसे होनेवाले दुःख

अभीतः कालकार्येषु यो मूढो वर्तते गृहे।
नदीप्रवाहे गृहवत् स 'दुःखी'ति निगद्यते।।का. १।।

कारिकार्थः जो मूढ पुरष कालके कार्योमृ भय न समझता हुआ घरमृ ही रहता है वह नदीके प्रवाहके अन्दर रहनेवाले घरकी तरह दुःखी कहा जाता है।।१।।

बहिर्मुखो हि कालस्य विषयो नात्मदर्शनः।
अतो बहिर्मुखे कालः लोकयोर्दुःखदः स्मृतः।।का. २।।

कारिकार्थः क्यृकि कालका विषय बर्हिमुख होता है, आत्मदर्शी नहीं होता, अतः बर्हिमुखको लोकमृ तथा परलोकमृ काल दुःख देनेवाला कहा गया है।।२।।

त्रिंशत्तमे तथाध्याये गृहस्थस्योभयोर्महत्।
लोकयोरुच्यते दुःखं पुनर्जन्मावधि स्फुटम्।।का. ३।।

कारिकार्थः गृहस्थको जन्मसे लेकर पुर्नजन्म पर्यन्त जो-जो महान् दुःख इस लोकमृ तथा परलोकमृ होते हैं वो तीसवृ अध्यायमृ कहे गए हैं।।३।।

अष्टादशभिराद्यन्त-मरणावधि वर्ण्यते।
पुनर्जन्मविधि परं श्लोकैः षोडशभिः पुनः।।का. ४।।

कारिकार्थः अठारह श्लोकृसे तो पहले जन्मसे लेकर मरण पर्यन्तके दुःखृका वर्णन है और उसके अनन्तर सोलह श्लोकृसे पुर्नजन्मावधि दुःखृका वर्णन है।।४।।

आभासः काल जो भगवान् विष्णु है उससे बर्हिमुख होने पर उसकी बाधकताको नहीं जानकर जो दुःख प्राप्त करता है उसे कहनेकेलिए पहले अज्ञानको कहते हैं:

श्रीभगवान् उवाच
तस्यैतस्य जनो नूनं नायं वेदोरुविक्रमम्।
काल्यमानोऽपि बलिनो वायोरिव घनावलिः।।१।।

श्लोकार्थः श्रीकपिलदेवजी कहते हैं हे माताजी! जिस प्रकार वायुसे

उडाया जानेवाला मेघसमूह वायुके बलको नहीं जानता उसी प्रकार यह जीव बलवान् कालकी प्रेरणासे भिन्न-भिन्न अवस्थाओंमें तथा योनियोंमें भ्रमण करता रहता है किन्तु उस कालके प्रबल पराक्रमको नहीं जानता।।१।।

व्याख्यार्थ: जिसे पहले सबको भय उत्पन्न करनेवाला बताया था वही यह काल है. ऐसा होने पर भी उसी कालमें उत्पन्न होता प्राणी कालके पराक्रमको नहीं जानता यह निश्चय है. शंका हो कि जब तक काल कोई बाधा न करे तब तक उसे कैसे जान सकता है. उसका निवारण 'काल्यमानोऽपि'से करते हैं. काल प्राणीको प्रेरणा करता रहता है अथवा कालसे प्राणी पीड़ित होता है उसके वशमें भी है तथापि उस कालको नहीं जानता. जिसका यदि कोई सम्बन्ध न हो उसके द्वारा पहुंचाई जानेवाली पीड़ा कदाचित् सही भी जा सकती है परन्तु इसका तो सम्बन्ध नित्य है उसको 'वायोरिव घनावलिः' इस दृष्टान्तसे समझाते हैं. जैसे मेघसमुदाय वायुके वशमें होता है उसी तरह यह जीव कालके वशमें है।।१।।

आभास: सभी कार्योंमें उसकी पीडा है उसे कहते हैं:

यं-यम् अर्थम् उपादत्ते दुःखेन सुखहेतवे।
तं-तं धुनोति भगवान् पुमान् शोचति यत् कृते।।२।।

श्लोकार्थ: सुखकी अभिलाषासे जीव जिस-जिस वस्तुको बडे कष्टसे प्राप्त करता है उसी-उसीको काल भगवान् नष्ट कर देते हैं।।२।।

व्याख्यार्थ: अपने सुखकेलिये अत्यधिक दुःखसे जिन-जिन स्त्री, घर आदि वस्तुओंको प्राणी प्राप्त करता है, उन सबको वह काल नष्ट कर देता है. इस बातको वह जानता है कि काल भगवान् है और सब कुछ करनेमें समर्थ है. शंका हो सकती है कि भगवान्की ये कौनसी लीला है कि सबको दुःख ही देते हैं! इसका समाधान करते हैं 'पुमान् शोचति यत्कृते'. जितने भी पदार्थ हैं वे सब भगवान्केलिये हैं और उनके अधीन हैं ऐसा समझकर प्राणीको चुपचाप बैठ जाना चाहिये तब भगवान् उसकेलिये ऐसा नहीं करेंगे किन्तु उनका वह शोक करता है इसलिये भगवान् उसे नष्ट कर देते हैं. इससे भगवान्में कोई दोष नहीं है यह निरूपित हुआ।।२।।

आभास: तथापि महत्पुरुषोंका ऐसा क्या कार्य है? इस पर कहते हैं:

यद् अध्रुवस्य देहस्य सानुबन्धस्य दुर्मतिः।
ध्रुवाणि मन्यते मोहाद् गृहक्षेत्रवसूनि च।।३।।

श्लोकार्थ: यह दुष्ट बुद्धिमोहसे इस नश्वर देहके सम्बन्धी पुत्र, पौत्र आदिके सहित घर, खेत, धन इन सबको ध्रुव मानता है।।३।।

व्याख्यार्थ: जीवको वैराग्य हो इसकेलिये भगवान् ऐसा करते हैं. क्यूंकि यह जीव नश्वर शरीरके सम्बन्धी पुत्रादि और उनके सम्बन्धी घर, व्रीहि आदि खेत तथा धन इनको कभी नष्ट न होनेवाले मानता है और उनके पीछे अपनी आयुको व्यर्थ ही नष्ट करता है. इसीलिये तो इसे दुर्मति बताया है. देहसे सम्बन्धित पदार्थोंको प्रमाणके द्वारा ध्रुव नहीं मानता किन्तु मोहसे ऐसा मानता है. अतः इस मोहको दूर करनेकेलिये भगवान् वैराग्य कराते हैं।।३।।

आभास: शंका होती है कि धन आदिको दूर करनेकी क्या आवश्यकता है नीच योनिमूं जब उत्पन्न हो जाएगा तो अपने आप विरक्त हो जाएगा! इसका उत्तर देते हैं:

जन्तुर्वै भव एतस्मिन् यां-यां योनिम् अनुव्रजेत्।
तस्यां-तस्यां स लभते निर्वृतिं न विरज्यते।।४।।

श्लोकार्थ: इस संसारमूं यह जीव जिस-जिस योनिमूं जन्म लेता है, उसीमूं आनन्द मनाने लगता है और उससे विरक्त नहीं होता।।४।।

व्याख्यार्थ: स्वभावसे उत्कर्ष और अपकर्ष से रहित इस संसारमूं स्वयं प्राणी जिस-जिस योनिमूं, जैसे कुत्तेकी या सूअरकी योनिमूं कर्मवशसे जाता है उसीमूं वह सुखको प्राप्त करता है. उस योनिमूं भी उसे स्त्री, अन्न, नींद प्राप्त हो जाती है, जिस तरह राजशरीरमूं अथवा इन्द्रशरीरमूं प्राप्त होती है. अतः उसे वैराग्य नहीं होता इसलिये नीचयोनिके सम्बन्धसे वैराग्य नहीं हो सकता है।।४।।

आभास: कर्मके द्वारा जब नरक प्राप्त होगा तो उसके दारुण दुःखको देखकर वैराग्य हो जाएगा! ऐसी आशंका करके कहते हैं:

नरकस्थोऽपि देहं वै न पुमांस्त्यक्तुम् इच्छति।
नारक्यां निर्वृतौ सत्यां देवमाया-विमोहितः।।५।।

श्लोकार्थ: भगवान्की मायासे यह जीव ऐसा मोहित हो रहा है कि कर्मवश नारकीय योनिमूं जन्म लेने पर भी वहांके भोगोमूं ही सुख माननेकेकारण उसे भी छोडना नहीं चाहता।।५।।

व्याख्यार्थ: कुम्भीपाक आदि नरक कहे गये हैं. उन नरकमूंके नारक देहमूंका भी निरूपण किया है. वैसे देहमूंको भी वे छोड़ना नहीं चाहते. नरक

सम्बन्धी जो सुख, नरकमृ मज्जा आदिका भक्षण ही सुख है. जैसे अपवित्र खड्डेमृ कीड़े आदिका भोजन होता है. अतः उस देहमृ उसे सुख होनेसे उस देहके चले जाने पर वह सुख भी चला जायेगा. इस भयसे उस नारकीय शरीरको भी छोड़ना नहीं चाहता. वह दुःखदायी है यह तो प्रत्यक्षसिद्ध है. फिर उसमृ संतोष(सुख) कैसे होता है? इस आशंका पर कहते हैं 'देवमाया विमोहितः'. मायासे मोहित है इसलिये वह दुःखको ही सुख मानता है. अर्थात् तीव्र वेदनाको भी सुखरूपसे मानता है. मायाका माहात्म्य ही ऐसा है इसको बतानेकेलिये 'देव' पद दिया है. अर्थात् वह देवमाया है इसलिये वह सबको मोहित करनेमृ समर्थ है।।५।।

आभासः यदि ऐसी आशंका हो कि इस मनुष्य जन्ममृ पुत्र-स्त्री आदि अपने पोष्य वर्ग जब दुःख द्गे तो वैराग्य हो जाएगा! इस शंकाका उत्तर देते हैं:

आत्मजाया-सुतागार-पशु-द्रविण-बन्धुषु।
निरूढ-मूल-हृदय आत्मानं बहु मन्यते।।६।।

श्लोकार्थः यह मूर्ख अपने शरीर, स्त्री, पुत्र, घर, पशु, धन और बंधु-बांधवामृ अत्यन्त आसक्त होकर उनके सम्बन्धमृ अनेक प्रकारके मनोरथ करता हुआ अपनेको बहुत भाग्यशाली मानता है।।६।।

व्याख्यार्थः आत्मा(देह), जाया(स्त्री), सुत(पुत्र), आगार(घर), पशु, धन और कुटुम्ब इस तरह यह छः अंगवाली प्राकृत आत्मा है. अङ्गसहित इस आत्मा(देह)मृ जम गया है मूल जिसका उस प्रकारके अन्तःकरणवाला होकर इन सबके भारसे दबा जाता हुआ, दुःख पाता हुआ भी अपनेको बहुत कृतार्थ मानता है. अतः उनसे वैराग्य होना तो दूर रहा, उनमृ तो अत्यन्त अनुराग ही होता है. इसलिये स्त्री-पुत्र आादिसे विरक्त होनेकी बात असम्भव है।। ६।।

आभासः यदि भार्या, पुत्र आदिसे वैराग्य नहीं होता है तो ऐसा मानना चाहिए कि वे सुखदायी ह्गे! उस पर कहते हैं:

सन्दह्यमान-सर्वाङ्ग एषाम् उद्वहनाधिना।
करोत्यविरतं मूढो दुरितानि दुराशयः।।७।।

श्लोकार्थः इनके पालन-पोषणकी चिन्तासे इसके सम्पूर्ण अंग जलते रहते हैं तथापि दुर्वासनाओ्से दूषित हृदय होनेके कारण यह मूढ निरन्तर इन्हींकेलिए अनेक प्रकारके पाप करता रहता है।।७।।

व्याख्यार्थः इन भार्या आदि 'उद्वहन' अर्थात् पोषण, उसकेलिये जो

मानसिक चिन्ता है उससे इसके सारे अङ्ग जलते रहते हैं. केवल इसी लोकमॄ इसको दुःख प्राप्त होता है ऐसी बात नहीं किन्तु परलोकमॄ भी इसे दुःख ही प्राप्त होगा उसको 'करोत्यविरतं' आदिसे कहा है. यह सर्वदा मूर्ख होता हुआ कर्म करता है. यह शास्त्रॄके बाधकवाक्यॄका तो विचार करता नहीं और स्वतः भी इसका अन्तःकरण शुद्ध नहीं है इसलिये दूषित प्रकारसे धनोपार्जन आदि करता है तथा इन्द्रिय सम्बन्धी पाप करता है।।७।।

आभास: इतना करने पर भी इन्हॄ ऐहिक(इस लोकके) सुखकी प्राप्ति नहीं होती उसे तीन श्लोकॄसे बताते हैं:

आक्षिप्तात्मेन्द्रियः स्त्रीणाम् असतीनां च मायया।
रहोरचितयालापैः शिशूनां कलभाषिणाम्।।८।।

श्लोकार्थ: व्यभिचारिणी स्त्रियॄ द्वारा एकान्तमॄ सम्भोगादिके समय बताये गए कपटरूपी पूर्णप्रेममॄ तथा छोटे बच्चॄकी मीठी-मीठी तोतली बातॄमॄ मन और इन्द्रियॄके फंस जानेमॄ सुख मानता है।।८।।

व्याख्यार्थ: व्यभिचारिणी स्त्री इस लोक और परलोक को नष्ट करनेवाली होती है. उन्हॄ 'असती स्त्री' कहा जाता है. असती स्त्रियॄकी माया(कपट) जो पुरुषॄको ठगनेकेलिये की जाती है उससे आत्मा और इन्द्रियां स्त्रीके वशमॄ हो जाती हैं. स्त्रीसुख सब सुखॄमॄ प्रधान है. वह सुख पराधीन इन्द्रियॄसे प्राप्त नहीं होता. स्त्रीके द्वारा जो माया की गई है वह माया भगवान्के भजनसे कभी दूर नहीं होती. क्यॄकि स्त्रीकी मायाका असर एकान्तमॄ उसकी सम्भोगादि सम्बन्धी बातॄसे हुआ है. अतः उस मायाका असर भगवान्की एकान्तभक्तिसे ही दूर हो सकता है. और इस प्रकारकी एकान्तभक्ति गृहस्थसे हो नहीं सकती क्यॄकि उसका सम्बन्ध तो स्त्रीसे बना ही रहेगा तो वह मायाका उल्लंघन कैसे कर सकता है? और अस्पष्ट (तोतले) बोलनेवाले बच्चॄके आलापसे इन्द्रियां और आत्मा वशमॄ हो जाती है. जब आत्मा और इन्द्रियां अपने अधीन नहीं हैं तो उनसे ऐहिक (लौकिक) सुख कभी हो नहीं सकता।।८।।

आभास: परलोकमॄ भी उसे सुख प्राप्ति नहीं होगी उसे कहते हैं:

गृहेषु कूटधर्मेषु दुःखतन्त्रेष्वतन्द्रितः।
कुर्वन् दुःखप्रतीकारं सुखवद् मन्यते गृही।।९।।

श्लोकार्थ: गृहस्थ पुरुष घरके दुःखप्रधान कपटपूर्ण कर्मोंमॄ लिप्त हो

जाता है. उस समय बहुत सावधानी करने पर यदि उसे किसी दुःखका प्रतिकार(उपाय) करनेमॅ सफलता मिल जाती है तो उसे ही वह सुख जैसा मान लेता है।।९।।

व्याख्यार्थः लोकमॅ यद्यपि ऐसी प्रसिद्धि है कि घर धर्मप्रधान है परन्तु वहां जो धर्म है वह कपटरूप ही है जिसे हम छलधर्म या धर्माभास कह सकते हैं. गृहस्थ पुरुष जो अपनी प्रतिष्ठाकेलिये लोगॉके सामने ही केवल अपनी उदारताको प्रकट करता है किन्तु घरपर आये हुए अतिथिको कभी जल भी नहीं पिलाता उसे तो धर्माभास ही कहा जायगा. कपटधर्म दुःखतन्त्र होता है अर्थात् दुःख ही उसका परिकर होता है. कपटधर्मसे इस लोकमॅ तो दुःख होता ही है, परलोकमॅ भी दुःख होता है. कपटधर्ममॅ ही वह सावधान रहता है. स्त्रियॉके अर्थमॅ तथा धर्ममॅ महान् कार्य करके उन स्त्रियॉके निवास स्थानमॅ जब आता है तो जैसे प्यासके कारण जिसके प्राण निकले जाते ह्यॅ वह किसी तरह पानी पीकर अपनी आत्माको सुखी और कृतार्थ मानता है इसी तरह दुःखकेलिये किये गये उपायसे न दुःख दूर होता है और न सुख मिलता है, परन्तु दुःखके प्रतीकार(उपाय)को ही सुख जैसा मान लेता है. यहां सुने हुए अथवा अन्यगत सुखको ही सुख समझता है. 'गृही' कहनेका तात्पर्य है: घरके भारसे दबा हुआ. जैसे सिरके भारसे पीडित भारके हट जाने पर अपनेको सुखी मानता है अथवा अत्यन्त प्यासा मनुष्य जल पीकर अपनेको सुखी मान लेता है ठीक यही स्थिति गृहस्थकी है।।९।।

आभासः हो सकता है कि इहलोक और परलोक दोनॉमॅ सुखका अभाव हो पर दुःख भी तो नहीं होगा, इसलिए घर अत्यन्त निन्दित नहीं है ऐसी आशंका करके कहते हैं:

अर्थैर् आपादितैर् गुर्व्या हिंसयेतस्ततश्च तान्।
पुष्णाति येषां पोषेण शेषभुग्यात्यधः पुमान्।।१०।।

श्लोकार्थः जहां-तहां भयंकर हिंसावृत्तिके द्वारा धन इकट्ठा कर यह ऐसे लोगॉका पोषण करता है जिनके पोषणसे नरकमॅ जाता है. स्वयं तो उनके खाने-पीनेसे बचे हुए अन्नको ही खाकर रहता है।।१०।।

व्याख्यार्थः जहां-तहां अपनॉ या परायॉ की भयङ्कर हिंसासे सम्पादित धनसे उन पुत्रादिकॉका पोषण करता है जिनके पोषणसे नरकमॅ जाता है. अनेक प्रकारके नरकॉमॅसे वह कुटुम्बका पोषण करनेवाला सामान्यरूपसे रौरव नामक

नरकमृ गिरता है ऐसा कहा है. ''जो राजाका प्रतिग्रह(दान) लेता है, जो लोभी और जो शास्त्रके विरुद्ध आचरण करता है वह क्रमसे तामिस्र, अन्धतामिस्र आदि इक्कीस प्रकारके नरकामृ जाता है'' इत्यादि अनेक मनुजीके वाक्य हैं. ''जो तुलादान लेता है वह ऋत्विजाृके सहित महा भयङ्कर कुम्भीपाक नरकमृ पड़ता है, जहांसे कोई पुनः लौटता नहीं'' इत्यादि सैकड़ाृ वाक्य हिंसा विना उपार्जित धनमृ भी कहे गये हैं तो फिर जो घातक हैं उनकेलिये क्या कहा जाय! अतः धनके द्वारा पुत्रादिकाृके पोषणसे तो सर्वथा नरकमृ जाता है. इस लोकमृ उसे भोगकी प्राप्ति भी नहीं होती क्याृकि वह तो उनका बचाखुचा अन्न खाता है. ब्राह्मण आदिको मारकर स्त्रियाृके मलनिवृत्ति(मल त्याग)के स्थानको बनानेवाले भी दुनियामृ देखे जाते हैं. उनकेलिये तो क्या यहलोक और क्या परलोक होगा! 'पुमान्' शब्द इस बातको बताता है कि वह समर्थ होते हुए भी नष्ट होता है. अर्थात् स्त्री हो तो उसे असमर्थ भी मान ली जाय पर पुरुष तो असमर्थ नहीं है! 'पुमान्'की जगह 'स्वयम्' ऐसा भी पाठ है. उस पाठमृ ऐसा अर्थ होगा कि हिंसा आदिसे धनोपार्जन कर कुटुम्बका पोषण करनेसे नरकमृ स्वयं ही जाएगा. पुत्र आदि नरकमृ नहीं जायृगे।।१०।।

आभास: इस तरह सामर्थ्य होते हुवे भी धर्म या भोग सिद्ध नहीं हुआ ऐसा कहा गया तब असामर्थ्यमृ तो निश्चितरूपसे नरक अथवा भोगाृका अभाव होगा ही, यह दो श्लोकाृसे कहते हैं:

वार्तायां लुप्यमानायाम् आरब्धायां पुनः-पुनः।
लोभाभिभूतो निःसत्त्वः परार्थे कुरुते स्पृहाम्।।११।।

श्लोकार्थ: बार-बार प्रयत्न करने पर भी जब इसकी जीविका नहीं चलती हो (तब) तो वह लोभवश अधीर हो जानेसे दूसरेके धनकी इच्छा करने लगता है।।११।।

व्याख्यार्थ: प्रायः यह गृहस्थ आजीविकाजीवी है. उस आजीविकाका कालवशसे बार-बार आरम्भ करने पर यदि विनाश हो जाता है तो बिना धनके पोषण सिद्ध नहीं होता इसलिये लोभसे दबकर विवेक-धैर्यको खो बैठता है और श्रेष्ठ पुरुषाृके धनकी, गुरुधनकी तथा देवधनकी प्राप्तिकी इच्छा करता है, अर्थात् इनका धन कैसे चुराया जाय ऐसा सोचता है. परन्तु उस धनकी प्राप्ति होना तो दुर्लभ है इसे सूचित करनेकेलिये 'स्पृहा' ऐसा शब्द दिया है. वह केवल इच्छा ही

करता है. इससे पारलौकिक महान् दुःखको कहा।।११।।

आभास: उसे इस लोकका भी सुख नहीं मिलता उसे कहते हैं:

कुटुम्ब–भरणाकल्पो मन्द–भाग्यो वृथोद्यमः।
श्रिया विहीनः कृपणो ध्यायन् श्वसिति मूढधीः।।१२।।

श्लोकार्थ: मन्दभाग्यके कारण जब इसका कोई प्रयत्न नहीं चलता और यह मन्दबुद्धि धनहीन होकर कुटुम्बके भरण–पोषणमृ असमर्थ हो जाता है तब अत्यन्त दीन और चिन्तातुर होकर लंबी–लंबी सांसे छोडने लगता है।।१२।।

व्याख्यार्थ: जीविकामृ बार–बार आघात पहुंचने पर कुटुम्बके पोषणमृ असमर्थ हो जाता है. भाग्यसे भी उसे धन प्राप्ति नहीं होती, क्यृकि मन्दभाग्य है. इसलिये उसका स्वल्प उद्यम भी व्यर्थ हो जाता है. वह सब तरहसे धन और कान्ति से हीन होता है. किससे मांगना, किससे न मांगना इसका उसे विचार नहीं होता. वह अति दीन हो जाता है. केवल चिन्ता करता है और लम्बी सांस छोड़ता है, क्यृकि यह तो मूर्खबुद्धि है और परलोकको सुधारनेकेलिये कोई यत्न नहीं करता।।१२।।

आभास: इस तरह स्वतः सुखके अभावको और दुःखको कहकर दूसरोंके द्वारा किये जानेवाले सुखके अभावको और दुःखको कहते हैं:

एवं स्वभरणाकल्पं तत्कलत्रादयस्तथा।
नाद्रियन्ते यथापूर्वं कीनाशा इव गोजरम्।।१३।।

श्लोकार्थ: इसे अपने पालन–पोषणमृ असमर्थ देखकर स्त्री–पुत्र आदि इसका पहलेके समान आदर नहीं करते, जैसे दुष्ट किसान बूढे बैलकी उपेक्षा करता है।।१३।।

व्याख्यार्थ: जब स्वयंके पोषणमृ भी असमर्थ होता है तो उसके स्त्री आदि पूर्वकी तरह आदर भी नहीं करते. उसे खाने आदिको भी नहीं देते. इसमृ दृष्टान्त कहते हैं: दुष्ट किसान बूढे बैलका आदर नहीं करते, उसे घास आदि नहीं खिलाते और न उसे छायामृ बांधते हैं. यह दृष्टान्त अनुभवकेलिये दिया है।।१३।।

आभास: इतना अपमान होने पर भी उसे वैराग्य नहीं होता उसे कहते हैं:

तत्राप्यजातनिर्वेदो म्रियमाणः स्वयंभृतैः।
जरयोपात्तवैरूप्यो मरणाभिमुखो गृहे।।१४।।

श्लोकार्थ: इतना होने पर भी इसे वैराग्य नहीं होता. जिन्हृ उसने स्वयंने

पाला था वे ही अब उसका पालन करते हैं. वृद्धावस्थाके कारण इसका रूप विकृत हो जाता है और मरणोन्मुख होकर घरमृ पड जाता है।।१४।।

व्याख्यार्थ: पहले जिनको पाला था अब उनसे यह पाला जाता है, यह अवैराग्यका कारण है. इससे निरभिमान होकर रहता है. दोषृकेलिये अभिमानका नाश कहा है. उसके मरणके आवश्यक लक्षण भी प्रकट हो गये हैं. उन्हृ 'जरयोपात्तवैरूप्य:'से कहते हैं. शरीरपर झुर्रियृका पडना, बालृका सफेद हो जाना आदि विरूपताके कारण हैं. तब यह मरणके उन्मुख हो जाता है यह निश्चय है।।१४।।

आस्तेऽवम् अत्योपन्यस्तं गृहपाल इवाहरन्।
आमयाव्यप्रदीप्ताग्नि: अल्पाहारोल्पचेष्टित:।।१५।।

श्लोकार्थ: इसका शरीर रोगग्रस्त हो जाता है, अग्नि मन्द पड जाती है, भोजन और पुरुषार्थ दोनृ ही कम हो जाते हैं और स्त्री-पुत्रादिसे अपमानपूर्वक दिए गए टुकडृको स्वयं लेकर कुत्तेकी भांति खाता है।।१५।।

व्याख्यार्थ: तब भी घरमृ ही रहता है. अपमानसे दिये हुए भात आदिको कुत्तेकी तरह स्वयं लेकर खाता हुआ भी घरमृ ही रहता है. इस तरह बाह्यक्लेश (बाहरके दुख)को कहकर अब आन्तरक्लेश(अन्दरके दु:ख)को कहते हैं. 'आमयावी' वह रोगवाला अथवा जिसे अन्न नहीं पचता ऐसा अजीर्ण रोगी हो जाता है, क्यृकि उसकी अग्नि प्रदीप्त(तेज) नहीं होती. तब अल्पाहार होता है. इससे यह सूचित हुआ कि वह न तो भोग भोग सकता है और न पुरुषार्थ कर सकता है. उसकी चेष्टा भी अल्प(थोड़ी) हो जाती है. इससे अपने सिद्ध करण(इन्द्रियां) भी सुख नहीं दे सकते ऐसा कहा।।१५।।

आभास: अतिक्लेशको कहते हैं:

वायुनोत्क्रमतोत्तार: कफ-संरुद्ध-नाडिक:।
कासश्वास-कृतायास: कण्ठे घुरघुरायते।।१६।।
शयान:परिशोचद्भि: परिवीत: स्वबन्धुभि:।
वाच्यमानोऽपि न ब्रूते कालपाशवशं गत:।।१७।।

श्लोकार्थ: मृत्युका समय निकट आने पर वायुके उत्क्रमणसे इसकी आंखोंकी पुतलियां चढ जाती हैं. श्वासकी नली कफसे रुक जाती है, जिससे इसे खांसने और श्वास लेनेमृ बडा कष्ट होता है और कण्ठमृ घुर-घुरकी आवाज होने

लगती है. यह अपने शोकातुर बंधु-बांधवोसे घिरा हुआ सोया रहता है. मृत्युपाशके वशीभूत हो जानेसे उनके बुलाने पर भी नहीं बोल सकता है ।।१६-१७।।

व्याख्यार्थ: 'वायुनोत्क्रमतोत्तारः'का तात्पर्य है कि देहका परित्याग करके ऊपरकी ओर जाते हुए प्राणसे आंखकी पुतलियां ऊपर चढ़ जाती हैं. ऐसा होनेका कारण यह है कि कफसे उसकी नाड़ियां रुक जाती हैं. वैसे वायुसे अर्थात् वायुके मार्गमे जब कफसे उस वायुका मार्ग रुक जाता है तो वह वायु कभी मुखसे तो कभी नाकसे निकलना चाहता है, किन्तु मार्गके रुक जानेसे निकल नहीं सकता. तब वह विचार करता है कि मैं कफरहित मार्गसे चला जाऊं, इसलिये नेत्रमे आघात करता है(चोट पहुंचाता है). तब पुरुषकी पुतलियां ऊपर चढ़ जाती हैं. यह खेद जो लोकदृष्टिसे दीखता है उसका निरूपण किया. उसे जो दुःखका अनुभव होता है उसे 'कास(खांसी)-श्वास कृतायासः'से कहते हैं. खांसी और श्वास ये दोन रोगविशेष हैं. उनसे उसे बहुत कष्ट होता है. इतना होते हुए भी उसे वैराग्य नहीं होता. 'घुर-घुर' यह वायुका अनुकरण शब्द है, अर्थात् घुर-घुरकी तरह आचरण करता है. यह शब्द ग्रामसूकर(गांवके सूअर)के अनुकरणका है. इससे इसकी दुर्गति सूचित हुई. इतना होने पर भी घरमे ही सोया रहता है. शोक करते हुए बन्धुओसे चारो ओर घिरा रहता है ऐसा लौकिकव्यवहार भी है. इस प्राणीने व्यर्थ ही अपनी आत्माको नष्ट किया. इसलिये ही मानो वे इसका शोक करते हैं. यदि कोई कृतार्थ हो तो उसका कोई शोक नहीं करता. हे पिता! ऐसा पुकारने पर भी कालके पाशमे जकड़ा हुआ होनेके कारण वह बोल नहीं सकता।।१६-१७।।

आभास: इस तरह उसकी सब अवस्थाको कहकर अब मुख्य जो मरण है उसे कहते हैं:

एवं कुटुम्ब-भरणे व्यापृतात्माजितेन्द्रियः ।
म्रियते रुदतां स्वानाम् उरुवेदनयाऽस्तधीः।।१८।।

श्लोकार्थ: इस प्रकार जो मूढ(मूर्ख)पुरुष इन्द्रियोको न जीतकर निरन्तर कुटुम्बपोषणमे ही लगा रहता है, रोते हुए स्वजनोके बीच वह अत्यन्त वेदनासे अचेत होकर मृत्युको प्राप्त होता है।।१८।।

व्याख्यार्थ: कुटुम्बके पोषणमे जिसने चित्तको लगा रखा है इससे इस

लोकके खेदको बताया और 'अजितेन्द्रियः' पदसे आगे खेद प्राप्ति होगी यह बताया है. दूसरोंके द्वारा लिया जानेवाला जो भगवन्नाम है उसे भी वह नहीं सुनता क्योंकि उसके कुटुम्बी रोते रहते हैं. उसमें वह सुनाई नहीं देता और अत्यन्त वेदनाके कारण स्वयं भगवान्का स्मरण नहीं कर सकता. बुद्धिहीन होकर मर जाता है. प्राणोंका परित्याग कर देता है. इस कथनसे(बुद्धिके नष्ट हो जानेसे) उसकी अठारह विद्याएं व्यर्थ हो जाती हैं, यह बात कही गई।।१८।।

आभास: अठारह श्लोकोंसे इस लोकके दुःखोंका वर्णन किया. अब सोलह श्लोकोंसे परलोकके दुःखोंको कहते हैं:

यमदूतौ तदा प्राप्तौ भीमौ सरभसेक्षणौ।
स दृष्ट्वा त्रस्तहृदयः शकृद् मूत्रं विमुञ्चति।।१९।।

श्लोकार्थ: जब उसे लेनेकेलिए अति भयंकर और रोषयुक्त नेत्रोंवाले जो यमदूत आते हैं उन्हें देखकर वह भयके कारण मलमूत्रका परित्याग करता है।।१९।।

व्याख्यार्थ: प्राण त्यागके समय यदि शुद्ध हो तो पुत्र आदिके द्वारा किये हुए संस्कारोंसे भी सिद्धि हो जाये परन्तु ऐसा न होनेसे यमदूतोंके आने पर डर जाता है और उनको देखकर भयभीत हृदय होता हुआ मल-मूत्रका परित्याग करता है. जैसे ही प्राण निकले कि उसी समय ऐसा होता है, इसलिये शौच आदिमें विलम्ब नहीं होती।।१९।।

आभास: पुण्यके अभावसे और तृणजलौकाकी तरह देहका सम्बन्ध होनेसे यमसे निर्मित यातनादेह जो उन यमदूतके द्वारा लाया गया था, अपने देहपरित्यागके अनन्तर ही उसे ग्रहण करता है उसे कहते हैं:

यातनादेह आवृत्य पाशैर्बद्ध्वा गले बलात्।
नयतो दीर्घम् अध्वानं दण्ड्यं राजभटा यथा।।२०।।

श्लोकार्थ: वे यमदूत उसे यातनादेहमें डाल देते हैं और फिर जिस प्रकार राजपुरुष(सिपाही) किसी अपराधीको ले जाते हैं उसी प्रकार उसके गलेमें रस्सी बांधकर हठात्(जबरदस्ती) यमलोककी लम्बी यात्रामें उसे ले जाते हैं।।२०।।

व्याख्यार्थ: अपान मार्गसे जिसके प्राण निकलते हैं उसे वे यमदूत यातना देहमें रोककर आज्ञाकारीको भी जबरदस्ती पाशोंसे गलेमें बांधकर लम्बे रास्तेमें उसे ले जाते हैं. यहां 'यातना' पदसे देहसे सम्बन्ध क्लेशका ही निरूपण है. शंका

हो कि बांधके क्यॄ ले जाते हैं क्यॄकि नरक तो बादमॄ होता है! इसका उत्तर देते हैं 'दण्ड्यं राजभटा यथा'. जो प्रवृत्तिमार्गमॄ स्थित हैं, उन सबको ही यमदूत ले जाते हैं. उनमॄ जो दण्डनीय होता है उसे बांधकर ले जाते हैं. दण्डका ज्ञापक बन्धन है, जैसे किसी अधिकारीको भी राजपुरुष ले जाते ही हैं परन्तु जो दण्डनीय होता है उसे बांधकर ले जाते हैं।।२०।।

आभास: मार्गमॄ भी यमदूतॄसे दिए जानेवाले क्लेशको चार श्लोकॄसे कहते हैं. यह चार प्रकारके पुरुषार्थोंको नष्ट करनेवाला है. इसलिए मार्गमॄ इन चार श्लोकॄके द्वारा क्लेशका निरूपण है:

तयोर् निर्भिन्नहृदय: तर्जनैर् जातवेपथु: ।
पथि श्वभिर्भक्ष्यमाण आर्तोऽघं स्वम् अनुस्मरन्।।२१।।

श्लोकार्थ: उनके धमकानेसे उसका हृदय फटने और शरीर कांपने लगता है. मार्गमॄ उसे कुत्ते नोचते हैं. उस समय वह अपने पापॄको याद करके व्याकुल हो उठता है।।२१।।

व्याख्यार्थ: पुण्य और पाप के अधिष्ठातारूप दोनॄ दूत. पुण्यके भी न करनेसे प्रथम दूत क्रोध करता है और पापके करनेसे दूसरा क्रोध करता है. दोनॄसे उसका हृदय फटता है. 'तयोः' पदसे उनका स्वरूप ही ऐसा है कि जिसके देखनेसे भय हो जाय इसकेलिये ही यहां षष्ठीका निर्देश है. महाभयसे ही हृदय फटने लगता है अथवा उनके धमकानेसे. वाणीके दण्डनपूर्वक ताड़न करना(धमकाना-डराना-फटकारना) तर्जन कहलाता है. 'वेपथुः' अर्थात् कम्प जिसे हो रहा है. दिन और रात्रि की अभिमानिनी देवता जो विकर्मकी साक्षिणी हैं, वे ही श्वान (कुत्ते) हैं, वे मार्गमॄ उसे नोचते हैं. रोगसे पीड़ितकी तरह व्याकुल होता है. देवताके सान्निध्यसे उसे पहलेका ज्ञान उत्पन्न हो जाता है जिससे वह अपने पापॄको याद करने लगता है यह इससे ज्ञापित होता है. जिस क्षण प्राण निकलते हैं उसी समयसे उसे क्लेश होता है. इसलिये मार्गमॄ कुत्तॄका नोचना यहां बताया है।।२१।।

आभास: मार्गमॄ होनेवाले अन्य दु:खॄको भी कहते हैं:

क्षुत्तृट्-परीतोऽर्कदवानलानिलै: सन्तप्यमान: पथि तप्तवालुके ।
कृच्छ्रेण पृष्ठे कशया च ताडित: चलत्यशक्तोऽपि निराश्रमोदके।।२२।।

श्लोकार्थ: भूख-प्यास उसे बेचैन कर देती है तथा धूप, दावानल और

लूसे वह दुःखी हो जाता है. ऐसी अवस्थामृ जल तथा विश्रामस्थानसे रहित तपी हुई रेतीवाले मार्गमृ जब उसे ले जाया जाता है उस समय उसकी चलनेकी शक्ति नहीं रहती तब यमदूत उसकी पीठपर कोडेका प्रहार करते हैं तब उसे चलना ही पडता है।।२२।।

व्याख्यार्थ: भूख और प्यासका सम्बन्ध यातनासे है, अतः भूख-प्याससे युक्त होकर, अर्क(सूर्य), दव(वनकी अग्नि), अनिल(वायु, लू) इनसे अत्यधिक तप जाता है. सब तरहसे क्लेशका निरूपण किया जाता है. इस तरह अन्तःस्थितकृत ताप और बहिःस्थितकृत तापका वर्णन किया. अब मार्गकृत तापका भी वर्णन करते हैं. मार्गमृ सर्वत्र रेत ही रेत है और वह भी तपी हुई है. उस रेतपर बड़ी कठिनतासे चलता है. इससे मार्गकृत पीड़ाके अनुभवका निरूपण किया. उसे अत्यधिक वेदना तो नहीं होती होगी? ऐसी आशंका करके कहते हैं कि ताड़नाके द्वारा उसे अत्यधिक पीड़ा होती है उसी ताड़नाको 'पृष्ठे कशया च ताडितः'से कहते हैं. उसकी पीठपर चाबुकका प्रहार किया जाता है. यहां वेत्र (बेंत) ताड़ना करना मुख्य है, क्यृकि उन दोनृ यमदूतृकेलिये यह सहज है. घोड़ृके ऊपर जिससे प्रहार करते हैं उसे कशा(चाबुक) कहते हैं. उससे भी उसको ताड़ित करते हैं. 'निराश्रमोदके'का तात्पर्य है कि दोनृ यमदूत जिस मार्गसे उसे ले जाते हैं उस मार्गमृ घर अथवा वृक्षकी छाया नहीं है और न जल है।।२२।।

आभास: गमनके साधनृकी क्लेशरूपताका वर्णन करके उसकी गति (गमन या चाल)भी बहुत दुःख पूर्ण है इसे कहते हैं:

तत्र-तत्र पतन् श्रान्तो मूर्च्छितः पुनरुत्थितः।
यथा पापीयसा नीतः तरसा यमसादनम्।।२३।।

श्लोकार्थ: वह जहां-तहां थककर गिर जाता है, मूर्च्छा आ जाती है, चेतना आने पर फिर उठता है. इस प्रकार अति दुःखपूर्ण उस मार्गमृ जैसे वधिक(शिकारी) वध्य(शिकार)को ले जाते हैं उस तरह उसे यमपुरीमृ ले जाते हैं।।२३।।

व्याख्यार्थ: पेड़-पेड़पर गिरनेसे थक जाता है और अतिवेदनासे मूर्च्छित हो जाता है. यातनादेह होनेके कारण मूर्च्छासे पुनः उठता है. उस तरह ले जानेमृ तारतम्यको बताते हुए हेतु कहते हैं. जैसे घातक(जल्लाद)के द्वारा वध करनेकेलिये जंगलमृ ले जाया जाता है अथवा बाघ आदिके द्वारा वधकेलिये ले जाया जाता

है. वह जिस तरहके पापसे युक्त होता है अथवा जैसा पापी अपने कियेहुए पापसे युक्त होता है, उसका अपने किये हुए पापके अनुसार जो देह उत्पन्न होता है उसको वैसा ही घातक उसी प्रकारके वेगसे यमलोकको ले जाया जाता है. इस तरह पापकी अधिकता एवं कमीसे स्वल्प(थोड़ा) एवं अधिक दुःखका निरूपण है।।२३।।

आभास: बहुत दूर शीघ्रतासे ले जाया जाता हुआ क्लेशको प्राप्त होता है तथा प्रकारकृत क्लेश भी होता है उसे कहते हैं:

योजनानां सहस्राणि नवतिं नव चाऽध्वनः।
त्रिभिर् मुहूर्तैर्द्वाभ्यां वा नीतः प्राप्नोति यातनाः।।२४।।

श्लोकार्थ: यमलोकका मार्ग निन्यानवें हजार(९९०००) योजन है. इतने लम्बे मार्गमृ उसे दो या तीन मुहूर्तमृ ही वे यमदूत ले जाते हैं. जिससे उसे बहुत यातना प्राप्त होती है।।२४।।

व्याख्यार्थ: कर्मभूमिसे यातना स्थानकी दूरी एक लाखमृ एक हजार कम (निन्यानवें हजार) है. उसीको 'नवतिं नव चाऽध्वनः'से कहा है. भूमिका भाग भी उतना ही है. 'अधस्ताद् भूमेः' इस वचनसे एक हजार योजनका उसका नीचेका भाग है अथवा यातना भूमिसे पूर्व है. यह वराहकल्पके अनुसार कहा गया है. ब्रह्मकल्पसे भी यह विरुद्ध नहीं है. यदि पाप थोड़ा होता है तो तीन मुहूर्तमृ उसे कर्मभूमिसे यातनाभूमि तक ले जाते हैं और यदि पाप अधिक हो तो दो ही मूहूर्तमृ ले जाते हैं. इतनी दूरी पर इतने समयमृ ले जानेके कारण उसे यातनाएं होती हैं और पापानुसार उतना दुःख प्राप्त करता है।।२४।।

आभास: वहां प्रकीर्ण(फुटकल) पापृका, पापृके अनुसार तीन प्रकारका नरक तीन श्लोकृसे कहा है:

आदीपनं स्वगात्राणां वेष्टयित्वोल्मुकादिभिः।
आत्ममांसादनं क्वापि स्वकृतं परतोऽपि वा।।२५।।
जीवतः स्वाङ्गाभ्युद्धारः श्वगृध्रैर्यमसादने।
सर्पवृश्चिक–दंशाद्यैः स्मरद्भिश्चात्मवैशसम्।।२६।।
कृन्तनं वावयवशो गजादिभ्यो निपातनम्।
पातनं गिरिशृङ्गेभ्यो रोधनं चाऽम्बुगर्तयोः।।२७।।

श्लोकार्थ: वहां यमलोकमृ उसके शरीरको जलती हुई लकडी आदिके

बीचमॄ डाल कर जलाया जाता है. किसी नरकमॄ स्वयं अथवा दूसरॄके द्वारा काट-काटकर उसे अपना ही मांस खिलाया जाता है. यमलोकमॄ कुत्तॄ तथा गिद्धॄ द्वारा जीते हुएके ही अंगोको नॄचा जाता है. सांप, बिच्छू और डांस आदि, जिनको उसने मारा है वे, उसे याद करके उसके शरीर काटते हैं और शरीरको टूक-टूक कर देते हैं. तथा कहीं हाथियॄसे पछाडा जाता है. कहीं पर्वतके शिखरसे नीचे गिराया जाता है अथवा जलमॄ या गढ्ढेमॄ डालकर बन्द कर दिया जाता है।।२५-२७।।

व्यापार्थ: सात्त्विकपाप होने पर उसके शरीरको जलाया जाता है. राजसपापमॄ जीते हुएके शरीरको कुत्ते, गीध आदिसे नुचवाते हैं और तामसपापमॄ शरीरके टुकड़े करवाते है. जलती हुई लकड़ियॄको शरीरके चारॄ ओर लगाकर जलानेको 'आदीपन' कहते हैं. 'आदि' शब्दसे जलती हुई घास अथवा कपड़ॄ से वेष्टित करके जलाया जाता है. महापातकी होने पर ऐसा किया जाता है. अन्य पापी किसी जगह अपने ही मांसको खाते हैं. अपने मांसको या तो स्वयं ही काट काटकर खाते है अथवा दूसरे उसके मांसको काटकर उसे खिलाते हैं. जो स्वतः पाप करता है वह स्वयं ही अपने मांसको काट कर खाता है तथा दूसरेकी प्रेरणासे यदि पाप करता है तो दूसरे उसे उसके मांसको काट कर खिलाते है. जीवितके ही शरीरके अवयवॄको कुत्ते, गीध आदि काट-काट कर खाते हैं. अर्थात् उसके शरीरको कुत्ते आदि खाते हैं यह विशेषता है. यमसादन(यमलोक) पदसे वह स्थान सब तरहसे भयावना है यह सूचित होता है. कुत्ते जिनकेलिये पहले कहा जा चुका है अर्थात् ये वे ही कुत्ते हैं जो दिन रातकी अभिमानिनी देवता है और उसके पापॄके साक्षी हैं वे इसके शरीरको टूक-टूक करते हैं. गीध ये पाषण्डाभिमानी हैं. 'दंश'से बड़े मच्छरॄका ग्रहण है. 'आदि' शब्दसे मकडी आदि लिये जाते हैं. पहले इस प्राणीने हमॄ (दंश)आदिको मारा था उसे याद करके वे उस प्राणीके शरीरके अवयवॄको अलग कर देते हैं. ईखकी तरह उसके अवयवॄको काटते हैं. हाथी, बाघ आदि उसे खानेकेलिये पछाड़ते हैं. पर्वतके शिखरॄसे नीचे गिराते हैं, जलमॄ तथा गढ्ढेमॄ रोकते हैं. ये सब जिस तरहका पाप होता है वैसे किया जाता है।।२५-२७।।

आभास: प्रकीर्ण(फुटकल) पापॄको कहकर अब मुख्य पापॄको कहते हैं:

यास्तामिस्रान्धतामिस्र–रौरवाद्याश्च यातनाः।
भुङ्क्ते नरो वा नारी वा मिथः सङ्गेन निर्मिताः।।२८।।

श्लोकार्थः तामिस्र, अन्धतामिस्र, रौरव आदि जो यातनाएं हैं उन्हृ स्त्री हो अथवा पुरुष उसको संसर्गसे होनेवाले पापके कारण भोगनी ही पडती है।।२८।।

व्याख्यार्थः तामिस्र, अन्धतामिस्र, रौरव आदि अट्ठाईस प्रकारकी जो यातनायॄ कही गई हैं उनको वह भोगता है. इनका लक्षण आगे पञ्चमस्कन्धमॄ कहा जायगा. स्त्री तो भोग्य होती है. इसलिये उसे तो नरकाॄका अनुभव नहीं होगा. ऐसी आशंका पर कहा है 'भुङ्क्ते नरो वा नारी वा'. चाहे स्त्री हो या पुरुष सबको यातनाका अनुभव करना ही पड़ता है. संसर्गके कारण भोग्यत्व अंशमॄ भी नरकका सम्बन्ध होता है अर्थात् एक दूसरेके सम्बन्धसे उत्पन्न होनेवाले पापसे जो निर्मित यातनायॄ हैं उन्हृ भोगनी पड़ती हैं।।२८।।

आभासः इस प्रकारकी यातनाआॄका वर्णन केवल भय दिखानेकेलिए होगा, ऐसी आशंका करके लोकके दृष्टान्तसे उसकी सत्यता सिद्ध करते हैं:

अत्रैव नरकः स्वर्ग इति मातः प्रचक्षते।
या यातना वै नारक्यः ता इहाऽप्युपलक्षिकाः।।२९।।

श्लोकार्थः माताजी ! यहीं नरक और स्वर्ग है ऐसा प्रत्यक्ष दिखाई देता है. जो नरककी यातनाएं हैं उसका यहां भी परिचय मिलता है।।२९।।

व्याख्यार्थः जो इष्ट अधिकारी होते हैं उन्हृ राज्य आदि प्राप्त होता है और जो अनिष्टके अधिकारी होते हैं उन्हृ राजदण्ड आदि मिलते हैं ऐसा प्रत्यक्ष देखते हैं. यह सब जब इस लोकमॄ भी दिखाई देता है तो इन्हीं यातनाआॄसे नरककी यातनाआॄका परिचय मिल जायगा।।२९।।

आभासः यह जो भी कुछ होता है वह सब कुटुम्बके पोषणके निमित्तसे ही होता है उसे कहते हैं:

एवं कुटुम्बं बिभ्राण उदरम्भरिरेव च।
विसृज्येहोभयं प्रेत्य भुङ्क्ते तत्फलम् ईदृशम्।।३०।।

श्लोकार्थः इस तरह कुटुम्बका पोषण करनेवाला अथवा केवल अपना ही पेट भरनेवाला पुरुष कुटुम्ब और अपने शरीर दोनाॄको यहीं छोडकर मरनेके अनन्तर अपने किये हुए पापाॄका ऐसा फल भोगता है।।३०।।

व्याख्यार्थ: जिसके कुटुम्ब नहीं होता है वह भी ऐसा अनुभव करता है उसे 'उदरम्भरिः'से कहा है. अर्थात् जो केवल अपना ही पेट भरता है वह भी यहीं कुटुम्बको और अपने पेटको छोड़कर मरकर उन दोनॄके पोषणके निमित्तका ऐसा फल भोगता है।।३०।।

आभास: पापसे कमाये हुए द्रव्यका उपयोग तो सब करते हैं किन्तु पापका फल तो वह अकेला ही भोगता है उसे कहते हैं:

एकः प्रपद्यतेऽध्वानं हित्वेदं सकलेवरम्।
कुशलेतर–पाथेयो भूतद्रोहेण यद् भृतम्।।३१।।

श्लोकार्थ: शरीरके सहित इन सबको यहीं छोडकर प्राणियॄके द्रोहसे किए गए पापरूप पाथेय(मार्गके भोजन)को साथ लेकर वह अकेला नरकमॄ जाता है।।३१।।

व्याख्यार्थ: शरीरके सहित इन सबको छोड़कर अकेला ही यमलोकके मार्गमॄ जाता है. पुण्य करनेवाला कुशल पाथेयको लेकर और पाप करनेवाला पापरूप पाथेयको लेकर जाता है. यहां 'कुशलेतरपाथेयः'से यह ज्ञापित किया है कि पुण्य तथा पाप करनेवाले दोनॄ ही प्रकारके प्राणियॄका गमन यमलोकमॄ ही होता है. 'पाथेय' = मार्गका भोजन. भूत(प्राणी)के द्रोहसे जो संचित किया है वह अवश्य ही भोगना पड़ता है इसे बतानेकेलिये पुनः कहा है।।३१।।

आभास: यदि ऐसी आशंका हो कि यमलोकमॄ वो अपने पापका प्रायश्चित्त कर लेगा अथवा केवल मैंने ही पापकी कमाई नहीं खाई है सबने मिलकर खाई है, इसलिए सब दण्डके अधिकारी हैं. मैं ही दण्डनीय कैसे हूं? ऐसा विवाद भी कर सकता है. ऐसा होनेसे उसे नरक न होगा इस आशंकाका उत्तर देते हैं:

दैवेनासादितं तस्य शमलं निरये पुमान्।
भुङ्क्ते कुटुम्बपोषस्य हृतवित्त इवातुरः।।३२।।

श्लोकार्थ: मनुष्य अपने कुटुम्बका पेट पालनेमॄ जो अन्याय करता है उसका भगवदिच्छासे बुरा फल वह नरकमॄ भोगता है. उस समय वह इस तरह दुःखी होता है जैसे रोगग्रस्तका धन लुट गया हो।।३२।।

व्याख्यार्थ: वहां नरकमॄ भगवान्की इच्छासे ही पापका फल उपस्थित हुआ है, उसे वह भोगता है उसको वह बदल नहीं सकता. 'शमलं'(पापका फल)

'निरये'(नरक भूमि मृ) 'पुमान्'शब्द उसकी स्वतन्त्रताका द्योतक है. यदि भगवान्की इच्छासे पापका फल उपस्थित होता है और उसे भोगता है तो इसमृ किसका दोष है इस आशङ्का पर कहते हैं कि 'कुटुम्बोपोषस्य'. कुटुम्बके पोषणके कारण ऐसा होता है. 'हृतवित्त इव'से उसको अन्तर्वेदना होती है यह बताया है. जिस तरह रोगसे ग्रस्त देहवाला धनके चले जाने पर दुःखका अनुभव करता है उसी तरह कुटुम्बके और देहके भी चले जाने पर उसकी वासनाके विद्यमान(मौजूद) रहनेसे पाप फल भोगता है. धर्म और अधर्मसे कुटुम्ब पोषककी यह स्थिति बताई है।।३२।।

आभास: केवल अधर्मसे कुटुम्बका पोषण करनेवालेके फलको कहते हैं:

केवलेन ह्यधर्मेण कुटुम्बभरणोत्सुकः।
याति जीवोऽन्धतामिस्रं चरमं तमसः पदम्।।३३।।

श्लोकार्थ: जो पुरुष केवल पापकी ही कमाईसे अपने कुटुम्बका पोषण करनेमृ व्यावृत्त रहता है. वह अन्धतामिस्र नरकमृ जाता है. वह नरक सब नरकॄसे अत्यधिक कष्टप्रद है।।३३।।

व्याख्यार्थ: पापसे कमाये हुए ही द्रव्यसे व्याध(शिकार)की तरह या घातक(जल्लाद)की तरह जो कुटुम्बका पोषण करता है अथवा कुटुम्बमृ उत्कण्ठित होता है वह अन्धतामिस्र नरकमृ जाता है. इस अन्धतामिस्रसे वह नरक भिन्न है जो दैत्यॄका अन्तिम फलरूप है. उसीको 'चरमं तमसः पदं'से कहा है अर्थात् वह नरक चरम है अंतिम है वहां जाने पर फिर लौटता नहीं है. नहीं लौटनेमृ कारण है वह तमःका पद है।।३३।।

आभास: वहां कल्पान्त तक रहकर पुनः लौटता है उसे कहते हैं:

अधस्ताद् नरलोकस्य यावतीर्यातनादयः।
क्रमशः समनुक्रम्य पुनरत्राव्रजेत् शुचिः।।३४।।

श्लोकार्थ: मनुष्य जन्म मिलनेके पूर्व जितनी भी यातनाएं हैं उन सबको क्रमसे भोगकर शुद्ध हो जाने पर वह फिर मनुष्ययोनिमृ जन्म लेता है।।३४।।

व्याख्यार्थ: मनुष्यलोकके नीचे जितनी भी यातनाएं हैं उन सबको क्रमसे ऊपर मुंह कर अनुभव करके (मनुष्य लोकमृ आता है). वह सब यातनाॲको एक ही बारमृ नहीं भोगता किन्तु अनुक्रमसे भोगता है अर्थात् एक नरकसे यातनाको भोगना प्रारम्भ करता है. उस यातनाको पूरी तरहसे भोगकर फिर दूसरे

नरकको भोगना आरम्भ करता है और नरकाृको भोगकर शुद्ध होकर पुनः इसी(मनुष्य) लोकमृ आ जाता है।।३४।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराणके तृतीय स्कन्धके ३० वृ अध्यायकी
श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्रीसुबोधिनी टीकाका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण.

अध्याय ३१

जीवका गर्भमृ आना और गर्भमृ रहते हुए जीव द्वाराकी गई भगवानकी स्तुति

एकत्रिंशे पुनस्तस्य गर्भादिकृतयातनाः ।
जानतोऽपि पुनर्मोहो दुःखं चापि तथोच्यते।।का.१।।

कारिकार्थ: इकत्तीसवृ अध्यायमृ पुनः उसकी (गर्भ आदि)के द्वारा की गई यातनाओृका वर्णन है. इनको जानते हुए भी उसको पुनः मोह तथा दुःख होता है उसका कथन है।।१।।

कृतिः प्रधानं न ज्ञानं यावद् देहस्मृतिर्भवेत् ।
अतस्त्यागो विधातव्यो ज्ञानं तस्मात् तु दुर्बलम्।।का.२।।

कारिकार्थ: जब तक देहकी स्मृति होती(रहती) है, तब तक क्रिया मुख्य है. इसलिए त्याग करना चाहिए. उस त्यागसे ज्ञान दुर्बल है।।२।।

क्रिया चेद् विषमा जाता ज्ञानं तस्य न साधकम् ।
क्रियां चेद् जनयेत् तद्धि तदुत्तमम् इहोच्यते।।का.३।।

कारिकार्थ: यदि क्रिया विषम(विरुद्ध) हो जाए तो ज्ञान उसका साधक (सहायक) नहीं हो सकता. क्रियाको यदि ज्ञान उत्पन्न करता है तो वह यहां उत्तम कहा जाता है।।३।।

अधर्माधिक्यतो धर्मं यः करोति गृही सदा ।
बहुजन्मविपाकेन गर्भे तस्य भवेद् मतिः।।का.४।।

कारिकार्थ: जो गृहस्थ सदा अधर्मसे अधिक धर्म करता है तो अनेक जन्मृके विपाकसे उसको गर्भमृ मति(बुद्धि) उत्पन्न होती है।।४।।

तामसत्वात्तु धर्मस्य न भूमौ नोत्तरे फलम् ।
अतो गर्भे ज्ञानसिद्धिः तादृशस्योच्यते हितम्।।का.५।।

कारिकार्थ: धर्मके तामस होनेसे तो न तो यहां उससे फल मिलता है न परलोकमृ फल मिलता है. अतः गर्भमृ ज्ञानकी सिद्धि उस प्रकारके जीवकेलिए [१]त्यागरूप हित कहा है।।५।।

१.हीनाधिकारमृ ज्ञानके उपकारक होने पर भी उसकी निर्बलतासे और अकिंचितता (थोड़ा होने)से त्यागकी आवश्यकता है उसको समझानेकेलिये त्यागका निरूपण है.

आभास: पूर्व अध्यायके अन्तमृ नरकसे इस लोकमृ पुनः आगमन कहा था. इस लोकमृ उसको देहका सम्बन्ध कैसे होता है? ऐसी आशंका करके जब योनिमृ वीर्य निर्जीव ही रहता है तब वह(जीव) कर्मसे प्रेरित होकर प्रवेश करता है इसे कहते हैं:

श्रीभगवान् उवाच

कर्मणा दैवतन्त्रेण जन्तुर्देहोपपत्तये ।

स्त्रियाः प्रविष्ट उदरं पुंसो रेतःकणाश्रयः।।१।।

श्लोकार्थ: श्रीभगवान् कहते हैं: माताजी! जब जीवको मनुष्यशरीरमृ जन्म लेना होता है तो वह भगवान्की प्रेरणासे अपने पूर्वकर्मेके अनुसार देह प्राप्तिकेलिए पुरुषके वीर्यकणके सहारे स्त्रीके उदरमृ प्रवेश करता है।।१।।

कललं त्वेकरात्रेण पञ्चरात्रेण बुद्बुदम् ।

दशाहेन तु कर्कन्धूः पेश्यण्डं वा ततः परम्।।२।।

श्लोकार्थ: वहां एक रात्रिमृ रजमृ मिलकर एकरूप 'कलल' बन जाता हैं. पांच रात्रिमृ बुद् -बुद्रूप हो जाता है. दस दिनमृ बेरके समान कठिन हो जाता है और उसके बाद वह पेशीके आकारमृ अथवा अण्डेके आकारमृ परिणत हो जाता है।।२।।

मासेन तु शिरो द्वाभ्यां बाहवङ्घ्र्याद्यङ्गविग्रहः ।

नख-लोमास्थि-चर्माणि लिङ्गच्छिद्रोद्भवस्त्रिभिः।।३।।

श्लोकार्थ: एक महिनेमृ उसका सिर निकलता है. दो मासमृ हाथ-पांव आदि अंगोका विभाग हो जाता है और तीन मासमृ नख, रोम, अस्थि(हड्डी), चर्म(चमडी), स्त्री-पुरुषके चिह्न तथा अन्य छिद्र उत्पन्न हो जाते हैं।।३।।

चतुर्भिर्धातवः सप्त पञ्चभिः क्षुत्तृडुद्भवः ।

षड्भिर्जरायुणा वीतः कुक्षौ भ्राम्यति दक्षिणे।।४।।

श्लोकार्थ: चार मासमृ उसमृ मांस आदि सातों धातुएं उत्पन्न हो जाती हैं, पांचवें महीनेमृ उसे भूख-प्यास लगने लगती है और छठे महीनेमृ जरासे वेष्टित होकर दाहिनी ओर कुक्षि(पेट)मृ घूमने लगता है।।४।।

व्याख्यार्थ: भगवान्की इच्छाके अधीन कर्मसे यह प्राणी उत्पन्न होता है तो देहकी प्राप्तिकेलिये पुरुषके रेतःकण(वीर्य)का आश्रय लेता है और वीर्यके द्वारा ही स्त्रीके पेटमृ प्रविष्ट होता है. पहले तो जीव उदरमृ प्रवेश करता है पीछे

रेतःकणका सहारा लेता है. उसका प्रवेश मुख और नासिकाके द्वारा होता है. उसके प्रविष्ट होने पर ही उसके प्रयत्नसे वह धारण किया हुआ शुक्र(वीर्य) ठहरता है. भाग्यवशसे समान समयमॄ प्रवेश और शुक्रका सम्भव यह भी होता है. जब वह शुक्र एक दिन रहता है तब उसका कलल होता है अर्थात् शुक्र और स्त्रीकी रज़ मिल जाते हैं. पांच रात्रिमॄ बुद्-बुद्के आकारकी तरह ऊंचा उठता है. दस दिनमॄ बेरके बीजकी तरह हो जाता है. तदनन्तर पेशी अथवा अण्ड होता है. अण्डेके आकारका गोल अथवा पूवेके आकारका होता है. पुरुषजीव अण्डाकार और स्त्री-नपुंसक पेशीके आकारके होते हैं. अथवा जो ऊपर जाता है वह अण्डाकार होता है और जो नीचे अथवा वहीं ठहरता है वह पेशी होता है. दस दिनके अनन्तर एक मासमॄ सिरका एक भाग निष्पन्न(उत्पन्न) होता है और दो महीनाॅमॄ हाथ, पैर आदिके सहित देहका विशेषरूपसे ग्रहण होता है. देहकी आकृतिके तैयार हो जाने पर उसमॄ विशिष्ट अभिमान भी उत्पन्न हो जाता है. अर्थात् हाथ और पैर तथा अङ्ग जिसमॄ हैं ऐसा हो जाता है. नख, रोम, अस्थि(हड्डी) और चर्म ये तीन मासमॄ होते हैं. स्त्री-पुरुषका चिह्न तथा इन्द्रियाॄके नौ छेदाॄका उद्भव(उत्पत्ति) भी तीन मासाॄमॄ होता है. धातुसे त्वचा आदि ली जाती है. यद्यपि अस्थि पहले ही तीसरे महीनेमॄ ही उत्पन्न हो जाती है तथापि उत्तरोत्तरभावसे वह नहीं होती है. इसलिये चार महीनेमॄ वैसी उसकी(अस्थिकी) उत्पत्ति होती है. भूख और प्यासकी उत्पत्ति पांच महीनेमॄ होती है. छः महीनेमॄ जरासे वेष्टित होता है. पुरुष होनेके कारण दाहिनी कोखमॄ घूमता है।।१-४।।

आभास: उस जीवकी जीविकाको कहते हैं:

मातुर्जग्धान्नपानाद्यैरेधद्धातुरसत्तमे।
शेते विण्मूत्रयोर्गर्ते सजन्तुर्जन्तुसम्भवे।।५।।

श्लोकार्थ: माताके खाए हुए अन्न, जल आदिसे उसकी सब धातुएं पुष्ट होने लगती हैं. जन्तुआॄके सहित वह प्राणी जिसमॄ जन्तु उत्पन्न होते हैं ऐसे मलमूत्रके गड्ढेमॄ सोया(पडा) रहता है।।५।।

व्याख्यार्थ: खाये हुए अन्न-पान आदिसे उसकी धातुआॄकी वृद्धि होती है. वह अपनेलिये जो अत्यन्त अयोग्य है ऐसे मलमूत्रके गर्तमॄ सोता रहता है. अन्य जन्तु भी वहीं सोते हैं. इस तरह वह जन्तुआॄके सहित सोता है. यदि शंका हो कि वहां जन्तु कहांसे आते हैं? उसकेलिये 'जन्तुसम्भवे' कहा है. वह ऐसे स्थानमॄ

पड़ा रहता है वहां जन्तु(कृमि) उत्पन्न होते रहते हैं. उस गड्ढेमृ यह सोता है(पड़ा रहता) है।।५।।

आभास: वहां होनेवाले क्लेशको कहते हैं:

कृमिभि: क्षतसर्वाङ्ग: सौकुमार्यात् प्रतिक्षणम्।
मूर्छाम् आप्नोत्युरुक्लेश: तत्रत्यै: क्षुधितैर्मुहु:।।६।।

श्लोकार्थ: वह सुकुमार होता है इसलिए वहांके भूखे कीडे उसके अंगको काटते हैं. तब अत्यन्त क्लेशके कारण वह क्षण-क्षणमृ मूर्छित हो जाता है।।६।।

व्याख्यार्थ: शरीर उसका अत्यन्त कोमल होता है इसलिये कृमि(कीड़े) उसके सब अंगको क्षत(नोंचते) करते हैं. जिससे वह प्रतिक्षण मूर्च्छाको प्राप्त होता है. मूर्च्छा प्राप्तिकी दशामृ उसे बहुत क्लेश होता है. कृमि क्यृा उसे काटते हैं? उसका कारण यह है कि वे भूखे होते हैं. बार-बार काटनेके कारण उसे बहुत दु:ख होता है।।६।।

आभास: उसके आध्यात्मिक दु:खको कहते हैं:

कटु-तीक्ष्णोष्ण-लवण-रूक्षाम्लादिभिरुल्बणै:।
मातृभुक्तैरुपस्पृष्ट: सर्वाङ्गोत्थित-वेदन:।।७।।

श्लोकार्थ: माताके खाए हुए कडवे, तीखे, गरम, नमकीन, रूखे और खट्टे आदि उग्र पदार्थोंका स्पर्श होनेसे उसके सारे शरीरमृ पीडा होने लगती है।।७।।

व्याख्यार्थ: केवल मधुर रस ही बाधक नहीं होता है बाकी कडवे आदि सब रस तो बाधक ही हैं. आदि शब्दसे अपरिणामसे(अपक्व) भी द्रव्य बाधक होते हैं. इन सब रसृा आदिका सम्बन्ध माताके खानेसे होता है. जीवन नाडिकाके द्वारा मुखमृ रस आता है, इससे उसे अन्त:वेदना होती है और बाहर भी स्पर्श होता है. इसलिये सारे अंगमृ वेदना उठती है।।७।।

आभास: आधिदैविकी पीडाको कहते हैं:

उल्बेन संवृतस्तस्मिन् अन्त्रैश्च बहिरावृत:।
आस्ते कृत्वा शिर: कुक्षौ भुग्नपृष्ठशिरोधर:।।८।।

श्लोकार्थ: वह जीव माताके गर्भाशयमृ झिल्लीसे लिपटा और आंतोसे घिरा रहता है. उसका सिर पेटकी ओर तथा पीठ और गर्दन कुण्डलाकार मुडे रहते

हैं।।८।।

व्याख्यार्थ: गर्भको वेष्टित करनेवाली झिल्लीसे बन्धनकी रस्सीकी तरह उसी गर्तमॅ घिरा रहता है. झिल्लीके ऊपर आंतॅासे बाहर बंधा रहता है. इस तरह पीड़ित होते हुए सिरको अपनी कोखमॅ करके पीठ और गर्दन उसकी मुड़ी हुई रहती है. यह उपद्रव दैविक है।।८।।

आभास: उपद्रवॅाका फल कहते हैं:

अकल्पः स्वाङ्गचेष्टायां शकुन्त इव पञ्जरे।
तत्र लब्धस्मृतिर्दैवात् कर्म जन्मशतोद्भवम्।
स्मरन् दीर्घम् अनुच्छ्वासं शर्म किं नाम विन्दते।।९।।

श्लोकार्थ: वह पिंजरेमॅ बन्धपक्षीके समान पराधीन एवं अंगोको हिलाने डुलानेमॅ भी असमर्थ रहता है. इसी समय अदृष्टकी प्रेरणासे उसे स्मरण शक्ति प्राप्त होती है. तब अपने सॅकडो जन्मॅाके कर्म याद करके पीडित होता है और उसका श्वास घुटने लगता है ऐसी अवस्थामॅ उसे शान्ति क्या मिले!।।९।।

व्याख्यार्थ: अपने अंगॅाकी चेष्टामॅ भी वह असमर्थ होता है. उसके सामर्थ्यका नाश स्वतः नहीं हुआ है किन्तु जैसे तोता आदि पिंजरेके अन्दर बन्द होने पर कुछ नहीं कर सकते इसी तरह यह भी कुछ नहीं कर सकता. इसकी असमर्थता बाधकॅाके द्वारा की गई है. स्वतः तो असमर्थ नहीं है. पूर्वोक्तप्रकारसे पूर्वोपार्जित धर्मवश भगवान्की इच्छासे ऊर्ध्वगमनके कारण गर्भमॅ सर्वज्ञता होती है. उसीको 'तत्र लब्धस्मृतिः'से बताया है. वह जीव अपने ही सैकड़ॅा जन्मॅामॅ उत्पन्न हुए कर्मको याद करता हुआ और उत्पन्न हुए शोकसे लम्बी सांस लेता हुआ क्या सुख प्राप्त कर सकता है? अर्थात् कुछ सुख प्राप्त नहीं कर सकता. कर्म तो पहले कह दिये हैं जिनकी यादसे सुखकी संभावना भी नहीं होती है. इस प्रकारके स्मरणमॅ कारण बताते हैं. 'दैवाद् लब्धस्मृतिः'. भाग्यसे उसे स्मृति प्राप्त होती है।।९।।

आभास: पूर्वजन्मके स्मरणसे वैराग्य होने पर भी ज्ञानकी अपेक्षा रहती है. क्यॅाकि श्रुतिमॅ कहा है कि ''आत्मज्ञानी शोकसे तर जाता है''. जिस तरह भगवान्की इच्छासे उसे पूर्वजन्मकी स्मृति होती है उसी तरह जीव और ब्रह्म के स्वरूपका ज्ञान भी उसे हो जाता है उसे कहते हैं:

आरभ्य सप्तमान् मासाद् लब्धबोधोऽतिवेपितः।

नैकत्रास्ते सूतिवातैर्विष्ठाभूरिव सोदरः।।१०।।

श्लोकार्थः सातवृ महिनेके आरम्भसे ही उसमृ ज्ञानका उदय हो जाता है परन्तु प्रसूतिवायुसे चलायमान रहनेके कारण वह उसी उदरमृ उत्पन्न हुए विष्ठाके कीड़ृके समान एकस्थानपर नहीं रह सकता है।।१०।।

व्याख्यार्थः सातवां मास जब प्रारम्भ होता है तबसे लेकर जब जन्म होता है उस समयमृ उसे ज्ञान प्राप्त हो जाता है. काल आदिके पराक्रमको याद करके अत्यन्त कांपने लगता है और वस्तुस्वभावृसे भी कंपित होता है. उसे कहते है 'नैकत्रास्ते'. प्रसूतिकी वायुआृसे कम्पित होकर एक जगह स्थिर नहीं रह सकता. ज्ञान हो जाने पर भी क्रिया ही बलिष्ठ होती है. उसे जताते हुए कहते हैं 'विष्ठा-भूरिव'. उसमृ असत्तुल्यता(अनुचितता)को कहते हैं. जैसे मलमृ उत्पन्न होनेवाला कृमि(कीड़ा) एक जगह नहीं रहता उसी तरह वह भी एक जगह नहीं रह सकता. यह जीव तो महान् है. उसको विष्ठाके कीड़ेके समान बताकर निन्दा करना तो अच्छा नहीं है, उस पर कहते हैं यह सोदर है. जहां विष्ठाके कीड़े आदि रहते हैं वहीं यह भी रहता है. इसलिये इसे ऐसा कहा. यदि यह महान् होता तो कीड़ृके रहनेके उस उदरमृ नहीं रहता. ज्ञान हो जाने पर भी वह ज्ञान कुछ भी नहीं कर सकता ऐसा जानकर भगवान्का भजन करना चाहिये. इसकेलिये भगवान्से प्रेरित वस्तुस्वभावृकी बलिष्ठता यहां बताई गई है।।१०।।

आभासः अतः वैसा जानकर उसने भगवान्की स्तुति की इसे कहते हैं:

नाथमान ऋषिर्भीतः सप्तवध्रिः कृताञ्जलिः।
स्तुवीत तं विक्लवया वाचा येनोदरेऽर्पितः।।११।।

श्लोकार्थः चमडी आदि सप्त धातुमयी रस्सीसे बंधा हुआ वह देहात्म-दर्शी जीव अत्यन्त भयभीत होकर दीन वाणीसे याचना करता हुआ हाथ जोडकर उस प्रभुकी स्तुति करता है जिसने उसे माताके गर्भमृ डाला है।।११।।

व्याख्यार्थः 'नाथमानः'का अर्थ है संतप्त होता हुआ. 'नाथृ' और 'नाधृ' इन धातुआृका धातुपाठमृ याञ्चा, उपताप, ऐश्वर्य और आशीः ये अर्थ हैं. यद्वा अपने निस्तारकेलिये भगवान्से याचना करता हुआ स्तुति करता है. जीवको यहां ऋषि इसलिये कहा है कि उसे अलौकिक ज्ञान हो गया है. जिससे वह मन्त्रदर्शी हो गया है. मन्त्रदर्शीको ऋषि कहते हैं. मन्त्रसे स्तुति किया गया अलौकिक आत्मा(भगवान्) प्रसन्न होता है. शंका होती है कि भगवान् प्रसन्न

होकर जब प्रकट हो जायॄ तब स्तुति करनी चाहिये. यह भगवान् तो अन्तर्यामी हैं. प्रकट हुआ नहीं और न प्रसन्न हुआ है. इस पर कहते हैं 'भीतः'. स्तुति दो तरह से की जाती है: डरसे अथवा प्रसन्न करनेकेलिये. यद्यपि यह जीव भगवान्की प्रसन्नताका पात्र नहीं है तथापि डरता हुआ भगवान्की प्रसन्नताकेलिये स्तुति करता है. यदि आशंका हो कि गर्भसे बाहर निकलनेके पश्चात् स्तुति करनी चाहिये. अभी स्तुतिसे क्या प्रयोजन है? इस आशंकाका उत्तर देते हैं 'सप्तवध्रिः'. चमड़ेकी बनी हुई रस्सीको वध्रि कहते हैं. वैसी चमड़ी आदि सप्तधातुसे बनी हुई सात रस्सियॄसे यह जकड़ा हुआ है. इसलिये यह विलम्बको सहन नहीं कर सकता है अतः गर्भसे बाहर निकलनेके पहले ही स्तुति करता है. यह स्तुति प्रार्थनाकेलिये है. इसलिये हाथ जोड़कर स्तुति करता है ऐसा कहा. जीवका भगवान्मॄ प्रेम हो गया है इसलिये उसकी स्तुति सफल है इसको जतानेकेलिये 'विक्लवया वाचा' पद दिया है, अर्थात् गद्गद् वाणीसे स्तुति करता है. जिसने मुझे माताके गर्भमॄ डाला है, ऐसा कहनेका उसका प्रयोजन यह है कि इस स्तुतिका फल इस दुःखसे निवृत्ति कराना ही है।।११।।

प्राणरक्षां पुरस्कृत्य दशभिः स्तोत्रम् ऊचिवान्।
भक्ति–प्रपत्ती कर्तव्ये इति शास्त्रार्थबोधनात्।।का.१।।
शरणागमनं पूर्वं जीव–ब्रह्मविभाजनम्।
जीवहीनत्वतश्चापि सत्सङ्गादेव तद् भवेत्।।का.२।।
एवं हरिस्तु हितकृत् कृपाप्रार्थनमेव च।
प्रत्युपकारासामर्थ्यं ज्ञानदातृत्वमेव च।।का.३।।
संसारस्यातिदुष्टत्वं तदभावस्तु याच्यते।

कारिकार्थ: अपनी प्राणरक्षाको ही सामने रखकर दस श्लोकॄसे जीवने स्तुति की है. शास्त्रार्थके बोधनसे भक्ति और प्रपत्ति करनी चाहिए. दस श्लोकॄमॄ क्रमसे पहले १. शरणागमन २. जीवब्रह्मका विभाग ३. जीवकी हीनता(नमन) ४. सत्संगसे ही वह होती है ५. भगवान् इस प्रकारका हित करते हैं ६. और भगवान्की कृपाकी प्रार्थना ७. भगवान्के उपकारका बदला चुकानेकी असमर्थता ८. ज्ञानदातृता ९. संसारकी अतिदुष्टता १०. संसारके अभावकी याचना. इनका इन श्लोकॄमॄ क्रमशः वर्णन है।।१–३।।

आभास: पहले शरणागमनको कहते हैं:

जीव उवाच

तस्योपपन्नम् अवितुं जगदिच्छयात्त–नानातनोर्भुवि लसत् चरणारविन्दम् ।
सोऽहं व्रजामि शरणं ह्यकुतोभयं मे येनेदृशी गतिरदर्श्यसतोऽनुरूपा।।१२।।

श्लोकार्थ: जीव कहता है: मैं बडा अधम हूं. भगवान्ने मुझे जो इस प्रकारकी गति दिखाई है वह मेरे योग्य ही है. वे जगत्की रक्षाकेलिए अनेक प्रकारके रूप धारण करते हैं. अतः मैं भी पृथ्वीके ऊपर विचरण करनेवाले उन्हीं भगवान्के चरणारविन्दृकी शरण ग्रहण करता हूं।।१२।।

व्याख्यार्थ: पूर्वधर्मके कारण अवतीर्ण भगवान्मृ ही उसकी भावना होनेसे उन्हींके शरणमृ जाता है. आज तक भी भक्तिमार्गमृ प्रवेश न होनेसे जगत्की रक्षाकेलिए जो भगवान्का अवतार हुआ है उसे ही कहता है. अपने ही से निर्मित इस जगत्की रक्षा करनेकेलिऐ अपनी इच्छासे स्वीकृत किये हैं अनेक शरीर जिन्हृने. अतएव वैसे भगवान्के सुन्दर चरणारविन्दृकी शरणमृ मैं जाता हूं. यह शरणागति भक्तिके ही लिये है क्यृाकि उसमृ चरणारविन्दका निरूपण है. यह बात ठीक भी है कि जो भयभीत होते है वे रक्षकके चरणृाकी ही शरण ग्रहण करते हैं. वहां भी यदि पूर्ववत् बाधा हो तो शरणागति व्यर्थ हो जाती है. अतः उसे 'अकुतोभय' बताया है. वहां शरणागतकेलिए किसीका भय नहीं है.

शंका हो कि ये ही तो दुःख देनेवाले हैं! तो 'सुखं दुःखम्' इत्यादि वाक्य इसको बताते हैं. इसलिये जो मारनेवाला है उसकी शरणमृ जाना अनुचित है. इस आशंकाका निवारण 'येनेदृशी गतिरदर्शि'से किया है. यदि ऐसी गति देते ह्यृ और जतावे नहीं तब तो शरणमृ न जाय परन्तु केवल असत्(पापकर्ता)की ऐसी गति होती है. इसे तो बताते ही हैं तो उनकी शरणमृ क्यृा न जाये. इससे यह जाना जाता है कि जो सत्त्व(पुण्यात्मा) होता है उसकी गति ऐसी नहीं होगी. उसमृ सत्त्व(पुण्यात्मा)का ज्ञान सत् जो भगवान् है उनमृ प्रवेश करनेसे ज्ञात होता है. जो सत् होता है वह प्राकृत पदार्थोंको हेय(छोड़ने योग्य) समझता है और जो असत् होता है वह प्राकृत पदार्थोंको ग्राह्य समझता है. इसीसे प्राणीके सत् और असत् होनेका निश्चय होता है. प्रकृति सम्बन्धी सब पदार्थ असत् हैं और भगवान् सत् हैं. जैसे जीव स्वरूपसे सत् है परन्तु यदि असत्मृ प्रवेश करता है तो उसमृ भी असत्पन निर्धारित होता है. वैसा होनेसे सत्मृ प्रवेशकेलिए भगवान्की शरणगति ही युक्त है यह तात्पर्य है।।१२।।

आभास: जीव और ब्रह्म मृ पूर्वोक्त विभागकी सिद्धिकेलिए उनके रूपमृ भेद बताते हैं:

यस्त्वत्र बद्ध इव कर्मभिरावृतात्मा भूतेन्द्रियाशयमयीम् अवलम्ब्य मायाम् । आस्ते विशुद्धमविकारम् अखण्डबोधम् आतप्यमानहृदयेऽवसितं नमामि।।१३।।

श्लोकार्थ: जो इस माताके उदरमृ देह, इन्द्रिय और अन्तःकरण रूपा मायाका आश्रय कर पुण्य-पापरूप कर्मोंसे आच्छादित(ढके हुए) रहनेके कारण बद्ध(बंधे हुए)से जान पडते हैं. अपने सन्तप्त(तपे हुए) हृदयमृ स्फुरित होनेवाले उन विशुद्ध अविकारी और अखण्ड बोधस्वरूप परमात्माको मैं नमस्कार करता हूं।।१३।।

व्याख्यार्थ: जो इस शरीरमृ बंधे हुए पक्षीकी तरह प्रतिभासित होता है वह जीव है. उसके बन्धनमृ उसके कर्म कारण हैं. उन कर्मोंसे वह घिरा रहता है. कर्मोंके साथ उसके सम्बन्धका कारण है: देह, इन्द्रियां और अन्तःकरणरूपा माया. वह आत्माको मोहित करनेकेलिये उत्पन्न हुई है. अतः उस मायाका आत्मरूपसे अथवा आधाररूपसे अवलम्बन लेकर जो रहता है वह जीव बद्धकी तरह होता है. और जो जीव उस तरहकी मायाका अवलम्बन(सहारा) नहीं लेता है वह विशुद्ध है. इससे विशुद्ध आत्मा देहरूप नहीं है ऐसा निरूपण हुआ. इसी तरह विशुद्ध आत्मा अविकारी होनेसे इन्द्रियरूप भी नहीं है क्यृकि सभी विकार इन्द्रियृसे उत्पन्न होते हैं. विशुद्ध आत्मा अखण्ड बोध होनेसे अन्तःकरणरूप भी नहीं है. ऐसा होते हुए भी हमारे ऊपर कृपा करनेकेलिये और ''मैं तेरा सखा(हितैषी) हूं'' इस बातको बताने करनेकेलिये सब तरह तपे हुए हृदयमृ आप प्रतीत हो रहे हैं. अतएव मैं आपको नमन करता हूं. इस तरह भगवान्मृ दोषृका अभाव है तथा गुण हैं ऐसा कहा और जीवके दोष कहे तथा उसकी निवृत्तिकेलिये नमनका निरूपण किया।।१३।।

आभास: शंका करते हैं कि नमनकी क्या आवश्यकता है? क्यृकि ज्ञानसे ही माया निवृत्त हो जाएगी. यदि माया निवृत्त हो गई तो कर्मके सम्बन्धृका अभाव हो जाएगा, और जब कर्मका सम्बन्ध ही नहीं रहेगा तो देह सम्बन्ध भी नहीं रहेगा, तब मुक्त हो जाएगा. इसलिए मुक्तिकेलिए भगवान्को नमन नहीं करना चाहिए. इस आशंकाका उत्तर देते हैं:

यः पञ्चभूत-रचिते रहितः शरीरे छन्नो यथेन्द्रियगुणार्थ-चिदात्मको-ऽहम्।

तेनाविकुण्ठ–महिमानम् ऋषिं तम् एनं वन्दे परं प्रकृतिपूरुषयोः पुमांसम्।।१४।।

श्लोकार्थः मैं वस्तुतः शरीरादिसे रहित(असंग) होते हुए भी देखनेमॄ पाञ्चभौतिक शरीरसे सम्बद्ध हूं. अतएव इन्द्रिय, गुण, शब्दादि विषय और चिदाभासरूप जान पडता हूं. इसलिए इस शरीरादि आवरणसे जिनकी महिमा कुण्ठित नहीं हुई है उन प्रकृति और पुरुषके नियन्ता सर्वज्ञ परम पुरुषकी मैं वन्दना करता हूं।।१४।।

व्याख्यार्थः यह देह पञ्चमहाभूतॊसे रचित है. वे सब पञ्चभूत भगवान्से नियमित हैं और भगवान्के ही अधीन हैं. जैसा कि ''**अजनि च न यन्मयं तदविमुच्य नियन्तृ भवेत्**''(भाग.पुरा.१०।८७।३०) यह वाक्य है. जीव भगवन्मय होकर ही उत्पन्न हुआ है अतः वह जीव भगवान्से नियम्य है. भगवान्को छोड़कर और किसीसे वह नियम्य नहीं है. उस प्रकारके अन्यके अधीन शरीरसे जो रहित(अलग) है उस परपुरुषको और उस प्रकारके ही अन्याधीन शरीरमॄ जो छिपा हुआ है उसको यथावत् इन्द्रिय, गुण और शब्द आदि विषय तथा चैतन्यके आभासरूप वह मैं प्रणाम करता हूं ऐसा सम्बन्ध है.

शरीर आच्छादक तभी हो सकता है जब चैतन्यरूप पहले अन्यत्र सम्बन्ध होता है. जैसे दर्पणमॄ प्रतिबिम्बित सूर्य स्थापित किया जाता है अथवा प्रतिमामॄ आये हुए विष्णुकी गन्ध–पुष्प आदिसे पूजा की जाती है. उसकेलिये प्रथम तो देह सम्बन्धसे पहले इन्द्रियसम्बन्धका निरूपण किया जाता है. अथवा 'यथेन्द्रियगुणार्थ' इस दृष्टान्तसे शरीराच्छादन स्थापित किया जाता है. जैसे यह विशुद्ध आत्मा इन्द्रिय तथा अन्तःकरणरूप गुण आधिभौतिक अर्थ(शब्द आदि विषय) इन तीनॄमॄ प्रकाशकेलिये चैतन्यरूपसे प्रविष्ट होता है तब वह चतुष्टयात्मा होता है. इन तीनॄमॄ वह आध्यात्मिकरूप और वेदनरूप होता है. जैसे 'अहम् इन्द्रिय' आदिसे सम्बन्ध है वैसे ही आत्मासे भी सम्बन्ध है. अतः एक ही शरीरमॄ दोनॄ विद्यमान रहते हैं परन्तु उनमॄ एक शरीर आदिसे रहित है और एक उस शरीरसे छन्न(छिपा हुआ) है. उस कारणसे जिसकी महिमा कुण्ठित नहीं हुई है अर्थात् जो जीवके ऊपर अलौकिक उपकार करनेमॄ समर्थ है, पूर्वोपकारी इस ऋषिको मैं नमन करता हूं. पूर्वमॄ जो बाधक थे उनकी निवृत्तिकेलिये उसको प्रकृति और पुरुषसे भी पर(नियामक) बताया है. वह निराकार आदि नहीं है. इसको सूचित करनेकेलिये 'पुमांसं' पद दिया है अर्थात् पुरुष है, आकार रहित

नहीं है. 'वन्दे' मैं नमन करता हूं. इससे अपनेमृ हीनताका निरूपण करते हुए पूर्वोक्तका ही अनुवाद यहां किया है।।१४।।

आभास: इस तरह शरणागति और नमनादिक भगवद्भक्तकी कृपासे ही होते हैं. इसे आर्षज्ञानसे स्मरण करके भक्तसंगकी तरह प्रार्थना करनेकेलिए भगवान्के अनुग्रहकी स्तुति करता है:

यन् माययोरुगुणकर्मनिबन्धनेऽस्मिन् सांसारिके पथि चरंस्तदभिश्रमेण।
नष्टस्मृतिः पुनरयं प्रवृणीत लोकं युक्त्या कया महदनुग्रहम् अन्तरेण।।१५।।

श्लोकार्थ: जिन भगवान्की मायासे अपने स्वरूपकी स्मृति नष्ट हो जानेके कारण यह जीव अनेक प्रकारके सत्त्वादि गुण और कर्मके बन्धनसे युक्त इस संसार मार्गमृ तरह-तरहके कष्ट पाता हुआ भटकता रहता है, अतः उन परमपुरुष परमात्माकी कृपाके बिना ओर किस युक्तिसे इसे अपने स्वरूपका ज्ञान हो सकता है।।१५।।

व्याख्यार्थ: अपनी सामर्थ्य भी काम नहीं देती और शास्त्रसे भी जिसकी चिकित्सा(इलाज) नहीं हो सकती तब अलौकिकके द्वारा भगवान्के भक्त ही उसे भगवत्पर(भगवान्मृ आसक्तिवाला) करनेमृ समर्थ हो सकते हैं. यदि उसमृ स्वतः सामर्थ्य होती तो ऐसी दुर्दशा न होती. उसका प्रतीकार(उपाय) ज्ञान और क्रिया इन दोनृके होने पर ही होता है. उनमूसे इसमृ ज्ञानका अभाव तो स्मृतिके नष्ट हो जानेसे ही स्पष्ट है और क्रिया तथा शक्तिका अभाव श्रमके प्रतिपादनसे स्पष्ट है. श्रमकी नित्य उत्पत्तिकेलिये जिन भगवान्की करणभूत मायासे मोहनेमृ अनेक प्रकारके जो गुण-कर्म हैं उनमृ जहां निरन्तर बन्धन होता रहता है. इस तरहके इस सांसारिक मार्गमृ निरन्तर विचरण करता रहता है. यदि मुक्त भी निरन्तर इसमृ विचरण करे तो श्रान्त(थक) हो जाता है. तो फिर बद्ध(बंधे हुए)केलिये तो क्या कहा जाय. वह बन्धन भी तो कर्मकृत है. अतः उस बन्धनसे स्वयं मुक्त भी नहीं हो सकता. उन कर्मोंको प्रायश्चित आदि भी दूर करनेमृ समर्थ नहीं हैं, क्यृकि वे कर्म तो भगवान्की मायासे ही उत्पन्न होते हैं और गुण उसके स्वभावभूत हैं. वे गुण चित्तको तत्पर(बन्धनको उन्मुख) कर देते हैं. 'अस्मिन्' यह सूचित करता है कि यह निरन्तर दिखाई देता है, इसलिये इसकी निवृत्ति होना कठिन है. सांसारिक पथिक जब उस मार्गमृ ही विचरण करता है तो उससे हट कैसे सकता है. 'कया युक्त्या' इसलिये कहा कि लौकिक उपाय इसकेलिये संगत नहीं है. यह उचित ही है।।१५।।

आभास: शंका होती है कि ऐसा भगवत्कृपासे ही कैसे होता है? उसका उत्तर देते हैं:

ज्ञानं यदेतद् अददात् कतमः स देवः त्रैकालिकं स्थिरचरेष्वनुवर्तितांशः ।
तं जीवकर्मपदवीम् अनुवर्त्तमानाः तापत्रयोपशमनाय वयं भजेम।।१६।।

श्लोकार्थ: मुझे जो यह त्रैकालिक ज्ञान हुआ है यह भी उनके सिवाय और किसने दिया है? क्यूंकि स्थावर-जंगम समस्त प्राणियूंमे वे ही तो अन्तर्यामी रूपसे विद्यमान हैं. अतः जीवरूप कर्मजनित पदवीका अनुवर्तन करनेवाले हम अपने त्रिविधतापूंकी शान्तिकेलिए उन्हींका भजन करते हैं।।१६।।

व्याख्यार्थ: हमको जो यह त्रैकालिक(भूत-भविष्य और वर्तमान) वस्तु विषयक ज्ञान हुआ है वह तो भगवान्ने ही दिया है. यदि भगवान् हृदयमे स्थित न हों तो हृदयमे ज्ञान कैसे दे सकते हैं. भगवान्का स्थावर और जंगम सबमे अपना अंश लगा रहता है. 'अनुवर्तितांशः'मे बहुव्रीहि समास है. स्थिर(स्थावर) और चर(जंगम)मे अनुवर्तित है अपना अंश जिसका अथवा जिससे यह भगवान् अपने अंश जीवका अनुवर्तन करता है अथवा अन्तर्यामीरूप भगवान्का अंश सर्वत्र है ही. इस अन्तर्यामी ही ने ज्ञानको धारण किया(दिया) है.

शंका होती है कि सब इन्द्रिय आदिके अधिष्ठाता(नियामक) तो देवता हैं, वे तो ज्ञान नहीं देते हैं. यह अन्तर्यामी तो सबमे है ही परन्तु इसने मुझे (जीवको) ही ज्ञान दिया है. अतः यह देवता कौनसा है? अर्थात् अत्यन्त परब्रह्मरूप यह कौन है? इस तरह ज्ञान देनेका काम अन्य देवताओंका नहीं है. 'कतमः' कहनेका आशय यह है कि विशेषरूपसे उसका वर्णन करना कठिन है. इसलिये ही ऐसे उपकारीको संसारमार्गमे भ्रमण करनेवाले हम सब तीन प्रकारके तापकी शान्तिकेलिये भजते हैं. जो जीवभावको प्राप्त हो गये हैं, उनका परम धर्म दास्यभाव है, देहभावका परित्याग करके जब तक ब्रह्मभाव नहीं होता उसके पहले जीवभाव ही रहता है. जब तक जीवभाव रहता है तब तक त्रिविधतापकी शान्तिकेलिये भजन है. जीवने 'वयं'(हम)का प्रयोग इसलिये किया है कि मेरे जैसे स्वभावके जो भी हैं वे हम सब पर भगवान् भजनसे ही कृपा करते हैं, इसलिये 'भजनेन' ऐसा कहा।।१६।।

आभास: इस तरह भजनको कहकर अब अपनी बात कहता है:

देह्यन्यदेह-विवरे जठराग्निनासृग्-विण्मूत्रकूप-पतितो भृशतप्तदेहः ।

इच्छन् इतो विवसितुं गणयन् स्वमासाद् निर्वास्यते कृपणधीर्भगवन्! कदा नु।१७

श्लोकार्थ: भगवन् यह देहधारी जीव दूसरे(माता)की देहके उदरके भीतर मलमूत्र और रुधिरके कुएंमृ गिरा हुआ है. उसकी जठराग्निसे इसका शरीर अत्यन्त संतप्त हो रहा है. उससे निकलनेकी इच्छा करता हुआ यह अपने महीने गिन रहा है. भगवन् ! अब इस दीनको यहांसे कब निकालोगे?।।१७।।

व्याख्यार्थ: यह देही(जीव) माताके देहके पेटमृ माताके पेटकी अग्निसे देहके अत्यन्त तप जानेसे रक्त, मल और मूत्र से भरे हुएमृ पड़ा हुआ तीन प्रकारके दुःखाृको भोगनता है. माताके पेटमृ इसे भौतिक तथा माताके पेटकी अग्निसे इसे दैविक दुःख प्राप्त होता है. इसलिये त्रिविध दुःखाृसे पीड़ित यह जीव यहांसे निकलनेकी इच्छा अपने बीते हुए महीनाृको गिनता रहता है. पीछेके बीते हुए महीनाृको ही तो गिन सकता है, आगेके महीनाृका तो कोई नियम ही नहीं है कि कितने महीने रहना है! हे भगवन्! अब कब तक निकालोगे? 'हे भगवन्!' इस सम्बोधनका तात्पर्य यह है कि यहांसे निकालनेमृ आप ही समर्थ हैं. अब उसका धीरज छूट गया है, यह 'कृपणधीः'से बताया है. अनन्त(जिनका अन्त ही नहीं है) ऐसे दुखाृको याद करनेसे इन दुःखाृके गिननेके समयसे भी अपने दुःखकी निवृत्तिको मान कर ऐसा करता है(महीने गिनता है). इस तरह वहां दुःखाृका अनुभव होनेसे दूसरी जगह जानेकेलिये प्रार्थना की है।।१७।।

आभास: शंका करते हैं कि ज्ञान देकर जिस भगवान्ने उपकार किया है उस उपकारका यदि प्रत्युपकार करे(बदला चुकाए) तब आगे भगवान् उसे निकालृ भी, यदि प्रत्युपकार नहीं करता है तो भगवान् उसे कैसे निकालृगे? इस आशंकाका उत्तर देते हैं:

येनेदृशीं गतिम् असौ दशमास्य ईश! सङ्ग्राहितः पुरुदयेन भवादृशेन।
स्वेनैव तुष्यतु कृतेन स दीननाथः
को नाम तत्प्रति विनाञ्जलिमस्य कुर्यात्।।१८।

श्लोकार्थ: हे स्वामिन्! आप बडे दयालु हैं. आप जैसे उदार प्रभुने ही इस दस मासके जीवको ऐसा उत्कृष्ट(उत्तम) ज्ञान दिया है. दीनबन्धो ! इस अपने किये हुए उपकारसे ही आप प्रसन्न हाृ क्याृकि आपको हाथ जोडनेके सिवाय आपके उस उपकारका बदला तो कोई दे भी क्या सकता है?।।१८।।

व्याख्यार्थ: जिन आप जैसाृने इस मेरे जैसेको केवल दस महीनेकी ही

परिमित(सीमित) अवधिमृ इस प्रकारका उत्तम ज्ञान दिया है. ऐसी आशंका करते हैं कि इस उत्तम ज्ञानका देनेवाला धर्मका अधिष्ठाता कोई और ही देवता है, मैं तो अन्य हूं. इसलिये मुझे तू ऐसा क्यृ कहता है? इसका उत्तर 'भवादृशेन'से देते हैं. जिनने ज्ञान दिया है वे ही तो आप हैं अथवा आप जैसा है. किन्तु इस विचारकी कोई आवश्यकता नहीं है. आपने जो मेरे ऊपर उपकार किया है उसीसे आप संतुष्ट हो जायृ. जैसे कीचड़मृ फंसी हुई गायको कीचड़से निकालकर कीचड़मृसे निकालनेवाला स्वयं प्रसन्न होता है कि मैंने इस गायको बचाया है. इसी तरह आपने भी इस जीवको ज्ञान दिया है. इससे आपको प्रसन्नता होगी क्यृकि आपके इस उपकारका बदला कौन चुका सकता है. यदि कोई अपनेको उपकारसे मुक्त करना ही चाहता है तो उसकेलिए केवल वह हाथ जोड़ दे. इससे अधिक (कुछ) नहीं कर सकता है।।१८।।

आभास: आशंका करते हैं कि किसके प्रति ऐसा कहा जाता है? क्यृकि कोई प्रकट तो दीखता नहीं! इसका उत्तर देते हैं:

पश्यत्ययं धिषणया ननु सप्तवध्रिः शारीरके दमशरीर्यपरः स्वदेहे ।
यत् सृष्टयास तम् अहं पुरुषं पुराणं पश्ये बहिर्हृदि च चैत्यमिव प्रतीतम्।।१९।।

श्लोकार्थ: प्रभो ! संसारके पशु, पक्षी आदि अन्य जीव तो अपनी मूढ बुद्धिके अनुसार अपने शरीरमृ होनेवाले सुख-दुःखादिका ही अनुभव करते हैं किन्तु मैं तो आपकी कृपासे शम-दम आदि साधनसम्पन्न शरीरसे युक्त हुआ हूं अतः आपकी दी हुई विवेकवती बुद्धिसे आप पुराण पुरुषको अपने शरीरके बाहर और भीतर अहंकारके आश्रयभूत आत्माकी भांति प्रत्यक्ष अनुभव करता हूं ।।१९।।

व्याख्यार्थ: यद्यपि भगवान् प्रत्यक्ष प्रकट नहीं हैं तथापि यह दमशरीरी=शम-दम आदिके साधक देह सहित है. स्वयं तो यह 'सप्तवध्रि' है. अर्थात् चमड़ेकी बनी हुई बांधनेकी रस्सीको 'वध्रि' कहते और चर्म आदि उन सात रस्सीसे जो बांधा जाता है उसे 'सप्तवध्रि' कहा जाता है. ऐसा होते हुए भी जिस भगवान्के द्वारा सर्जन की हुई बुद्धिसे अपने शरीरमृ ही स्वयं नियामक रूपसे दूसरा ही दीखता है और स्वयं(जीव) तो नियम्यरूपसे दीखता है. इसलिये उसके दिये हुए ज्ञानसे ही उसे मैं देखता हूं. जिसने मेरे ऊपर ज्ञान देनेका उपकार किया है उस उपकारी भगवान्को मैं वही सात बन्धनृसे बंधा हुआ(जीव) इसी शरीरमृ

रहनेवाले पुरुषको, जो इस शरीररूप पुरमृ शयन करता है, मैं देखता हूं. शरीरमृ ही रहनेके कारण उसकी प्रतीति स्पष्ट है. वह कहींसे आया है ऐसा भी नहीं है. वह तो इसमृ पूर्वसे ही विद्यमान है, इसको 'पुराणं'से स्पष्ट किया है और पुराना होनेके कारण मेरा परिचित भी है यह भी इससे स्पष्ट है. वह केवल शरीर ही मृ प्रतीत हो ऐसी बात नहीं है किन्तु शरीरसे बाहर और हृदयमृ भी वह प्रतीत है. जैसा यह चैतन्यजीव है उस तरहसे भी प्रतीत है. अर्थात् सर्वभावसे सर्वत्र प्रतीत है. जिस तरह जीवकी प्रतीतिमृ साधन आदिकी अपेक्षा नहीं है उसी तरह भगवान् भी स्वतः प्रतीत होते हैं. उस प्रतीतिमृ संस्काररूपसे किसी अन्यकी आवश्यकता नहीं है. हां ज्ञानकी अवश्य आवश्यकता है. उस ज्ञानको तो यहां साधन कहा ही है. इसलिये जब भगवान् प्रत्यक्ष हैं तो उनको देखकर ही जीव प्रार्थना आदि करता है तो उसमृ कोई दोष नहीं है।।१९।।

आभासः इस तरह सर्वत्र जब भगवान्के दर्शन होते हैं, ''जो सर्वत्र ब्रह्मको जानता है तो वह मुक्त हो जाता है'' इस भगवान्के वचनसे कुछ सुखको प्राप्त होकर गर्भमृ ही उसकी पीडा निवृत्त हो गई और गर्भसे बाहर तो उसको सब बाधक है, ऐसा स्मरण हो गया तब गर्भमृ ही रहना चाहता हूं ऐसी प्रार्थना करता है:

सोऽहं वसन्नपि विभो बहुदुःखवासं गर्भाद् न निर्जिगमिषे बहिरन्धकूपम् ।
यत्रोपयातम् उपसर्पति देवमाया मिथ्यामतिर्यदनु संसृतिचक्रम् एतत्।।२०।।

श्लोकार्थः भगवन्! इस अत्यन्त दुःख भरे हुए गर्भाशयमृ यद्यपि मैं बडे कष्टसे रह रहा हूं तो भी इससे बाहर निकलकर संसारमय अन्धकूपमृ गिरनेकी मुझे सर्वथा इच्छा नहीं है क्यूंकि उसमृ जानेवाले जीवको आपकी माया घेर लेती है जिसके कारण उसको शरीरमृ अहंबुद्धि हो जाती है और उसके परिणामस्वरूप उसे फिर इस संसारचक्रमृ ही पडना होता है।।२०।।

व्याख्यार्थः दुःखसे जिसमृ रहा जाता है उस गर्भमृ रहते हुए भी इससे बाहर जाऊंगा क्यूंकि बाहर तो अंधेरा कुआ है. यद्यपि यह गर्भ भी सब ओरसे मुझे घेरे हुए है और कुए जैसा ही है तथापि यहां मुझे ज्ञान है. बाहर वह ज्ञान नहीं है इसलिये बाहर अंधेरा कुआ है. यदि ऐसी आशंका हो कि गर्भका ज्ञान बाहर भी रहेगा तो उसकेलिये जीव कहता कि गर्भसे बाहर निकले हुए जीवको भगवान्की माया जो किसी प्रकारसे दूर नहीं की जा सकती, वह 'उपसर्पति' समीपमृ आ

जाती है. तब मायासे मोहित जीवको मिथ्यादेहमॄ अहंभाव हो जाता है. उससे जन्म-मरणवाला यह संसार-चक्र हो जाएगा. अर्थात् जन्म लेनेके अनन्तर मरना और मरनेके अनन्तर फिर गर्भमॄ जाना. इसलिये गर्भसे बाहर जाने पर जब पुनः यहां आना पड़ेगा तो यहां (गर्भ)से निकलने पर कौनसा पुरुषार्थ होगा! 'एतद्'का तात्पर्य यह है कि जो यह दीख रहा है वह अवश्य होगा ही।।२०।।

आभास: शंका हो कि यहां रहकर क्या कर सकेगा? उस पर कहते हैं:

तस्माद् अहं विगतविक्लव उद्धरिष्य आत्मानम् आशु तमसः सुहृदात्मनैव ।
भूयो यथा व्यसनम् एतद् अनेकरन्ध्रं मा मे भविष्यद् उपसादितविष्णुपादः।।२१

श्लोकार्थ: अतः मैं व्याकुलताको छोडकर हृदयमॄ श्रीकृष्ण भगवान्के चरणॄको स्थापितकर अपनी बुद्धिकी सहायतासे ही अपनेको बहुत शीघ्र अनेक दुःखॄवाले इस व्यसनसे मुक्त हो जाउंगा।।२१।।

व्याख्यार्थ: यहीं रहकर व्याकुलताको छोड़कर अपनी आत्माके अज्ञान से, अपनी ही आत्मारूप परम सुहृद् भगवान्से ही उद्धार करूंगा. यह आत्मा जो अपनेको देहरूप मान रही है उसे अपने स्वरूपमॄ अब स्थित कर दूंगा. इसकेलिये मुझे सत्संग आदिकी भी अपेक्षा नहीं है क्यॄकि परम उपकारी भगवान् ही सब सम्पादन कर द्रॄगे.

ऐसी आशंका करते हैं कि उद्धारकी क्या आवश्यकता है, यहीं रहकर भगवान्की तरह क्यॄ नहीं स्वतंत्र होता है? इस पर कहते हैं. जिसमॄ अनेक प्रकारके छिद्र हैं ऐसा व्यसन(दुःख) मुझे न हो इसकेलिये यहां(गर्भमॄ) ही रहकर भगवान्के ध्यानरूप उपायको करूंगा जिससे व्यसन नहीं होगा. जब व्यसन हो जायगा तो उसका उपाय कठिन है. यदि यहां(गर्भमॄ) भी व्यसन हो गया तो उसका उत्तर देते हैं 'उपसादितविष्णुपादः'. यहां तो मैंने भगवान्के चरणॄको प्राप्त कर लिया है. गर्भसे बाहर तो माया और मोह लग जायॄगे, अतः वहां तो भगवान्के चरणारविन्दॄकी प्राप्ति होगी अथवा नहीं इसमॄ सन्देह है. इस तरह अपने निश्चय पर्यन्त स्तुति कही. भगवान्की स्तुतिका फल भी कहा. जहां कहीं भी रहकर भगवान्के चरणॄकी 'उपसत्ति(प्राप्ति) करना यही कर्तव्य है।।२१।।

आभास: इस तरह जीवकी उर्ध्वगतिकेलिए बीजसंस्कार कहकर उस तरहके जीवकी ऊर्ध्वगतिको कहनेकेलिए उसके जन्मको कहते हैं:

कपिलः उवाच

एवं कृतमतिर्गर्भो दशमास्यः स्तुवन् ऋषिः।
सद्यः क्षिपत्यवाचीनं प्रसूत्यै सूतिमारुतः।।२२।।

श्लोकार्थः श्रीकपिलदेवजी कहते हैं: वह दस महीनेका जीव गर्भमृ ही जब इस प्रकार विवेकसम्पन्न होकर भगवान्की स्तुति करता है तब उस अधोमुख बालकको प्रसवकालकी वायु तत्काल बाहर जानेकेलिए फूक देती है।।२२।।

व्याख्यार्थः दस महीनेका गर्भस्तुति करता हुआ ऋषि(निश्चय बुद्धि वाला) हो गया है. मन्त्रदृष्टाको 'ऋषि' कहते हैं, जब तक मन्त्रदर्शी न हो तब तक उससे भजन नहीं हो सकता. कृति बलवती है, यह पहले कह चुके हैं. अतः प्रसूतिकी वायु उस ऋषि जीवको भी प्रसवकेलिये नीचेकी ओर फूकती है अर्थात् वह गर्भ अधोमुख जाता है।।२२।।

आभासः उसके अनन्तर क्या होता है उसे कहते हैं:

तेनावसृष्टः सहसा कृत्वाऽवाक्–शिर आतुरः।
विनिष्क्रामति कृच्छ्रेण निरुच्छ्वासो हतस्मृतिः।।२३।।

श्लोकार्थः उस प्रसूतिवायुसे सहसा फूका जाने पर वह बालक अत्यन्त व्याकुल हो नीचे सिर करके कठिनाईसे बाहर निकलता है. उस समय उसके श्वासकी गति रुक जाती है और पहलेकी स्मृति उसकी नष्ट हो जाती है।।२३।।

व्याख्यार्थः उस प्रसूति वायुसे नीचेकी ओर फूका जाने पर अत्यन्त कठिनतासे निकलता इस तरह इसका सम्बन्ध है. 'सहसा'पद इस बातको बताता कि वह सावधान भी नहीं हो सकता. नीचे सिरवाला होकर अथवा नीचा मुंह करके भयसे घबड़ा जानेके कारण पहलेसे ही ऐसा हो जाता है. उसे दुःख प्राप्त हुआ है अतः ऐसी स्थिति हो जाती है. तदनन्तर अतिकठिनतासे निकलता है. बाहर निकलनेका कारण बताते हैं कि 'निरुच्छ्वासः' भीतर उसको श्वास लेनेकी जगह ही नहीं है अतः वह बाहर आता है. उस समय उसकी पूर्वस्मृति(पहिलेकी याददास्त) भी नष्ट हो जाती है. यदि उसको पूर्वस्मृति रहती तो क्रियाकी प्रबलता न होती और यदि पूर्वस्मृति रहती तो साधनशास्त्रृकी आवश्यकता ही न रहती ।।२३।।

आभासः निकलनेके बाद जो वह करता है उसे कहते हैं:

पतितो भुवि विण्मूत्रे विष्ठाभूरिव चेष्टते।
रोरूयति गते ज्ञाने विपरीतां गतिं गतः।।२४।।

श्लोकार्थः पृथ्वीपर माताके मूत्रमृ और स्वयंकी विष्ठा(मल)मृ पडा

हुआ वह बालक विष्ठाके कीडेकी तरह छटपटाता है. उसके गर्भावासका सारा ज्ञान नष्ट हो जाता है और वह विपरीत गति अर्थात् देहाभिमानरूप अज्ञानदशाको प्राप्त होकर बार-बार जोर-जोरसे रोता है।।२४।।

व्याख्यार्थ: विष्ठा(मल) तो उसकी ही होती है और मूत्र गर्भका जल होता है. पीछे पृथ्वीपर पड़ जाता है. पहले वह मलके कीड़ेकी तरह छटपटाता है. क्रियाके बिना ज्ञान अप्रयोजक(व्यर्थ) होता है. इसलिये उसका सारा ज्ञान निष्फल है. उसकी निन्दा की गई है. वह ज्ञान जो इसे गर्भमॄ हुआ था वह ज्ञान उसका ज्ञापक मात्र ही था. वह भी प्रसूतिकी वायुसे उपहृत हो गया(दब गया). अतः खूब रोने लगा. जब ज्ञान चला गया तो उसकी गति अब विपरीत हो गई. ''मैं देह हूं'' ऐसा ज्ञान हो गया. अर्थात् जो पहले गर्भमॄ उसे यह ज्ञान था कि ''मैं देह(संघात)से अलग हूं'' अब वह अपनेको ''मैं देह हूं'' ऐसा मानकर रोने लगा. केवल शब्द मात्र ही करता है, इसलिये 'रोरूयति' ऐसा कहा. जैसे किसीका सर्वस्व चला जाय वह प्राणी चिल्लाता है. इस तरह वह भी शब्द मात्र ही करता है।।२४।।

आभास: उत्पन्न होने पर बाल्यावस्थाके दुःखको कहते हैं:

परच्छन्दं न विदुषा पुष्यमाणो जनेन सः।
अनभिप्रेतम् आपन्नः प्रत्याख्यातुम् अनीश्वरः।।२५।।

श्लोकार्थ: फिर जो लोग उसके अभिप्रायको नहीं समझ सकते उनके द्वारा उसका पालन-पोषण होता है. ऐसी अवस्थामॄ उसे जो प्रतिकूलता प्राप्त होती है उसको मना करनेकी शक्ति भी उसमॄ नहीं होती।।२५।।

व्याख्यार्थ: बालककी इच्छाको न जाननेवाले लोगॊसे वह पोषित होता है. अतः इच्छाके विपरीत सब होता है. भूखके कारण जब बच्चा रोता है उसे औषध देते हैं और जब उसे पीड़ा हो रही हो उस समय अन्न देते हैं. वह इस विपरीतताकेलिये रोक भी नहीं सकता. इसलिये उसे महान् दुःख होता है यह बताया गया।।२५।।

आभास: पीडा और भूख के समय होनेवाले दुःखका निरूपण तो पूर्व श्लोकमॄ किया गया है किन्तु उसे पीडा और भूख न हो उस दशामॄ भी दुःख होता है उसे कहते हैं:

शायितो-ऽशुचि-पर्यङ्के जन्तु-स्वेदज-दूषिते।
नेशः कण्डूयने-ऽङ्गानाम् आसनोत्थान-चेष्टने।।२६।।

श्लोकार्थः जब उस बालकको शिशु अवस्थामृ मैली-कुचैली खाट (चारपाई)पर सुला दिया जाता है तो जिसमृ खटमल आदि स्वेदज जीव चिपटे रहते हैं उसमृ शरीरको खुजलानेकी उठने अथवा करवट बदलनेकी सामर्थ्य न होनेके कारण वह बहुत कष्ट पाता है।।२६।।

व्याख्यार्थः मैले-कुचैले पलंगपर सुला दिया जाता है क्यृकि दस दिन तक सूतिका गृहस्थित पदार्थोंकी शुद्धिका अभाव होता है. ऐसे अपवित्र स्थानमृ उसको ज्ञान भी उत्पन्न नहीं हो सकता. जन्तुसे खटमल आदि और स्वेदज(जूं)से मच्छर आदिसे दूषित होनेसे अत्यन्त उपद्रव होता है. अधर्मके कारण और दुःखके कारण उसे ज्ञान नहीं हुआ यह कहा. अब दुःखके प्रतीकारमृ उसकी अशक्तिको कहते हैं 'नेशः कण्डूयनेऽङ्गानां' शरीरको खुजलानमृे असमर्थ है, बैठने-उठने और चेष्टा करनेमृ भी वह असमर्थ है किन्तु सर्वदा वह पड़ा ही रहता है अतः उसके दुःखृकी निवृत्ति नहीं होती. इससे उसका आध्यात्मिक दुःख बताया गया है।।२६।।

आभासः भौतिक दुःखको कहते हैंः

तुदन्त्यामत्वचं दंशा मशका मत्कुणादयः।
रुदन्तं विगतज्ञानं कृमयः कृमिकं यथा।।२७।।
इत्येवं शैशवं भुक्त्वा दुःखं पौगण्डमेव च।
अलब्धाभीप्सितोऽज्ञानाद् इद्धमन्युः शुचार्पितः।।२८।।

श्लोकार्थः उसकी कोमल त्वचाको डांस, मच्छर और खटमल आदि उसी प्रकार काटते हैं जैसे बडे-बडे कीडेको छोटे कीडे काटते हैं. उस समय उसका गर्भावस्थाका ज्ञान चला जाता है और केवल रोता है. इस प्रकार बाल्य और पौगण्ड अवस्थाओृके दुःख भोग कर वह बालक युवा होता है. उस समय इसे इच्छित भोग यदि प्राप्त नहीं होते हैं तो अज्ञानवश उसका क्रोध उद्दीप्त हो उठता है और वह शोकाकुल हो जाता है।।२७-२८।।

व्याख्यार्थः अपक्व(कच्ची) है त्वचा जिसकी उसको दंश(बड़े मच्छर), डांस, मत्कुण(लाल रंगके खाटके कीड़े) काटते हैं. 'आदि' शब्दसे ओर भी वस्त्रके कीड़े(जूं) आदि. दोनृा हीमृ ज्ञानका अभाव है उसे कहते हैं कि यदि कीड़ृाको यह ज्ञान होता कि हमारे काटनेसे इसे दुःख होता है इसलिये यह रोता है तो उसे नहीं काटते परन्तु रोते हुएको भी काटते ही रहते हैं. शिशुका भी ज्ञान चला गया होता है

अतएव वह भी रोता है. अन्यथा उनके काटनेकी पीड़ाको सह लेता. उसके अनन्तर भी वे कृमि–कीड़े उस बच्चेको अपना ही सजातीय कीड़ा मानकर काटते हैं. उसमॅू दृष्टान्त देते हैं 'कृमयः कृमिकं यथा'. मोटे कृमिको 'कृमिक' कहते हैं. उस कृमिकको छोटे कृमि काटते हैं. अत्यन्त बाल्यावस्थामॅू इस तरहका दुःख होता है. पांच वर्ष तककी शैशव अवस्था है उसमॅू भी इसी प्रकारका दुःख होता है. क्यॉूकि नरकसे जब मनुष्य लोकमॅू आता है तो उसका जन्म विद्वानॉूके यहां अथवा धनवानॉूके यहां नहीं होता किन्तु दरिद्रियॉूके यहां होता है तो उनके घरमॅू ऐसा ही दुःख होता है.

पौगण्ड अवस्थामॅू भी दुःख है. पांच वर्षके बाद नौ वर्ष पर्यन्त पौगण्ड अवस्था मानी गई है. उसमॅू भी इसी प्रकारका दुःख है. अतः दुःखसे अभिभूतको ज्ञान नहीं हो सकता. यह इसका भाव है. कदाचित् युवा अवस्थामॅू उसे ज्ञान हो जायगा ऐसी आशंका हो तो वह भी नहीं होता. उस अवस्थामॅू भी काम आदि बाधक होते हैं. उसीको 'अलब्धाभीप्सितः'से बताया है. जवानीमॅू वह जिसको चाहता है उसे यदि उसकी प्राप्ति नहीं होती तो उसका क्रोध बढ़ जाता है. किसीको चाहना भी अज्ञान ही है और अज्ञानसे ही उसका क्रोध बढ़ता है. बढ़े हुए क्रोधसे अथवा शोकसे वह उनके अर्पित हो जाता है. काम, क्रोध और शोक जब उत्पन्न होते हैं तो ज्ञानको उत्पन्न नहीं होने देते ।।२७–२८।।

आभासः इसके बाद जैसे ही वह पुष्ट होता है उसका ज्ञान भी सुतरां नष्ट हो जाता है. ज्ञान नाशके उन हेतुओॅूको कहते हैं:

सह देहेन मानेन वर्धमानेन मन्युना।
करोति विग्रहं कामी कामिष्वन्ताय चात्मनः।।२९।।

श्लोकार्थः ज्यॉू–ज्यॉू उसकी देह बढती जाती है त्यॉू–त्यॉू उसका अभिमान और क्रोध भी बढता जाता है जिससे कामके अधीन होकर (वह) जीव अपना ही नाश करनेकेलिए कामी पुरुषॉूके साथ वैर करता है।।२९।।

व्याख्यार्थः जिस तरह देह बढ़ती है उसी तरह उसका अभिमान और क्रोध भी बढ़ता है. क्रोधकेलिये तो देह वृद्धिकी भी आवश्यकता नहीं है. अभिमानको ही देह वृद्धिकी आवश्यकता है इसलिये 'मन्युना' पदसे क्रोधको अलग कहा है. अपने ही अन्तकेलिये कामियॉूसे शत्रुता(लड़ाई) करता है. जब एक ही वस्तुके विषयमॅू अनेकॉूकी कामना होती है तब अनेक बलवानॉूसे दूसरा मारा जाता है. तब पूर्ववत्

ही स्वतन्त्ररूपसे सुकृतका अभाव होनेसे इष्ट सिद्धि नहीं होती।।२९।।

आभास: वाक्यसे यदि ज्ञान नहीं होता है तो उसकी बात तो दूर रही परन्तु प्रत्यक्ष देखने पर भी जहां ज्ञान नहीं होता वहां क्या कहा जाए! फिर अन्यसे किससे होगा? इसे दो श्लोकाृसे कहते हैं:

भूतैः पञ्चभिरारब्धे देहे देह्यबुधोऽसकृत्।
अहं ममेत्यसङ्ग्राहः करोति कुमतिर्मतिम्।।३०।।

श्लोकार्थ: खोटी बुद्धिवाला वह अज्ञानी जीव पञ्चभूताृसे रचे हुए इस देहमृ मिथ्या आग्रहके कारण निरन्तर 'मैं' और 'मेरेपन'का अभिमान करने लगता है।।३०।।

व्याख्यार्थ: आकाश आदि पञ्चमहाभूताृसे आरम्भ किये गये शरीरमृ यह जीव जो देहके अभिमानवाला है वह पूर्वज्ञानसे रहित होकर निरन्तर ''यह मैं हूं'' और ''यह मेरा है'' ऐसी बुद्धि करता है. क्याृकि यह कुबुद्धि है. शरीरमृ महाभूताृसे उत्पत्ति होना प्रत्यक्ष दीखता है. इस तरह प्रत्यक्ष देखे गयेको भी जो नहीं जानता है तो वह तो मूर्ख ही है. उसके अबोध होनेमृ कारण है: वह देहाभिमानी है. सर्वदा वासनाके वशसे उसके देहको भौतिक जानते हुए भी मैं और मेरा अभिमान होता है. यह अभिमान स्वतः नहीं मिटता क्याृकि अभिमान निरन्तर रहता है. जिसकी निरन्तर स्थिति हो उसकी निवृत्ति कैसे हो? दूसरा उसे समझावे तो भी नहीं समझता क्याृकि 'असद्ग्राहः'. उसका ऐसा आग्रह है कि दूसरेकी बातको माननेकेलिये कभी तैयार नहीं. स्वयं यदि किसी युक्तिके अनुसन्धानसे उसका यह आग्रह छूट जाएगा यह भी असम्भव है, क्याृकि वह तो कुमति है, कुबुद्धि है उसे कभी अच्छी बात सूझेगी ही नहीं।।३०।।

आभास: इस तरह देहमृ अहंता और ममता बुद्धि जब स्थिर हो जाती है तब जो होता है उसे कहते हैं:

तदर्थं कुरुते कर्म यद् बद्धो याति संसृतिम्।
योऽनुयाति ददत् क्लेशम् अविद्याकर्मबन्धनः।।३१।।

श्लोकार्थ: यह उसी शरीरकेलिए कर्म करता है. जो शरीर इसे अनेक प्रकारके क्लेश देता है और अविद्याके द्वारा उसी देहके कर्मसे बंधा रहनेके कारण जन्म-मरणरूप संसारको प्राप्त करता है।।३१।।

व्याख्याार्थ: देहकेलिये कर्म करता है और कर्मसे बंधकर जन्म-मरणरूप

संसारको प्राप्त करता है. 'योऽनुयाति'का तात्पर्य यह है कि देहकेलिये जैसे ये कर्म करता है, उससे विरक्त नहीं होता, उसी तरह देह भी इसे नहीं छोड़ती. देह सर्वदा क्लेश देती हुई पीछे लगी रहती है क्यूंकि वह आत्मासे बंधा हुआ है. पहले तो अविद्या होती है, उसके बाद काम, और उसके पश्चात् कर्म होते हैं. उन कर्मोंसे ही उसका बन्धन है. इस तरह देहके अभिमानसे वह नष्ट होता है यह इसमूं कहा गया।।३१।।

आभास: बुद्धिमूं अहन्ता–ममता स्थिर हो जाए और उसके ऊपर फिर असत्संग हो जाए तब तो नष्ट ही हो जाता है:

यद्यसद्भि: पथि पुन: शिश्नोदर–कृतोद्यमै: ।
आस्थितो रमते जन्तु: तमो विशति पूर्ववत्।।३२।।

श्लोकार्थ: संसारमार्गमूं चलते हुए यदि इसका कदाचित् जिह्वा और उपस्थ इन्द्रियके भोगोंमूं लगे हुए विषयी पुरुषोंका समागम हो जाए और उनका अनुगमन करने(पीछे चलने) लगता है तो उसकी भी पूर्ववत् ही स्थिति होती है।।३२।।

व्याख्यार्थ: पुनः पूर्वोक्त ही संसारमार्गमूं असत्पुरुषोंके साथ रहते हुए रमता है तो पूर्ववत् ही तम(अंधकार)मूं प्रवेश करता है. उसकेलिये विशेष कहनेकी आवश्यकता नहीं है, क्यूंकि इसकेलिये पहले बहुत कुछ कहा जा चुका है. 'असद्भिः'मूं षष्ठीके अर्थमूं तृतीया है. असत्पुरुषोंका ऐसा अर्थ होगा. असत् पुरुषका लक्षण बताते हैं: 'शिश्नोदरकृतोद्यमैः'. जिनका उपस्थइन्द्रिय और पेट भरनेकेलिये ही उद्यम होता है, भगवान्केलिये नहीं, वे असत् कहे जाते हैं. इस लक्षणसे सब गृहस्थ असत् हैं, यह कहा गया. गृहस्थके अतिरिक्त भी जो इस तरहके हैं वे सभी निश्चितरूपसे असत् हैं. जो अवर्जनीयतासे रहता है. अथवा जो उनमूं अनुराग नहीं करता उन दोनूं तरहके जीवोंका विनाश नहीं होता. 'जन्तुः' कहनेका आशय यह है कि वह अल्पबुद्धि है. इसीसे तो असत्पुरुषोंमूं अनुराग करता है।।३२।।

आभास: असज्जनोंके संगका दोष कहते हैं:

सत्यं शौचं दया मौनं बुद्धि: श्रीर्ह्रीर्यश: क्षमा ।
शमो दमो भगश्चेति यत् सङ्गाद् याति संक्षयम्।।३३।।

श्लोकार्थ: जिनके संगसे सत्य शौच(पवित्रता), दया, मौन, बुद्धि, धन,

लज्जा, यश, क्षमा, शम और दम तथा ऐश्वर्य इनका नाश हो जाता है।।३३।।

व्याख्यार्थ: पुरुषमृ बारह गुण मोक्षमृ अन्तरङ्ग हैं. उनसे मोक्ष होता ही है. वे सब नष्ट हो जाते हैं. उन्हृ गिनाते हैं.

१.सत्य= यथार्थता. शरीर, वाणी और मनमृ रहती है वह नष्ट हो जाती है.

२.शौच= शरीर, वाणी और मनकी पवित्रता वह भी नष्ट हो जाती है.

३.दूसरेके दुःखको दूर करनेकी इच्छा दया है.

४.व्यर्थकी बातृ न करना मौन है.

५.भगवन्मार्ग विषयक अथवा सन्मार्ग विषयक बुद्धि.

६.श्री=धन और शोभा. ७.ह्री=लज्जा.

८.यश=कीर्ति. ९.क्षमा=शांति.

१०.शम=मनका निग्रह. ११.दम=इन्द्रियृका निग्रह.

१२.भग=भाग्य तथा ऐश्वर्य आदि भगवद्धर्म.

ये सब असज्जनृके सङ्ग मात्रसे चले जाते हैं।।३३।।

आभास: मोक्ष चाहनेवालेको असज्जनृका संग नहीं करना चाहिए ऐसा कहते हुए असज्जनृकी विशेषता कहते हैं:

तेष्वशान्तेषु मूढेषु खण्डितात्मस्वसाधुषु।
सङ्गं न कुर्याद् शोच्येषु योषित् क्रीडामृगेषु च।।३४।।

श्लोकार्थ: उन अत्यन्त शोचनीय स्त्रियृके खिलौने क्रीडामृग, अशान्त, मूढ और देहको आत्मा जाननेवाले असत्पुरुषृका संग कभी भी नहीं करना चाहिए।।३४।।

व्याख्यार्थ: जिस भगवत्सम्बन्धी भगवद्भक्त छः गुणृसे युक्त होते हैं उसी तरह असज्जन भी हैं. असत् ही हैं मूल जिनका ऐसे दैन्यरूप छः दोषृसे युक्त होते हैं, वे असज्जन हैं. वे छः दोष कहे जाते हैं.

१.उनके अन्तःकरणमृ कभी शान्ति नहीं होती. इससे उनमृ सत्त्वगुणका अभाव है यह कहा गया.

२.प्रायः जो सबमृ होता है वह रजोगुण भी उनमृ नहीं होता. ऐसे शास्त्रार्थज्ञानसे रहित मूढ होते हैं.

३.विषयृसे खण्डित हो गई है आत्मा जिनकी. पूर्व और परके अनुसन्धानके अभावसे आत्मा खण्डित हो जाती है.

४.अनाचारी, असज्जन इस तरह चार दोषॄको बताकर अब ये चार दोष पुरुषार्थके बाधक हैं. इसलिये इनका निषेध कहते हैं.

५.सज्जनॄकेलिये वे शोचनीय हैं क्यॄकि बुद्धिके होने पर भी भगवान्का उन्हॄ ज्ञान नहीं है.

६.स्त्रियॄकेक्रीडामृग(खिलोने) हैं.

ये असज्जनॄके छःलक्षण हैं. इनमॄ एक-एक लक्षण भी असज्जनताका साधक है. वह 'च'से बताया गया है।।३४।।

आभास: उनमॄ भी स्त्रीसंगीका संग नहीं करना हैं उनका और मुख्यरूपसे स्त्रियां असत् शब्दसे कही जाती हैं, उनका संग न करना उसे कहते हैं:

न तथाऽस्य भवेद् मोहो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः।
योषित् सङ्गाद् यथा पुंसो यथा तत्सङ्गि-सङ्गतः।।३५।।

श्लोकार्थ: जीवको अन्य किसीके संगसे वैसा मोह और बन्धन नहीं होता जैसा स्त्री और स्त्रियॄके संगियॄका संग करनेसे होता है।।३५।।

व्याख्यार्थ: मोक्षको चाहनेवाले इस पुरुषको धन, ऐश्वर्य, वस्त्र आदिसे भी वैसा मोह नहीं होता जैसा स्त्रियॄके संगसे होता है. 'पुंसः' यह पद उसकी प्रतियोगिता(पुरुषमॄ स्त्रीत्वका अभाव है)को बताता है अथवा जिस तरह स्त्रियॄके संगियॄका संग स्त्रियॄके संगकी अपेक्षा भी नाशक है क्यॄकि वह उपायपूर्वक नाश करनेवाला है।।३५।।

आभास: स्त्रीजाति ही पुरुषका विनाश करनेवाली है उसमॄ व्यभिचार आदि दोष हो तब ही वह नाशक है ऐसा नहीं है इसे कहने(बताने)केलिए कहते हैं:

प्रजापतिः स्वां दुहितरं दृष्ट्वा तद्रूपधर्षितः।
रोहिद्भूतां सोऽन्वधावद् ऋक्षरूपी गतत्रपः।।३६।।

श्लोकार्थ: एक बार अपनी पुत्री सरस्वतीको देखकर ब्रह्माजी भी उसके रूप लावण्यसे मोहित हो गऐ थे और उसके मृगीरूप होकर भागने पर उसके पीछे निर्लज्जतापूर्वक मृगरूप होकर दौडने लगे थे।।३६।।

व्याख्यार्थ: इसकी कथा इसी स्कन्धके १२वॄ अध्यायके २०वॄ श्लोकमॄ कही गई है. 'स्वां दुहितरम्' अपनी वाणी(सरस्वती)को उसके रूपसे धर्षित (गत्तविवेक) हो गये. सरस्वतीने अपने रूपका परित्याग करके मृगीके रूपको धारण कर लिया था तथापि ब्रह्माजीने अपने आपको नष्ट कर दिया. अर्थात् उसके

मृगी बनने पर ब्रह्माजी मृग बनकर उसके पीछे दौड़े. रोहित और ऋक्ष दोनॄ एक ही जातिके हैं और स्त्री–पुरुषवाचक हैं. 'गतत्रपः'इसलिये कहा कि मरीचि आदिके देखते हुए भी ब्रह्माजी नग्न ही, सब अवयव जिनके प्रत्यक्ष दीख रहे थे इस, अवस्थामॄ अपनी पुत्रीके पीछे दौड़े थे।।३६।।

आभास: इसलिए स्वरूपसे कोई स्त्रीका संग होने पर दोषरहित होगा ऐसी आशंका ही न करना, उसे कहते हैं:

तत्सृष्ट–सृष्ट–सृष्टेषु को न्वखण्डितधीः पुमान्।
ऋषिं नारायणम् ऋते योषिन् मय्येह मायया।।३७।।

श्लोकार्थ: उन ब्रह्माजीने मरीचि आदि प्रजापतियॉकी तथा मरीचि आदिने कश्यपादिकी और कश्यप आदिने देवता,मनुष्य आदि सब प्राणियॉकी सृष्टि की. उन सबमॄ केवल एक ऋषिप्रवर नारायणको छोडकर ऐसा कौन पुरुष हो सकता है जिसकी बुद्धि स्त्रीरूपिणी मायासे मोहित न हो।।३७।।

व्याख्यार्थ: उन ब्रह्माजीने जिनकी सृष्टि की है वे मरीचि आदि और उन मरीचि आदिने जिनकी सृष्टि की है वे कश्यप आदि और उनने जिसकी सृष्टि की है वह सारा ही जगत्. 'को नु' यह वितर्कमॄ है. अर्थात् ऐसा कौन है जिसकी बुद्धि खण्डित न हुई हो. अर्थात् वैसा कोई भी नहीं है. केवल है तो एक नारायण है, यह एकादश स्कन्धमॄ कहा जायगा. वह स्त्री केवल (बुद्धिका नाश) नाश करती है इतना नहीं किन्तु उसमें भगवान्की आधिदैविकी माया ने प्रवेश किया है. वह माया स्त्रीमयी है. वह नष्ट करती है. वह भगवन्माया सर्वसाधनरूप होते हुए भी 'योषितपन'(स्त्रीपन) उसमॄ मुख्य है. यद्यपि मार्कण्डेयजी भी योषितरूप मायासे खण्डित बुद्धि नहीं हुए थे किन्तु कल्पान्तरमॄ वे भी अखण्डित नहीं रहॄगे इसलिये ऐसे केवल नारायण ही हैं, ऐसा कहा गया।।३७।।

आभास: स्त्रियॄमॄ मायात्वका उपपादन(सिद्ध) करते हैं:

बलं मे पश्य मायायाः स्त्रीमय्या जयिनो दिशाम्।
या करोति पदाक्रान्तान् भ्रूविजृम्भेण केवलम्।।३८।।

श्लोकार्थ: मेरी मायाके बलको देखो. यद्यपि सब रूपवाली माया बलिष्ठ है परन्तु स्त्रीमयी माया अति बलिष्ठ है. उसका बल कहते हैं. जो सब दिशाओॄको जीत लेते हैं उनको भी स्त्रियां जीत लेती हैं।।३८।।

व्याख्यार्थ: मेरी मायाके बलको देखो. यद्यपि सब रूपवाली माया

बलिष्ठ है परन्तु स्त्रीमयी माया अतिबलिष्ठ है. उसका बल कहते हैं. जो सब दिशाओंको जीत लेते हैं उनको भी स्त्रियां जीत लेती हैं।।३८।।

आभास: सामान्यतः स्त्रीसंगको दूषित करके योगमें तो स्त्रीका संग अत्यन्त बाधक है यह कहते हैं:

सङ्गं न कुर्यात् प्रमदासु जातु योगस्य पारं परमारुरुक्षुः ।
मत्सेवया प्रतिलब्धात्मभावो वदन्ति यां निरयद्वारम् अस्य।।३९।।

श्लोकार्थ: जो पुरुष योगके परमपदपर आरूढ होना चाहता हो अथवा जिसे मेरी सेवाके प्रभावसे आत्मा-अनात्माका विवेक हो गया हो वह स्त्रियोंका संग कभी न करे. क्योंकि स्त्रियोंका संग उन पुरुषोंकेलिए नरकका खुला द्वार बताया गया है।।३९।।

व्याख्यार्थ: 'प्रमदासु'का आशय यह है कि जो स्त्रियां साधनोंके द्वारा सुरूप हो उन तरुणियोंका निषेध है. 'जातु'का अर्थ है कभी भी. जो योगके पर पारको प्राप्त करना चाहता है. सङ्गत्यागमें किस सामर्थ्यकी आवश्यकता है उसे बताते हैं, 'मत्सेवया प्रतिलब्धात्मभाव:'. मेरी सेवासे प्राप्त किया है आत्मभाव (भगवद्भाव) जिसने, वह सङ्ग त्याग कर सकता है अन्यथा तो स्त्रीरूपी माया मोहित कर ही देती है. योग अपनी आत्माका योजक है. इसी आत्माको संस्कार-विशेषोंसे भगवद्भाव पर्यन्त योग ही ले जाता है. योगका स्थान 'रेतस्'(शुक्र) ही है. ''अन्नमय मन है'' ऐसा श्रुतिने सिद्ध किया है और रेतस् मनोरूप है. मनोरूप होनेके कारण चित्तके साथ उसका भेद नहीं है और योग चित्तकी वृत्तियोंका निरोधरूप है. अतः योगकी स्थिति रेतस्(चित्त)में ही है. वह रेतस्(शुक्र) यदि असत्में प्रविष्ट हो तो नरकमें ले जाता है. इसलिये इस योगका जिस स्त्रीको नरकका द्वार बताया गया है उसका संग कभी न करें. इसकेलिये स्वतः उद्यमका निवारण किया है, यह शास्त्रसे जाना गया है।।३९।।

आभास: ''स्त्री यदि स्वतः आई हो तो अन्य शास्त्रोंके अनुरोधसे उसके संगमें बाधा नहीं है'' इस आशंका पर कहते हैं:

योपयाति शनैर्माया योषिद् देवविनिर्मिता ।
ताम् ईक्षेतात्मनो मृत्युं तृणैः कूपमिवावृतम्।।४०।।

श्लोकार्थ: भगवान्की रची हुई यह स्त्रीरूपिणी माया धीरे-धीरे सेवा आदिके मिस(बहाने)से पास आती है. इसे घांसके ढके हुए कुएंके समान अपनी

मृत्यु ही समझ्।।४०।।

व्याख्यार्थ: धीरे-धीरे हृदयमृ प्रवेश करती हुई वह स्त्रीरूपी माया ही है. जीवको मोहित करनेकेलिये ही भगवान्ने बनाई है. जब वह व्यामोहक है ऐसा सिद्ध हो जाता है तो स्वयंमृ असुरत्व भी सिद्ध हो जायगा. फिर तो अन्धतम संसार होता है. इसलिये स्त्रीरूपिणी मायाको अपनी मृत्युके रूपमृ देखें. ऊपर-ऊपरसे वैसा ज्ञान नहीं होता उसका कारण यह है कि 'तृणैः कूपमिवावृतम्'. हाथीको पकड़नेवाले पहले एक कुआ खोदते हैं. उसे घाससे ढक देते हैं. पासमृ एक बनावटी हथिनीको खड़ी कर देते हैं. हाथी उस हथिनीको देखकर ज्यृ ही आता है, कुएंमृ गिर जाता है और पकड़नेमृ आ जाता है. ऐसे ही पुरुष उस स्त्रीरूपिणी मायासे आकृष्ट होकर बन्धनमृ पड़ जाता है।।४०।।

आभास: ऊपरका दृष्टान्त तो अन्य स्त्रीके विषयमृ मानना चाहिए अपनी स्त्रीमृ तो बन्धन नहीं होगा इस पर कहते हैं:

यां मन्यते पतिर्मोहाद् मन्मायाम् ऋषभायतीम्।
स्त्रीत्वं स्त्रीसङ्गतः प्राप्तो वित्तापत्य-गृहप्रदम्।।४१।।

श्लोकार्थ: मेरी मायाको पति अपनी भार्यारूपमृ मानता है और भार्या मेरी ही मायाको जो पतिरूपमृ भासित होती है उसे पति मानती है. अथवा स्त्रीमृ आसक्त रहनेके कारण तथा अन्तमृ स्त्रीका ही ध्यान रहनेसे जीवको स्त्रीयोनि प्राप्त होती है. इस तरह स्त्रीयोनिको प्राप्त हुआ जीव पुरुषरूपमृ प्रतीत होनेवाली मेरी मायाको ही धन, पुत्र और गृह आदि देनेवाला अपना पति मानता रहता है।।४१।।

व्याख्यार्थ: पति, जिस मेरी मायाको भार्यारूपसे मानता है और भार्या पुरुषरूपमृ प्रतीत होनेवाली मेरी मायाको पतिरूपमृ मानती है. इस तरह दोनृमृ अन्योन्य माया है अर्थात् पुरुषकेलिये स्त्री माया और स्त्रीकेलिये पुरुष माया है. यदि 'पतिम्' ऐसा पाठ हो तो इस श्लोकमृ स्त्रीको ही उपदेश है ऐसा समझना. आशंका हो कि स्त्रीकी तो मुक्ति होती ही नहीं तो उसे उपदेश देना व्यर्थ है, इस पर कहते हैं कि 'स्त्रीत्वं स्त्रीसङ्गतः प्राप्तः'. जीव स्वभावसे स्त्रीरूप नहीं है किन्तु स्त्रीके सङ्गसे वह स्त्रीपनको प्राप्त हो गया है अतः उस(जीव)का पति माया है और वह पति(माया) 'वित्तापत्यगृहप्रदं' है अर्थात् वह पति स्त्रीको धन, संतान और घररूप संसार स्त्रीकेलिये उत्पन्न कर देता है।।४१।।

आभास: पूर्व संस्कारवशसे आत्मज्ञान हो जाने पर पातिव्रत्य स्वधर्म यदि

उसका परित्याग किया जाएगा तो उसमॄ दोष होगा या नहीं ऐसी शंका न करना, किन्तु उस पतिको अपनी मृत्यु ही जानना ऐसा कहते हैं:

तम् आत्मनो विजानीयात् पत्यपत्यगृहात्मकम्।
दैवोपसादितं मृत्युं मृगयोर्गायनं यथा।।४२।।

श्लोकार्थ: जिस प्रकार व्याधका गायन कानॄको प्रिय लगने पर भी पशु-पक्षियॄको फंसा कर उनके नाशका ही कारण होता है उसी प्रकार पति, संतान, घर आदिको विधाताकी निश्चित की हुई मृत्यु ही जानें।।४२।।

व्याख्यार्थ: पति, सन्तान और घर ये ही जिसके रूप हैं उसे ही अपनी मृत्यु जानना चाहिये. पहले ही प्रारब्धवश ऐसा हुआ है और अब भी ऐसा होनेसे सर्वथा नाश ही है. इस तरह बार-बार प्रवृत्त होनेसे उसे प्रारब्धसे प्राप्त मृत्यु ही जाने. यदि ऐसी आशंका हो कि जिन पति आादिको तुम मृत्यु बता रहे हो वे तो अनुभवसे और उनके अनुसारी वाक्यॄसे आनन्दको उत्पन्न करनेवाले हैं ऐसा अनुभव हो रहा है. ऐसा होने पर उन्हॄ मृत्यु कैसे बताया? इसका उत्तर देते हैं 'मृगयोर्गायनं यथा'. यद्यपि व्याध(शिकारी) हरिणॄको पकड़ता है और उन मृगॄसे क्रीड़ा करता है. जङ्गलकी अपेक्षा उन्हॄ गांवमॄ होनेवाले उत्तम पदार्थ खानेको देता है और कानॄको अच्छा लगनेवाला गाना भी उन्हॄ सुनाता है परन्तु इतना होने पर भी वह है तो बन्धक(कैद करनेवाला). परतन्त्रता महान् दुःखका कारण है. अतः ऐहिक(लौकिक) सुख और पारलौकिक सुख जो इनके प्रसङ्गसे उत्पन्न होते हैं वे सब बन्धनके हेतु हैं. अतः उनकी उपेक्षा करनी चाहिये।।४२।।

आभास: इस तरह सब संगदोषॄका निरूपणकर, देहदोषका निरूपण चार श्लोकॄसे करते हैं:

देहेन जीवभूतेन लोकाद् लोकम् अनुव्रजन्।
भुञ्जानएव कर्माणि करोत्यविरतं पुमान्।।४३।।

श्लोकार्थ: जीवके उपाधिभूत लिंगदेहके द्वारा पुरुष एक लोकसे दूसरे लोकमॄ जाता है और अपने प्रारब्ध कर्मोंको भोगता हुआ निरन्तर अन्य देहॄकी प्राप्तिकेलिए दूसरे कर्म करता रहता है।।४३।।

नित्यास्मात् संसृतिः पुंसः तथापि वशगो ह्ययम्।
दोषार्थमेव तच्चापि न द्वाभ्यां साधनं क्वचित्।।का. १।।

कारिकार्थ: देहदोषसे ही इस जीवको नित्य संसार होता है तथापि यह

उसीके वशमॄ रहता है. वह वशमॄ रहना भी दोषकेलिए है. इन दोनॄसे कोई साधन भी नहीं होता है।।१।।

व्याख्यार्थः सर्वप्रथम इसको संसार देहकृत ही है इसे कहते हैं. जीव स्थानको प्राप्त देह(लिङ्ग शरीर)से एक लोकसे दूसरे लोकमॄ जाता है और कर्मके फलको भोगता हुआ निरन्तर कर्मोंको करता है. इससे देहके तीन दोषॄका निरूपण किया.

१.निरन्तर घूमना–एक जगह न रहना. २.कर्मफलका भोग.

३.कर्मका करना.

अन्तमॄ कर्मका निरूपण किया है, इससे देहकी पुनरावृत्तिका भी निरूपण होता है।।४३।।

आभासः दोषकेलिए यह वशमॄ हुआ है इसे कहते हैं:

जीवस्य ह्यनुगो देहो भूतेन्द्रियमनोमयः।
तन्निरोधोऽस्य मरणम् आविर्भावस्तु सम्भवः।।४४।।

श्लोकार्थः जीवका उपाधिभूत लिंगशरीर तो मोक्षपर्यन्त उसके साथ रहता है तथा भूत, इन्द्रिय और मन का कार्यरूप स्थूल शरीर इसका भोगाधिष्ठान है. इन दोनॄका परस्पर संगठित होकर कार्य न करना ही प्राणीकी मृत्यु है और दोनॄका साथ–साथ प्रकट होना जन्म कहलाता है।।४४।।

व्याख्यार्थः यह देह भूतेन्द्रियमनोमय है अर्थात् आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक रूप है. चैतन्यके बिना वह देह किसी कार्यके करनेमॄ समर्थ नहीं होती इसलिये वह चैतन्यरूप जीवके पीछे लगी रहती है. यह उचित भी है. अचेतन(देह) चेतनकी अपेक्षा रखती है ऐसा होनेसे जो दोष होता है उसे कहते हैं. 'तन्निरोधो अस्य मरणं' जन्म–मरणमॄ दोष आता है. उसमॄ मरणका स्वरूप यह बताते हैं, देहका निरोध होना ही जीवका मरण है. नितरां रोधको 'निरोध' कहते हैं. अर्थात् सजातीय प्रवाहकी उत्पत्ति न होना निरोध है. धर्मान्तरसे सहकृत सूक्ष्म उसके अवयवॄसे उसके आगे किसीकी उत्पत्ति न होना निरोध है. भूतविशिष्ट इन्द्रिय और मनसे ये अलग ही है, ये तो अन्य ही हैं. देहके निरुद्ध होने पर देहाभिमानी जीवकी मृत्यु कही जाती है. 'मृङ्' धातुका प्राण त्याग अर्थ है. अतः जिस प्रयत्नके द्वारा प्राण धारण होता है वह प्रयत्न शरीर आदिसे ही साध्य होता है अर्थात् शरीरादिसे ही प्राणका धारण होता है. शरीर आदिका

निरोध हो जाने पर उनका प्रयत्न भी चला जाता है तब उसकी मृत्यु कही जाती है. तथापि अन्य शास्त्रामृ देह और प्राणका वियोग होना ही मृत्यु है परन्तु सूक्ष्म विचारसे देखा जाय तो शरीरादिमृ जब प्राण धारणका प्रयत्न नहीं रहता तो उसे ही मृत्यु कहते हैं. जिसकी अपमृत्यु होती है वहां तो शरीरादिमृ प्राण धारण प्रयत्न रहता है वहां क्यामृ मृत्यु होती है? उसकी व्यवस्था ऐसे समझना कि काल कर्म और स्वभाव ये अपने-अपने देवताआमृके अधिकारमृ हैं और ये ही उनके नियामक हैं. इसलिये उनकी बलिष्ठतासे देहका प्रयत्न रहते हुए भी उसकी मृत्यु हो जाती है.

इस तरह मृत्युका स्वरूप बताकर अब उत्पत्तिका स्वरूप बताते हैं 'आविर्भावस्तु सम्भवः' देहका आविर्भावको ही जीवकी उत्पत्ति कहते हैं. सब जगह भगवत्स्वरूपमृ सब पदार्थ है यह पहले कहा जा चुका है. अतः जहां जितनी दूरी पर पदार्थोंको भगवान् प्रकट करना चाहते हैं वहीं पर उसी जगह उनका आविर्भाव(प्रकट) होता है और जहां कारणामृ निविष्ट(रहनेवाले) देहका भगवान् अविर्भाव करना चाहते हैं वहीं पर वह आविर्भूत(प्रकट) होता है इस तरह उत्पत्ति कही गई है।।४४।।

१. मन अन्नमय है जैसा कि श्रुतिमृ बताया है 'अन्नमयं हि सौम्य मन आपोमयः प्राणः तेजोमयी वाक्'. हे सौम्य मन अन्नमय है, प्राण जलमय है और वाणी तेजोमय है इसी न्यायसे इन्द्रियामृकी भी वृद्धि और उत्पत्तिमृ भी इनको देहसे भिन्न समझना चाहिये-(प्रकाश)

आभास: शंका होती है कि जब उत्पत्ति और प्रलय(मरण) देहका होता है तो जीवकी उत्पत्ति अथवा मृत्यु क्यामृ कही जाती है? उस पर कहते हैं:

द्रव्योपलब्धि-स्थानस्य द्रव्येक्षा-योग्यता यदा।
तत् पञ्चत्वम् अहंमानाद् उत्पत्तिर्द्रव्यदर्शनम्।।४५।।

श्लोकार्थ: द्रव्यामृकी उपलब्धि(प्राप्ति)के स्थानरूप इस स्थूल शरीरमृ जब उनके ग्रहण करनेकी योग्यता नहीं रहती यह उसका मरण है और स्थूल शरीर ही 'मैं हूं' इस अभिमानके साथ उसे देखना उसका जन्म है।।४५।।

व्याख्यार्थ: रूप आदि द्रव्य हैं, उनकी उपलब्धि. ज्ञानका जो स्थान गोलकरूप है उसमृ जब द्रव्यको देखनेकी योग्यता नहीं होती है. जैसे चक्षुमृ काच(मोतिया), कामला आदि हामृ तब नेत्रमृ देखनेकी योग्यता नहीं रहती. तब

देखनेवालेकी भी योग्यता नहीं रहती. गोलकके आच्छन्न(आवृत्त) हो जाने पर प्रमाण और प्रमाता दोनूमृ अयोग्यता हो जाती है, उसीको 'द्रष्टृत्वायोग्यता-नयोः'से कहा है. अर्थात् देखनेमृ जो देखनेवाला है उसकी ओर देखनेमृ सहायक नेत्र उन दोनूमृ देखनेकी योग्यता नहीं रहती. करण(नेत्र) और कर्त्ता इन दोनूमृ अयोग्यता होती है. यह एक श्लोक पाठ रखने पर अर्थ होता है जब दो श्लोकूका पाठ रखते हैं तो उस समय 'सब द्रव्यव्यवहारके साधक देहकी जब द्रव्यको देखनेमृ सर्वद्रव्यव्यवहार अयोग्यता होती है उसे मरण कहा जाता है' ऐसा अर्थ होता है. जिसका जो स्वभाव होता है वह यदि सर्वात्मरूपसे निवृत्त हो जाता है तब वह कारणमृ लीन हो गया है ऐसा जानना चाहिये. उसी तरह पञ्चमहाभूतूसे आविर्भूत यह देह अपना काम नहीं करता तब वह अपने कारणपनमृ आ जाता है, अर्थात् देह पृथिवी आदि पांचभूतूसे आविर्भूत होता है और काम करने लगता है, जब काम करना बंद कर देता है तो पुनः अपने कारणरूपमृ हो जाता है, पञ्चताको प्राप्त हो जाता है. जीवकी मृत्यु तो वह अपनेको देहरूप मानता है, इस अहंत्वके कारण होती है और जब द्रव्यूकी उपलब्धि होती है उसमृ श्वास आदि कार्य करनेकी सामर्थ्य आ जाती है उसे ही देहकी उत्पत्ति कहा जाता है. शरीरमृ प्रवेश करके शरीरके अभिमानी जीवकी भी उत्पत्ति कही जाती है।।४५।।

आभासः उसमृ दृष्टान्त कहते हैं:

यथाऽक्ष्णोर्द्रव्यावयव-दर्शनायोग्यता यदा।
तदैव चक्षुषो द्रष्टुः द्रष्टृत्वायोग्यताऽनयोः।।४६।।

श्लोकार्थः नेत्रूमृ जब किसी दोषके कारण रूपादिको देखनेकी योग्यता नहीं रहती तभी उनमृ रहनेवाली चक्षु इन्द्रिय भी रूप देखनेमृ असमर्थ हो जाती है और जब नेत्र और उनमृ रहनेवाली इन्द्रिय दोनू ही रूप देखनेमृ असमर्थ हो जाते हैं तभी इन दोनूके साक्षी जीवमृ भी वह योग्यता नहीं रहती।।४६।।

व्याख्यार्थः आंखूके दोनू गोलकूमृ द्रव्यके अवयव जो रूपादि हैं उनको देखनेकी जब उसमृ योग्यता नहीं रहती. काच, कामला आदि तभी आंखको रूप दर्शनमृ अयोग्यता होती है।।४६।।

आभासः इस तरह सबके बाधक होने पर क्या करना चाहिए? इस चिन्ताका परिहार करते हुए शास्त्रार्थका त्याज्य और कर्त्तव्य इस भेदसे दो श्लोकूमृ उपसंहार करते हैं, उनमृ पहले त्याज्यको कहते हैं:

तस्माद् न कार्यः संत्रासो न कार्पण्यं न सम्भ्रमः।
बुद्ध्वा जीवगतिं धीरो मुक्तसङ्गश्चरेद् इह।।४७।।

श्लोकार्थः अतः मुमुक्षुको मरण आदिसे भय, दीनता अथवा मोह नहीं होने चाहिए. उसे जीवके स्वरूपको जानकर धीरतासे निःसंगभावसे विचरण करना चाहिए।।४७।।

व्याख्यार्थः भय, दीनता और सम्भ्रम इन तीनूका त्याग कर देना चाहिये. सम्भ्रमका अर्थ है उत्तालता(उत्कण्ठा). देह आदि तो पहले ही सिद्ध हैं तो उनके कार्यका बाध भी पहले ही उनका अनुवर्तन करता है, इस तरह अङ्गीकार की हुई ग्लानि दोषजनक नहीं है, इसलिये भय छोड़ देना चाहिये. ये दुष्ट तो छोड़ने ही के योग्य हैं. इसके निर्वाहकेलिये दीनताका भी परित्याग करना चाहिये. इसके जो बाधक हैं वो हमारे मित्र हैं, इसलिये उनके प्रति मेरा कोई कर्त्तव्य नहीं है, इसलिये मेरी उत्तालता किसलिये है? जीवकी गति कही जा चुकी है. अतः जीवगतिको जानकर देहगतिके दोषूका अतिक्रमण सहन करके धीर होकर बाधक संगका परित्याग करके विचरण करे, एक जगह स्थिर न रहे।।४७।।

आभासः इस तरह बाह्यस्थिति कही गई. अब अन्तःस्थितिको कहते हैं:

सम्यग् दर्शनया बुद्ध्या योगवैराग्य–युक्तया।
मायाविरचिते लोके चरेद् न्यस्य कलेवरम्।।४८।।

श्लोकार्थः इस मायामय संसारमू योग–वैराग्ययुक्त सम्यग् ज्ञानमयी बुद्धिसे शरीरको लोकानुसारी करके उसके प्रति अनासक्त रहते हुए विचरण करना चाहिए।।४८।।

व्याख्यार्थः सम्यग्(अच्छी तरहसे) हैं आत्मदर्शन(ज्ञान) जिसमू उस बुद्धिके अङ्ग योग और वैराग्य हैं. उस बुद्धिसे अपनी आत्माको स्थिर करके मायाके द्वारा विशेषरूपसे रचित लोकमू इस कलेवर(शरीर)को न्यस्य (लोकानुसारी) करके स्वयं उदासीन होकर विचरण करे।।४८।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराणके तृतीय स्कन्धके ३१ वृ अध्यायकी
श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्रीसुबोधिनी टीकाका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण.

अध्याय ३२

गृहस्थीके धर्म

कालस्य बाधकत्वे हि निषिद्धात् फलम् ईरितम्।
निषिद्धरूपता चोक्ता पुण्यस्य फलम् ईर्यते।।का.१।।
त्रिविधस्यापि धर्मस्य द्वात्रिंशे फलम् उच्यते।
ज्ञानं मुख्यं फलं तस्य ससाधनम् इहोच्यते।।का.२।।
अधोगतिर्मध्यगतिः पूर्वम् अत्र निरूपिता।
उत्तमा मोक्षपर्यन्तं यथा स्यात् तद् इहोच्यते।।का.३।।

कारिकार्थः काल बाधक होनेसे निषिद्ध है. उस निषिद्धसे होनेवाले फलको कहा तथा उसकी निषिद्धरूपता कही. अब पुण्यका फल कहा जाता है. धर्म तीन प्रकारका है. उस तीन प्रकारके धर्मका फल बत्तीसवृ इस अध्यायमृ कहा गया है. उसका मुख्य फल ज्ञान है. उसको साधन सहित यहां कहा गया है. पहले इसमृ अधोगति और मध्यगतिका निरूपण है, उत्तमगति मोक्षपर्यन्त जिस तरह होती है वह यहां कही जाएगी।।१-३।।

आभासः उनमृ पहले फल सहित तामस धर्मको चार श्लोकृसे कहते हैं:

कपिल उवाच

अथ यो गृहमेधीयान् धर्मानेवावसन् गृहे।
कामम् अर्थं च धर्मान् स्वान् दोग्धि भूयः पिपर्ति तान्।।१।।

श्लोकार्थः श्रीकपिलदेवजी कहते हैं, माताजी! जो पुरुष घरमृ रहकर सकाम भावसे गृहस्थके धर्मोंका पालन करता है और उनके फलस्वरूप अर्थ एवम् कामका उपभोग करके फिर उन्हींका अनुष्ठान करता रहता है।।१।।

पुरुषार्थत्रयं तस्य तदर्थं साधनं परम्।
फलं च तादृशं तस्य तस्य नाशश्च वर्ण्यते।।का.१।।

कारिकार्थः तामसधर्मके धर्म, अर्थ और काम ये तीन पुरुषार्थ हैं और उन पुरुषार्थोंकी प्राप्तिकेलिए परम साधनका वर्णन है. उसको फल भी वैसा ही प्राप्त होता है तथा उस फलके नाशका वर्णन है।।१।।

व्याख्यार्थः पहले तामसधर्मका स्वरूप कहते हैं. ऊर्ध्वगति होनेसे यहां क्रम बदल गया है अतः उसको बतानेकेलिये 'अथ' शब्द दिया है. जो गृहस्थ

धर्मोंका ही आचरण करता है. आश्रमधर्म भी गृहस्थके अनुगुण हैं. इसलिये 'गृहमेधीयानेव' ऐसा कहा. गृहस्थधर्मोंका आचरण निषिद्ध नहीं है, इसको बतानेकेलिये 'धर्मानेव' ऐसा पद दिया है. 'आवसन्' पदका सम्बन्ध 'गृह-मेधीयान्' और 'धर्मान्' इन दोनोंके साथ है. धर्मात्मा घरमें रहते हुए जो काम्यकर्म ही करता है उसे कहते हैं. 'धर्मम् अर्थञ्च कामञ्च' धर्मको काम और अर्थके बादमें कहा, एवम् उसमें बहुवचनका निर्देश किया उसका तात्पर्य यह है कि धर्म मोक्षमें भी उपयोगी है. जैसे खेती आदि अन्नका(बीजका) भक्षण करके फिर अन्नको उत्पन्न करती है इसी तरह धनसे धनको बढ़ाता है. धर्मसे अपमृत्यु (असमयमें होनेवाली मृत्यु)को दूर करके फिर धर्मको बढ़ाता है उसी तरह उनको पूर्ण करता है।।१।।

आभास: इस तरह धर्म, अर्थ और काम में तत्पर रहता हुआ भी यदि उन्हीं धर्म-अर्थ-कामसे भगवत्पर हो तब तो कोई चिन्ता नहीं, क्योंकि मोक्षका पर्यवसान तो भगवान् ही हैं. अतः जो गृहस्थ धर्म-अर्थ-कामपरक होते हुए भी भगवान्से विमुख होकर ही सब करता है उसे कहते हैं:

स चापि भगवद्धर्मात् काममूढः पराङ्मुखः।
यजते क्रतुभिर्देवान् पितंश्च श्रद्धयान्वितः।।२।।
तच्छ्रद्धया क्रान्तमतिः पितृदेवव्रतः पुमान्।
गत्वा चान्द्रमसं लोकं सोमपाः पुनरेष्यति।।३।।

श्लोकार्थ: और वह कामनाओंसे मोहित होनेके कारण भगवद्धर्मोंसे विमुख हो जाता है और यज्ञोंके द्वारा श्रद्धापूर्वक देवता और पितरोंकी आराधना करता रहता है उसकी बुद्धि उसी प्रकारकी श्रद्धासे युक्त रहती है. देवता और पितर ही उसके उपास्य रहते हैं. अतः वह चन्द्रलोकमें जाकर उनके साथ सोमपान करता है और पुण्य क्षीण होने पर इसी लोकमें पुनः लौट आता है।।२-३।।

व्याख्यार्थ: भगवान् कामको दूर कर देते हैं इसलिये कामकी रक्षाकेलिये भगवान्को छोड़ देते हैं अथवा कामसे उनका विवेक नष्ट हो जाता है. भगवद्-धर्मोंमें भगवान् सेव्य(उपास्य) होते हैं, अन्य उपासनाका विषय नहीं होता. भगवान्से बहिर्मुख होनेके कारण ही अनेक प्रकारके यज्ञोंसे देवताओं और पितरों की उपासना करते हैं. सब जगह अग्निहोत्र आदि कर्मोंमें देवताओं एवं पितरों की तृप्ति होती है इसलिये उनकेलिये जो कर्म करता है वह राजस है. वास्तवमें तो

देवता आदिकी श्रद्धासे जिसकी बुद्धि आक्रान्त है(घिरी हुई है) वह पितरॄ एवं देवताॠकी तृप्ति जिससे हो ऐसा जिसका कर्म है उस प्रकारके कर्मोंसे साधित फलको वह प्राप्त करता है. वह चन्द्रलोकको जाकर पुनः पञ्चाग्निविद्यासे यहां आ जाता है. 'सोमपाः'का तात्पर्य यह है कि सोमयागसे अतिरिक्त अन्य यज्ञसे यह फल सिद्ध नहीं होता।।२-३।।

आभासः उसका फल परिमित(निश्चित) काल तक ही होता है:

यदैवाहीन्द्रशय्यायां शेतेऽनन्तासनो हरिः।
तदा लोकाः क्षयं यान्ति त एते गृहमेधिनाम्।।४।।

श्लोकार्थः जिस समय प्रलयकालमॄ शेषशायी भगवान् शेषशय्यापर शयन करते हैं उस समय सकाम गृहस्थाश्रमियॊंको प्राप्त होनेवाले ये सब लोक भी लीन हो जाते हैं।।४।।

व्याख्यार्थः जब भगवान् शयन करते हैं तभी उनके लोकॊंका क्षय हो जाता है. भगवान्का शयन तो वर्षाकाल(चतुर्मास)मॆं भी होता है. यहां वह शयन नहीं समझना किन्तु भगवान् जब शेषकी शय्या पर शयन करते हैं तब एक वर्षके अन्तमॆं भी वैसा प्रलय होता है वह भी न लिया जाय इसकेलिये 'अनन्तासनः' ऐसा कहा गया है. अनन्तका आसन जब भगवान् ग्रहण करते हैं तब लोकका क्षय होता है. भगवान्को 'हरि' इसलिये कहा गया है कि उनका सोना सबके सुखकेलिये होता है. तब इन गृहस्थियॊंके लोकॊंका क्षय हो जाता है. केवल उनके ही लोकॊंका क्षय होता है, त्रिलोकीका क्षय नहीं होता।।४।।

आभासः अब यहांसे निष्काम सात्त्विकॊंके धर्मको तथा उसके फलको कहते हैं:

ये स्वधर्मं न दुह्यन्ति धीराः कामार्थहेतवे।
निःसङ्गा न्यस्तकर्माणः प्रशान्ताः शुद्धमेधसः।।५।।

श्लोकार्थः जो अपने धर्मका अर्थ और भोगविलास केलिए उपयोग नहीं करते किन्तु भगवान्की प्रसन्नताकेलिए ही उनका पालन करते हैं वे संगरहित कर्मोंमॆं अनासक्त प्रशान्त शुद्धचित्त है।।५।।

व्याख्यार्थः फलप्राप्तिकेलिये धर्म करके देह आदिका प्रसादन करके उससे फिर धर्म नहीं करते उसे 'अदोह' कहा गया है. उनको धीर इसलिये कहा गया है कि वे अपेक्षितको भी नहीं करते हैं. धर्मकेलिये तो धर्मका दोहन करते ही

हैं अतः धर्मकी व्यावृत्तिकेलिये ही 'कामार्थहेतवे' ऐसा कहा. जो काम और अर्थ केलिये धर्मका दोहन(उपयोग) नहीं करते हैं. अर्थात् धर्मका काम एवम् अर्थ केलिये जो उपयोग होता है ऐसा धर्मदोह वे नहीं करते. 'निःसङ्गाः'से उनका निवृत्तिधर्ममृ अधिकार बताया है. बाहर जो सङ्गका परित्याग होता है उसमृ बाह्य संगसे जितने भी कर्म किये जाते हैं उनका भी परित्याग होता है. अन्यथा सापेक्ष होनेसे उनमृ किसी एकका परित्याग सम्भव नहीं, अर्थात् परित्याग साथ ही मृ होता है. 'प्रशान्त'का अर्थ इन्द्रियामृ विक्षेपका अभाव. इन्द्रियामृ विक्षेप रजोगुणसे होता है. यदि उनमृ विक्षेप न हो तो यह स्पष्ट है कि उनमृ रजोगुणका अभाव है. 'शुद्धमेधसः'का विग्रहवाक्य 'शुद्धा मेधा येषाम्' ऐसा है. इसका अर्थ है विवेकवाली बुद्धि जिनमृ है उनको 'शुद्धमेधसः' कहते हैं. इस तरह इन चार पदृसे चार साधन कहे: १.वैराग्य २.संन्यास ३.योग और ४.सांख्य।।५।।

आभास: उसके अनन्तर धर्मके अभावमृ पातित्य हो जाएगा इसलिए उस धर्मके निरूपणपूर्वक तीन दोषृका अभाव कहते हैं:

निवृत्तिधर्मनिरता निर्ममा निरहङ्कृताः ।
स्वधर्माख्येन सत्त्वेन परिशुद्धेन चेतसा।।६।।
सूर्यद्वारेण ते यान्ति पुरुषं विश्वतोमुखम् ।
परावरेशं प्रकृतिम् अस्योत्पत्त्यन्तभावनम्।।७।।
द्विपरार्धावसाने यः प्रलयो ब्रह्मणस्तु ते ।
तावद् अध्यासते लोकं परस्य परचिन्तकाः।।८।।

श्लोकार्थ: निवृत्तिधर्मपरायण ममतारहित और अहंकारशून्य पुरुष स्वधर्मपालनरूप सत्त्वगुणके द्वारा सर्वथा शुद्धचित्त हो जाता है. वे अन्तमृ सूर्यमार्गके द्वारा सर्वव्यापी पूर्णपुरुष श्रीहरिको ही प्राप्त होते हैं. जो काल आदिके एवं ब्रह्मा आदिके नियन्ता हैं जगत्के उपादान कारण और उसकी उत्पत्ति पालन एवं संहार करनेवाले हैं जो लोग परमात्मदृष्टिसे हिरण्यगर्भकी उपासना करते हैं वे दो परार्द्धमृ होनेवाले ब्रह्माजीके प्रलय पर्यन्त उनके सत्यलोकमृ ही रहते हैं।।६-८।।

व्याख्यार्थ: निवृत्तिधर्म(वैराग्य जिनकी उपाधि है) वे धर्म भगवद्धर्म और चतुर्थआश्रमके धर्म, उनमृ जो लगे रहते हैं उनको उन्हीं धर्मोंसे नित्य सिद्धि होती है. 'निर्ममाः' और 'निरहङ्कृताः'से अहंता और ममता ये दो दोष जिनमृ नहीं है.

इनके अतिरिक्त अन्तःकरणकी अशुद्धि भी महान् दोष है, उनका भी उनमृ साधनपूर्वक अभाव है, उसको 'स्वधर्माख्येन'से बताया है. दास्यरूप धर्म स्वधर्म है, निवृत्तिधर्म तो पहले ही कहे जा चुके हैं. इसीलिये स्वधर्म है आख्या(नाम) जिसका. इस प्रकारके सत्त्वगुणसे सब ओरसे शुद्ध चित्तसे इस तरहके ज्ञानका और कर्मका फल 'सूर्यद्वारेण'से कहते हैं. वे सूर्यमार्गसे प्रकृतिसे पर पुरुषको (प्राप्त करते हैं). ब्रह्माण्डात्मक परपुरुषको नहीं लेना किन्तु जो 'विश्वतो मुखं' सर्वत्र जिसके मुख हैं, साकारात्मक है उससे भी 'पर' जो पुरुषोतम है उसको प्राप्त होते हैं. उस पुरुषोत्तमका विशेषण दिया है. 'परावरेशं' परसे तो काल आदि लिये जाते हैं और अवरसे ब्रह्मा आदि लिये जाते हैं. उनके भी जो नियन्ता है और जो सबका समवायिकारण है इन सबकी उत्पत्ति आदिका तथा सबका निमित्तकारण भी है. साकार और इनका नियामक समवायि और निमित्तकारण है. उनके कालका नियम बतानेकेलिये 'द्विपरार्धावसाने' कहा. दो परार्धमृ जिनका अवसान होता है. 'तु' शब्द यहां अन्य कल्पकी व्यावृतिकेलिये दिया है, वे 'पर'=ब्रह्मा उनके लोकमृ निवास करते हैं. क्यृकि वे पुरुषोत्तमरूपसे अन्यका चिन्तन करते हैं. अथवा 'पर' जो भगवान् है उनका चिन्तन करते हैं।।६-८।।

आभास: जो भगवान्के भक्त हैं उन्हींको एवं जो उस प्रकारके धर्मसे युक्त हैं उनको पुरुषोत्तमकी प्राप्ति होती है, अन्यृको नहीं, इस बातको कहनेकेलिए अन्यका लय तो प्रकृतिमृ ही होता है, उसे दो श्लोकृसे कहते हैं:

क्षमाम्भोऽनलानिलवियन्मनइन्द्रियार्थ-भूतादिभिः परिकृतं प्रतिसञ्जिहीर्षुः।
अव्याकृतं विशति यर्हि गुणत्रयात्मा कालं पराख्यम् अनुभूय पुनः स्वयम्भूः।।९।

श्लोकार्थ: जिस समय देवता आदिसे श्रेष्ठ ब्रह्माजी अपने द्विपरार्ध कालके अधिकारको भोगकर पृथ्वी जल अग्नि वायु आकाश मन इन्द्रिय उनके विषय और अहंकारादिके सहित सम्पूर्ण विश्वका संहार करनेकी इच्छासे गुणत्रयात्मा स्वयम्भू(ब्रह्माजी) अपने सौ वर्षकी आयुको पूरी करके तब अव्यक्तमृ प्रवेश करते हैं।।९।।

व्याख्यार्थ: किन्हींका ऐसा कहना है कि जो 'पर' अर्थात् ब्रह्मका परत्वरूपसे(भगवत्वरूपसे) चिन्तन करते हैं. इसलिये पूर्वकाल भी हिरण्यगर्भ ब्रह्माके उपासकृको ही होता है. ऐसा उनका कहना विचारणीय है क्यृकि उस भिन्न प्रक्रममृ कोई निमित्त नहीं है. और यहां तो त्रिविधता ही कही गई है. पृथिवी

आदि पञ्चमहाभूत, मन, इन्द्रियाॄ और उनके विषय तथा भूतादिसे अहंकार लिया गया है. इनसे सब तरहसे किये गये अथवा इनके सहित सम्पूर्ण ब्रह्माण्डका जब प्रतिकूलसे संहार करनेकी इच्छा करते हैं. भगवान् जब ऐसे होते हैं तब स्वयम्भू ब्रह्मा प्रकृतिमॄ प्रवेश करते हैं. जब ब्रह्मा गुणत्रयसे सम्बन्धित रहता है तो उसका प्रकृतिमॄ प्रवेश होता है और जब वह भगवद्भक्त होता है तो उसका प्रकृतिमॄ प्रवेश नहीं होता. ब्रह्मत्व होने पर उसे(ब्रह्माको) जो फल होता है उसे 'पराख्यं कालम् अनुभूय'से कहा है. यहां 'पर' शब्दसे ब्रह्माकी आयुके सौ वर्ष लिये जाते हैं. ब्रह्मा मुक्तिकेलिये उत्पन्न नहीं हुए हैं, ब्रह्मा तो पहले भी इसी प्रकारके थे. इसे 'पुनः' शब्दसे बताया है।।९।।

आभास: ब्रह्माके सहचर भी प्रकृतिमॄ लीन होते हैं:

एवं परेत्य भगवन्तम् अनुप्रविष्टा ये योगिनो जितमरुन्मनसो विरागाः ।
तैनैव साकम् अमृतं पुरुषं पुराणं ब्रह्म प्रधानम् उपयान्त्यगताभिमानाः।।१०।।

श्लोकार्थ: इस तरह अपने देहका परित्याग करके जो रागरहित योगी है और जिन्होंने प्राणायामके द्वारा अपने मनको वशमॄ कर लिया है, वे निरभिमानी ब्रह्मके साथ अक्षरात्मक पुरुषको जो प्रकृति और पुरुषका उत्पन्न करनेवाला है उसे प्राप्त करते हैं।।१०।।

व्याख्यार्थ: जो मरकर अथवा लोकन्तरमॄ जाकर, भगवान्मॄ प्रविष्ट नारद आदि अधिकारी अथवा जो योगी हैं, योगाधिकारसे युक्त हैं(वे ब्रह्मको प्राप्त करते हैं). यहां 'विराग' शब्दसे योगका फल और तत्फल(ब्रह्मसाहचर्य फल) अथवा लोकान्तरगमन फलका निरूपण है. ये फल जिसको कहे गये हैं, वे तो ब्रह्मतुल्य ही हैं. अतः उसी(ब्रह्म)के साथ अमृत, जो अक्षरात्मक पुरुष हैं और पुराण जो पुरुषत्रयसे अतिरिक्त जो 'ब्रह्म' शब्द वाच्य है, मूलभूत जो प्रकृति और पुरुषको उत्पन्न करनेवाले हैं, उनको प्राप्त होते हैं, वे पुरुषोत्तममॄ नहीं जाते. क्योंकि उनका अभिमान गया नही है. 'अगताभिमानाः'का विग्रह 'न गतः अभिमानो येषाम्' ऐसा है. वास्तवमॄ तो कर्त्ता भगवान् ही हैं, नारद आदि तो अपनेको कर्त्ता मानते हैं, वास्तवमॄ वे कर्त्ता नहीं हैं. अतएव नारद आदिका अक्षरमॄ लय होता है और पुनरागमन भी होता है, इसे आगे कहॄगे. यद्यपि अक्षर भी भगवान् ही हैं तथापि अक्षरब्रह्म सृष्टिकी इच्छाके वशीभूत है यह पहले कहा जा चुका है. अमृतका अर्थ है उस स्थानका कभी नाश नहीं होता. यहां 'पुरुषं'

तो, ब्रह्म निराकार है, इस मतको दूषित करनेकेलिये कहा है. 'पुराणं' यह पद पुरुष न लिया जाय इसकेलिये है. यहां शंका होती है कि 'प्रधान'शब्द तो प्रकृतिवाचक रूपसे प्रसिद्ध है, तो फिर यहां अक्षरब्रह्मको 'प्रधान' इस नामसे क्यॄ सम्बोधित किया है? इसका तात्पर्य 'आसीद् ज्ञानमयो हि अर्थः'(भाग.पुरा. ११।२४।२) इस श्लोकसे एकादशस्कन्धमॄ प्रकृति और पुरुष के हेतुरूपसे उसे कहॄगे. इसीलिये अक्षरब्रह्मकी उपासना करनेवालाॄको भगवान् अपना सायुज्य प्रदान करते हैं ऐसा कहा है. 'तेनैव'मॄ जो 'एव' शब्द कहा है उससे उसका अक्षरब्रह्ममॄ प्रवेश नहीं होता ऐसा निषेध करनेकेलिये है. कहा भी है ''ते प्राप्नुवन्ति मामेव'' वे मुझे ही प्राप्त करते हैं. ब्रह्मानन्द लक्ष्म्यात्मक(लक्ष्मीरूप) होनेसे आनन्दके अभावमॄ फल कुछ नहीं होता इसलिये इनका भी निरोधमात्र ही होता है, उसमॄ होनेवाले फलका सम्बन्ध नहीं होता. ''जो कामनासे रहित श्रोत्रिय है उसे आनन्दकी प्राप्ति होती है''. इसे श्रुतिमॄ भी श्रोत्रियको जो आनंद बताया है वह भी जीवानन्द मात्र ही है. वह साधनकी अधिकतासे अधिक अभिव्यक्त (प्रकट) होता है परन्तु वह ब्रह्मानन्द नहीं है।।१०।।

आभास: सब आनन्दसे ब्रह्मानन्द अधिक है, ऐसा जब सिद्ध हो गया तब उस(भगवदानन्द)की प्राप्तिकेलिए भगवद्भजन अवश्य करना चाहिए उसे कहते हैं:

अथ तं सर्वभूतानां हृत्पद्मेषु कृतालयम्।
श्रुतानुभावं शरणं व्रज भावेन भामिनि!।।११।।

श्लोकार्थ: इसलिए माताजी! अब तुम भी अत्यन्त भक्तिभावसे उन श्रीहरिके ही चरणकी शरण ग्रहण करो, समस्त प्राणियाॄका हृदयकमल ही उनका मन्दिर है और तुमने भी मुझसे उनका प्रभाव सुन ही लिया है।।११।।

व्याख्यार्थ: क्यॄकि अभिमान होने पर महान् ज्ञान हो या योग हो तथापि उनसे सम्यक्(पूरी) कार्य सिद्धि नहीं होती. अतः भगवद्भजन ही करना चाहिये. भगवद्भजनकी ब्रह्मा आदिके भजनकी तरह व्यर्थता उचित नहीं है इसीलिये इस श्लोकमॄ कहे गये फलात्मक स्वरूपकी पूर्व श्लोकसे भिन्नता है. 'तं'से यहां पुरुषोत्तम लिये जाते हैं. सब प्राणियाॄके हृदयकमलाॄमॄ उन्हॄने निवास कर रखा है. इससे उन भगवान्की प्राप्ति बताई, अर्थात् अन्तर्यामीके भजनसे उनकी प्राप्ति हो जायगी, यह उक्त कथनका भाव है. मन्त्रके प्रकारसे उनका भजन नहीं होता, इसे

'श्रुतानुभावं'से बताया है. सुना है अनुभाव जिसका. भगवान्के माहात्म्यको सुनकर, भगवन्मार्गके अनुसार उनकी शरण ग्रहणकर अथवा स्नेहपूर्वक भक्तिके साथ उनकी प्रवृत्ति करो. 'भामिनी' उत्कृष्ट(उत्तम) स्त्रीको कहते हैं. इसलिये यहां भामिनी सम्बोधन कहा है. अर्थात् हे माता! तुम उत्तम हो इसलिये तुम्हृ ही इस पर विश्वास होता है।।११।।

आभास: क्यृकि अन्य प्रकारसे पुनरावृत्तिरहित फल नहीं हो सकता इसलिए भगवान्की ही सेवा करनी चाहिए इस बातको कहनेकेलिए सब प्रकारकी साधन-सम्पत्ति, जिस तरह ब्रह्मा आदिके पास है वैसी, ओर किसीके पास नहीं होगी. यदि वे भी मुक्त न हुए तो फिर ज्ञान आदि साधनृका क्या होगा? इसलिए पूर्वोक्त भगवद्भजनको दृढ करनेकेलिए चार श्लोकृसे ब्रह्मा आदिका वृत्तान्त कहते हैं:

आद्य: स्थिरचराणां यो वेदगर्भ: सहर्षिभि: ।
योगेश्वरै: कुमाराद्यै: सिद्धैर्योगप्रवर्त्तकै:।।१२।।

श्लोकार्थ: ब्रह्माजी भी जो समस्त स्थावर-जंगम प्राणियृके आदि कारण हैं, मरीचि आदि ऋषियृ, योगेश्वरृ, सनकादियृ तथा योगप्रर्वतक सिद्धृके साथ (पूर्ववत् उत्पन्न हो जाते हैं)।।१२।।

स्वरूपतो महत्वं च दोषस्तत्फलमेव च ।
पुनरप्यधिकारित्वम् अन्येषां च निरूप्यते।।का.१।।

कारिकार्थ: १.स्वरूपसे महत्त्व २.उनका दोष ३.उनका फल ४. अन्यृका पुनः अधिकारी होना. इनका इन चार श्लोकृमें वर्णन है।।१।।

व्याख्यार्थ: सबसे पहले उनका सब साधनृसे युक्त रूपका यहां कथन है. जो स्थावर और जङ्गम के उत्पन्न करनेवाले हैं यह उनका महत्त्व कहा है. वेदगर्भसे उनमृ ज्ञान आदि सर्व साधन कहे गये हैं. 'ऋषिभिः सह'से उनका सत्सङ्ग बताया. सनत्कुमार आदि भी योगेश्वर हैं. वे योगके फल पर नियन्त्रण रखनेमृ समर्थ हैं तो फिर वे योगका फल प्राप्त करृ इसमृ कहना ही क्या! सनत्कुमारादिको कुमार कहा जाता है. इसका आशय यह है कि उन्हृने कालको भी जीत लिया है, जिससे उनकी अवस्थामृ कोई परिवर्तन नहीं होता. वे सदा पांच या छः वर्षकी आयुके समान ही रहते हैं. उन(सनत्कुमारृ)का योगके ऊपर नियमन केवल अधिष्ठाताकी तरह नहीं है किन्तु उन्हींको योगसिद्धि भी है. यह 'सिद्धैः'से स्पष्ट है.

वे योगके प्रवर्तक हैं. 'योगप्रवर्तकैः'से उनमृ अन्य लोगृको भी अपने ही समान पल देनेकी सामर्थ्य है यह सूचित होता है।।१२।।

आभास: उनके दोषको कहते हैं:

भेददृष्ट्याभिमानेन निःसङ्गेनापि कर्मणा।
कर्तृत्वात् सगुणं ब्रह्म पुरुषं पुरुषर्षभम्।।१३।।

श्लोकार्थ: निष्काम कर्मके द्वारा आदिपुरुष पुरुषश्रेष्ठ सगुण ब्रह्मको प्राप्त होकर भेददृष्टि और कर्तृत्वके अभिमानके कारण (पुनः पूर्ववत् प्रकट हो जाते हैं)।।१३।।

व्याख्यार्थ: अन्ततोगत्वा हम मुक्त हो गये, अन्य कोई मुक्त नहीं हुआ है इस अभिमानसे तथा हम भी कर्त्ता हैं इन दो दोषृके कारण यद्यपि वे निःसंग कर्म करते हैं फिर भी वे कर्तृत्त्वके अभिमानके कारण सगुण ब्रह्मको ही प्राप्त होते हैं. जो मुख्य जीव नामवाला अक्षर है, जिसका कथन पहले किया है, वह अक्षर इनकी अपेक्षाहीन नहीं है, इसे बतानेकेलिए 'पुरुषं पुरुषर्षभम्' ऐसा कहा. पुरुषसे तो विराट् लिया जाता है, वह तो वेदगर्भ ब्रह्मा स्वयं ही हैं. अपनेसे उत्तम तो प्रकृति–पुरुष हैं और उससे भी श्रेष्ठ पुरुषर्षभ अक्षरात्मा है।।१३।।

आभास: वहां गए हुए की भी पुनरावृत्ति होती है:

स संसृत्य पुनः काले कालेनेश्वरमूर्तिना।
जाते गुणव्यतिकरे यथापूर्वं प्रजायते।।१४।।

श्लोकार्थ: भगवान्की इच्छासे जब सृष्टिका समय होता है तब कालरूप ईश्वरकी प्रेरणासे गुणृमृ क्षोभ होने पर पूर्वोक्त ये सब पूर्ववत् प्रकट हो जाते हैं।।१४।।

व्याख्यार्थ: वह ब्रह्मा अक्षरको प्राप्त होकर भी उस अक्षरमृ अच्छी तरह परिभ्रमण करके पुनः जब उसके आनेका समय होता है तब ईश्वरमूर्ति कालसे गुणका व्यतिकर होने पर अर्थात् पुरुष और प्रकृतिके उद्गमके अनन्तर अथवा उद्गम न होने पर भी जब प्रकृतिमृ क्षोभमात्र होता है, जैसे पहले महत् आदिके द्वारा ब्रह्माण्ड उत्पन्न होने पर, वहां नारायरणके नाभिकमलसे पूर्वकी ही तरह उत्पन्न हो जाता है. इसी तरह अक्षरमृ जाने पर भी पुनरावृत्ति होती है ऐसा कहा है।।१४।।

आभास: अन्यृका भी पुनरागमन होता है उसे कहते हैं:

ऐश्वर्यं पारमेष्ठ्यं तत् तेषां धर्मेण निर्मितम्।

निषेव्य पुनरायान्ति गुणव्यतिकरे सति।।१५।।

श्लोकार्थ: ब्रह्माकी तरह पूर्वोक्त ऋषिगण भी अपने-अपने कर्मानुसार ब्रह्मलोकके ऐश्वर्यको भोगकर भगवदिच्छासे गुणॉमें क्षोभ होने पर पुनः इस लोकमें आ जाते हैं।।१५।।

व्याख्यार्थ: परमेष्ठीकी सभामें जो ऐश्वर्य प्रसिद्ध है वह ऐश्वर्य उनके निवृत्तिधर्मके द्वारा निर्मित है. आधिदैविक महत्तत्त्वमें अथवा अक्षरमें उसका अनुभव करके जब गुणॉमें क्षोभ होता है तब यहां पुनरावृत्ति हो जाती है. अथवा 'सति' यह सम्बोधन है. ऐश्वर्य अथवा पारमेष्ठ्यको प्राप्त करते हैं।।१५।।

आभास: इस तरह भगवन्मार्गके अनुसार भगवान्का भजन न करने पर ब्रह्मा आदिकी भी यह गति होती है इसका निरूपण करके जो तामस हैं और इस लोकके जीव हैं वे यदि भजन नहीं करूंगे तो वे सर्वथा नष्ट ही हो जायूंगे इसकेलिए तो क्या कहा जाय! इसको कहनेकेलिए तामसधर्मके प्रर्वतकोंका स्वरूप, उनका साधन तथा उनके फलोंको छः श्लोकोंसे कहते हैं:

ये त्विहासक्तमनसः कर्मसु श्रद्धयान्विताः।
कुर्वन्त्यप्रतिषिद्धानि नित्यान्यपि च कृत्स्नशः।।१६।।
रजसा कुण्ठमनसः कामात्मानोऽजितेन्द्रियाः।
पितॄन् यजन्त्यनुदिनं गृहेष्वभिरताशयाः।।१७।।

श्लोकार्थ: जिनका चित्त इस लोकमें आसक्त है जो कर्ममें श्रद्धा रखते हैं वे वेदमें कहे हुए काम्य और नित्यकर्मोंका सांगोपांग अनुष्ठान करनेमें ही लगे रहते हैं. उनकी बुद्धि रजोगुणकी अधिकतासे कुण्ठित रहती है, हृदयमें कामनाओंका निवास रहता है और इन्द्रियां उनके वशमें नहीं होती. बस अपने घरोंमें ही आसक्त होकर वे नित्य प्रति पितरोंकी पूजामें लगे रहते हैं।।१६-१७।।

तेषां स्वधर्मकरणं दोषाश्चापि चतुर्विधाः।
भगवद्विमुखाश्चैते लौकिकाश्चापि ते सदा।
'माम् अप्राप्य' निवर्तन्त इति तेषां निरूप्यते।।का.१।।

कारिकार्थ: जिनका चित्त इस लोकमें आसक्त है अथवा जो राजस हैं उनका १.स्वधर्म करण २.उनके चार प्रकारके दोष ३.इनकी भगवान्से विमुखता ४.वे सदा लौकिक(लोकवार्ताके सुननेवाले) ही होते हैं. ५.मुझे वे प्राप्त नहीं होते ६.पुनः वे लौट कर आ जाते हैं. इनका निरूपण है ।।१।।

व्याख्यार्थः पहले तो उनका(तामसॄका) स्वधर्म कहते हैं. 'इहासक्त मनसः'का विग्रह वाक्य है 'इह आसक्तं मनो येषाम्'. यहां संसारमॄ आसक्त है मन जिनका, ऐसे बहिर्मुख उनकी कर्ममार्गमॄ ही श्रद्धा होती है. क्यॄकि संसारमॄ कर्म ही तो साधक हैं. वे अनिषिद्ध(जिनका निषेद्ध नहीं है) ऐसे लौकिक कर्म करते हैं. नित्य जो अग्निहोत्र आदि हैं उन सबको भी वे करते हैं. उनकी यहां(इस लोकमॄ) आसक्ति होनेसे उनका पुनरागमन(पीछे आना) होता है. कर्मसे पुनर्जन्म होता है. अनिषिद्ध कर्मोंके करनेसे उनकी अधोगति नहीं होती और नित्यकर्मोंके करनेसे उनको पितृलोककी प्राप्ति होती है. क्यॄकि श्रुतिमॄ कहा है नित्यकर्म करनेसे पितृलोक प्राप्त होता है. ''स्वकर्मणा पितृलोकः'' (बृहदा.उप. १।५।१६). रजोगुणसे कुण्ठित है मन जिनका, ऐसा इसलिये कहा कि उनमॄ विक्षेपात्मा यह सहजदोष है और 'कामात्मानः' काम ही आगन्तुक दोष है. इसीलिये तो वे अजितेन्द्रियरूप संसर्ग दोषवाले हैं. वे केवल अपने पिता, पितामह आदिका ही याग करते हैं, यह 'पितन् यजन्ति'से कहा है. उनका यह भजन, भजन नहीं है. क्यॄकि पितृयाग लौकिक ही है. इसलिये गुणाभावकेलिये उसे कहा. 'गृहेषु अभिरताशयाः'का भाव यह है कि उनका मन घरमॄ फंसा रहता है, इसलिये कभी भी उनका मोक्ष नहीं होता।।१६-१७।।

आभासः वे भगवान्से बहिर्मुख क्यॄ हैं उसमॄ हेतु देते हैं:

त्रैवर्गिकास्ते पुरुषा विमुखा हरिमेधसः।
कथायाः कथनीयोरुविक्रमस्य मधुद्विषः।।१८।।

श्लोकार्थः ये लोग धर्म-अर्थ और काम मॄ ही लगे रहते हैं, इसलिए जिनके महान् पराक्रम अत्यन्त कीर्तनीय हैं उन भवभयहारी श्रीमधुसूदन भगवान्की कथावार्ताॠसे तो ये विमुख रहते हैं।।१८।।

व्याख्यार्थः वे धर्म, अर्थ और काम मॄ ही भले हैं. अतएव भगवान् वासुदेवसे विमुख(बहिर्मुख) हैं. 'हरिमेधसः'का अर्थ है सब दुःखॄको हरण करनेवाली है बुद्धि जिसकी. भगवान् अपनी बुद्धिमात्रसे ही संसारको नष्ट कर द्रॄगे, इस भयसे वे हरिसे विमुख रहते हैं. उनसे ही नहीं उनकी कथासे भी विमुख रहते हैं. अर्थात् भगवान्की बात तक नहीं करते हैं. जिनके महान् पराक्रम कीर्तनीय हैं ऐसे भगवान्के पराक्रमके सुननेमॄ सबॄकी अभिरुचि होती है परन्तु वे तो लोकरुचिसे भी नहीं सुनते. हमारे पुरुषार्थको यह भगवत्कथा नष्ट कर देगी ऐसा

जानकर उसका निषिद्धकी तरह परित्याग कर देते हैं यह इसका भाव है. यहां भगवान्को 'मधुद्विषः' इसलिये कहा है कि ब्रह्माजी जो जगत्की सृष्टि करनेवाले हैं, उन्हींको यह मधु(दैत्य) खाने लगा था तो भगवान्ने उसका वध कर दिया. ऐसे भगवान्का यहां निरूपण किया है. उनका यदि भजन न किया जाय तो कृतघ्नता भी होती है यह इससे सूचित होता है. अपने पापाृको नष्ट करनेकेलिये भी भजन नहीं करते हैं इसका भी निरूपण है।।१८।।

आभासः शंका हो कि वे स्वधर्मनिष्ठ होनेसे भगवद्भजनको परधर्म समझकर भजन नहीं करते हैं उसका उत्तर देते हैं:

नूनं दैवेन निहता ये चाऽच्युतकथासुधाम्।
हित्वा शृण्वन्त्यसद्गाथाः पुरीषमिव विड्भुजः।।१९।।

श्लोकार्थः विष्ठाभोजी सूकर आदि जीवाृके विष्ठाके चाहनेके समान जो मनुष्य भगवत्कथामृतको छोडकर निन्दितविषय-वार्ताआृको सुनते हैं वे तो अवश्य ही विधाताके मारे हुए हैं, उनका बडा ही मन्दभाग्य है।।१९।।

व्याख्यार्थः वे लोग विषय-वार्ताआृको तो सुनते हैं किन्तु भगवत्कथाको नहीं सुनते. शंका हो कि वे तो धर्ममृ संलग्न रहते हैं, अतः उनको अवकाश ही नहीं मिलता है, इसलिये भगवत्कथाको नहीं सुनते है, इसका उत्तर देते हैं 'देवेन निहता!' उनको विधाताने प्रतिकूल इन्द्रियां दी हैं अतः वे तो विधाताके मारे हुए हैं. भगवान् यदि उनको बहिरे कर देता तो वे यथा स्थानमृ ही बैठे रहते परन्तु वह भी तो नहीं है! क्याृकि वे तो भाग्यके मारे हुए ही हैं. इसलिये तो कथाके विद्यमान होते हुए भी उसका परित्याग करते हैं. कथामृ यदि नीरसता हो तो उसे न भी सुनें किन्तु कथा तो अमृतरूप है. उसे छोड़कर वे तो असद् गाथाआृको सुनते हैं, जो ''यास्तु श्रुताः''(भाग.पुरा.३।१५।२३) आदि वाक्याृमृ बताये हुए धर्मसे युक्त होती है. शंका हो कि शास्त्रका अध्ययन करने पर भी वे असद्गाथाआृके सुननेका परित्याग क्याृ नहीं करते? उसकेलिये कहते हैं 'पुरीषमिव विड्भुजः' विष्ठाभोजी सूकरकी तरह वे विषय सम्बन्धिनी वार्ता ही को सुनते हैं, क्याृकि भगवान्ने उनको वैसा ही उत्पन्न किया है. जैसे सूकर अच्छे अन्नके होते हुए भी अपने भक्ष्यको ही खाते हैं. उनकी जीभ दूसरे रसको ग्रहण ही नहीं करती है।।१९।।

आभासः इस तरह उनकी स्वरूप साधनकी प्रवृत्तिको दूषित करके

फलको कहते हैं:

दक्षिणेन पथाऽर्यम्णः पितृलोकं व्रजन्ति ते।
प्रजाम् अनु प्रजायन्ते श्मशानान्तक्रियाकृतः।।२०।।

श्लोकार्थः गर्भाधानसे लेकर अन्त्येष्टि(अन्त–समय) तक सब संस्काराको विधिपूर्वक करनेवाले ये सकामकर्म करनेवाले सूर्यसे दक्षिण ओरके पितृयान या धूममार्गसे पितराके ईश्वर अर्यमाके लोकको जाते हैं और अपनी ही सन्ततिके वंशमा उत्पन्न होते हैं।।२०।।

व्याख्यार्थः दक्षिणमार्ग बहुतसे हैं किन्तु उनमासे अन्य किसी मार्गसे न जाकर अर्यमाके मार्गसे जाते हैं. यह अर्यमा यम है. जब मुख्य यम अधिकारसे च्युत हो जाता है, अधिकारसे हटा दिया जाता है तब वह अर्यमा यम होता है, यह पहले 'अबिभ्रदर्यमा दण्डम्' इससे कहा जा चुका है. वह अर्यमा वैष्णव है. उसे छठे स्कन्धमा कहागे. जिस मार्गसे क्रूरात्मा यम जाता है वह मार्ग भयानक है किन्तु अधोगतिरूप नहीं है, वह लोकात्मक है. उस लोकमा अग्निष्वात्तादि पितर निवास करते हैं. उस मार्गसे वे पितृलोकको जाते हैं. इससे मार्गका क्लेश और वहां नीतिका अभाव सूचित होता है. पितृलोकमा गये हुए उनका पुनरागमन ''प्रजाम् अनु प्रजायन्ते''से बताया है. प्रजा(सन्तान) जो अपना अन्तःकोश है उसके वे स्वयं अन्तःकोश हो जाते हैं. अर्थात् पुत्रके घरमा पुत्र होते हैं. शंका होती है कि सुदरिद्रोपाख्यानमा ऐसी श्रुति है कि श्राद्धके द्वारा उनका मोक्ष हो जाता है, तो फिर ऐसा क्याा कहा जाता है कि पितृलोकसे लौटने पर उसका जन्म होता है? उत्तर कहते हैं कि उनका पुत्रके घरमा जन्म होना ही मोक्ष है, इस प्रकारका श्रुतिका अर्थ है. इसको बतानेकेलिये ही ''प्रजाम् अनु प्रजायन्ते'' ऐसा श्रुतिपद ही यहां दे दिया है. श्रुति पूरी इस प्रकार है ''प्रजाम् अनुप्रजायन्ते तदुते मर्त्यामृतम्''. उसमा भी अल्पविधिके पालन करनेवालेका जन्म आदि नहीं होता किन्तु गर्भाधानसे लेकर मृत्यु पर्यन्त जिनकी वैदिक क्रिया होती है वे ही अपने पुत्रके वंशमा जन्म ग्रहण करते हैं।। २०।।

आभासः इस तरह अनेक बार गमन(जाने) और आगमन(आने)से 'इसी लोकमा जन्म लो और मरो' इस प्रकारके मार्गमा जाकर उसके अनन्तर भी सब प्रकारसे पुण्यका क्षय हो जाने पर देवताआकी दृष्टिमा अपराधको उत्पन्न करते हैं जिससे उनकी उन्नति नष्ट हो जाती है और उसके अवध्यानसे उनमा पाप

उत्पन्न हो जाते हैं इसलिए वे पूर्ववत् अधो(नीचे) लोकॄमॄ जाते हैं उसे कहते हैं:

ततस्ते क्षीणसुकृताः पुनर्लोकम् इमं सति!।
पतन्ति विवशा देवैः सद्यो विभ्रंशितोदयाः।।२१।।

श्लोकार्थः माताजी! पितृलोकके भोग, भोग लेने पर जब उनके पुण्य क्षीण हो जाते हैं, तब देवता लोग उन्हॄ वहांके ऐश्वर्यसे च्युत कर देते हैं और फिर उन्हॄ विवश होकर तुरंत ही उस लोकसे गिरना पडता है।।२१।।

व्याख्यार्थः 'पुनः इमं लोकम्' इसलिये कहा कि वहांसे फिर वे ऊपर नहीं जा सकते. 'सति!' यह सम्बोधन इसलिये है कि उनमॄ तुम्हारा अनुराग नहीं है. देवताओंसे ही वे विवश किये जाते हैं. उनके पतनमॄ जरा भी विलम्ब नहीं होती इसको सूचित करनेकेलिये 'सद्यः' पद दिया है. शीघ्र पतन इसलिये होता है कि विलम्बसे यदि उनका नाश हो तो कदाचित् वे उसका प्रतीकार(उपाय) कर सकॄगे. अन्तकालमॄ भी वे प्रतिक्रिया नहीं कर सकते हैं उसको बतानेकेलिये 'विभ्रंशितोदयाः' ऐसा कहा है. उसी समय मरनेकी तरह सर्वनाश हो जाता है. उदयसे धनादि ऐश्वर्य लिये जाते हैं उनसे वे भ्रष्ट हो जाते हैं।।२१।।

आभासः इस तरह भगवद् भजनकेलिए ही उनकी निन्दाको कहकर प्रकृतको कहते हैं:

तस्मात् त्वं सर्वभावेन भजस्व परमेष्ठिनम्।
तद्गुणाश्रयया भक्त्या भजनीयपदाम्बुजम्।।२२।।

श्लोकार्थः इसलिए माताजी! जिनके चरणकमल सदा भजन करने योग्य हैं, उन भगवान्का तुम उन्हीं गुणॄका आश्रय लेनेवाली भक्तिके द्वारा सब प्रकारसे भजन करो।।२२।।

व्याख्यार्थः अन्य जैसा करना चाहॄ वैसा करॄ परन्तु तुम तो सर्वभावसे भगवान्का भजन करो. सर्वभावका आशय यह कि जितने भी भजन करने योग्य भगवान्के रूप हैं, एवं जो इहलोकके और परलोकके साधन हैं, तथा देहसे लेकर ईश्वर पर्यन्त जितने भी जिन-जिन भावॄसे भजने योग्य हैं वे सब भाव भगवान्मॄ ही करने चाहिये, इसे ही 'सर्वभाव' कहते हैं. 'परमेष्ठिनं'से परमोत्कर्ष स्थान स्थित पुरुषोत्तमका ग्रहण है. भगवान्का भजन भक्तिमार्गके अनुसार ही करना, मार्गान्तरके अनुसार नहीं करना. अन्यमार्ग इस तरहके साधक नहीं हैं. वह भक्ति भी ऐसी हो कि जो भगवान्के गुणॄका आश्रय लेनेवाली हो, अन्यथा काल आदि

उसके बाधक हो जायृगे. लौकिकके द्वारा प्रतिबन्ध होनेसे कदाचित् भजन नहीं हो सकेगा ऐसी आशंका करके उसके निराकरणकेलिये 'भजनीयपदाम्बुजम्' ऐसा कहा. सबाृके भजनीय हैं चरणकमल जिनके. यह भक्तिमार्ग निरभिमान मार्ग है, अन्यमार्ग साभिमान हैं. अतः उन मार्गोंका सहारा लेनेसे पुनरावृत्ति होती है. भगवन्मार्ग ही निरभिमान मार्ग है ऐसा निश्चित है. अतः उसका ही सहारा लेना चाहिये. यदि साभिमान मार्गसे भी पुनरावृत्ति नहीं होती तो अपने बलवान् पूर्वसंस्कारके विद्यमान होने पर शास्त्रीय ज्ञान प्रकृतिके अविवेकसे अर्थात् प्रकृतिसे अपनेको अलग न समझनेसे उसमृ रहनेवाले कर्तृत्वको अपनेमृ समझता है, जिससे शास्त्रसे जो उसे यह ज्ञान हुआ था कि कर्तृत्व प्रकृतिका है, उस ज्ञानको वह दुर्बल ही है ऐसा मानता है, जिससे उसके अहङ्कारकी निवृत्ति कभी नहीं हो सकती. शास्त्र यद्यपि कहता हो कि सब कुछ भगवान् ही करता है तथापि भजनके अभावमृ उसे विश्वास नहीं होता अतः भगवद्भजन अवश्य करना चाहिये।।२२।।

आभासः वह भगवद्भजन मोक्ष तकको देनेवाला है. उसे अपने मार्गके अनुसार आठ श्लोकाृसे कहते हैं:

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं यद् ब्रह्मदर्शनम्।।२३।।

श्लोकार्थः भगवान् वासुदेवके प्रति किया हुआ भक्तियोग शीघ्र ही वैराग्य और ब्रह्मसाक्षात्काररूप ज्ञानकी प्राप्ति करा देता है।।२३।।

ज्ञान–वैराग्यजननं परीक्षा ज्ञानसम्भवे।
ततश्च निरहङ्कारो ज्ञानमेव हरिः परः।।का.१।।
वैराग्यस्यापि माहात्म्यं युक्तिस्तज्जननेऽपि च।
तदर्थं च जगज्जातं वैराग्ये सर्वनिश्चयः।।का.२।।

कारिकार्थः १.ज्ञान–वैराग्यकी उत्पत्ति २. ज्ञान होने पर ज्ञानकी परीक्षा, तदनन्तर ३.अहंकारराहित्य ४. ज्ञान ही परब्रह्म है ५. वैराग्यका माहात्म्य ६. वैराग्यके होनेमृ युक्ति ७. उसीकेलिए यह जगत् उत्पन्न हुआ है ८.वैराग्यमृ ही सब है ऐसा निश्चय होता है.

व्याख्यार्थः उनमृ पहले भक्तिसे ज्ञान और वैराग्य उत्पन्न होते हैं, तब उस भक्तिसे मोक्ष होता है. भक्तिसे ज्ञान–वैराग्यकी उत्पत्ति कैसे होती है उसे कहते हैं. हृदयमृ आविर्भूत भगवान् वासुदेवके विषयमृ किया गया भक्तियोग

प्रत्यक्ष प्रकारसे मोक्ष प्राप्त कराता है. सर्व प्रथम भक्ति अपनी सामर्थ्यसे ही वैराग्य और ज्ञानको उत्पन्न करती है. ज्ञान प्रतीक विषयक भी हो सकता है, इसलिये ज्ञानका विशेषण 'ब्रह्मदर्शनम्' ऐसा दिया है. जो ज्ञान ब्रह्मको दिखा दे अथवा जो ज्ञान ब्रह्मदर्शनरूप हो, उस ज्ञानके होने पर ब्रह्म आविर्भूत होता है. वह ज्ञान देवतारूप है. अथवा मनन आदि साधनके सम्पन्न होने पर साक्षात्कारका होना।।२३।।

आभास: ज्ञानकी परीक्षाको कहते हैं:

यदाऽस्य चित्तम् अर्थेषु समेष्विन्द्रियवृत्तिभिः।
न विगृह्णाति वैषम्यं विप्रियं प्रियम् अप्युत।।२४।।

श्लोकार्थ: सभी विषय भगवद्रूप होनेके कारण समान हैं. अतः जब इन्द्रियाृकी वृत्तिके द्वारा भी भगवद्भक्तका चित्त उनमृ प्रिय-अप्रियरूप विषमता का अनुभव नहीं करता (तब सर्वत्र भगवान्का ही दर्शन करता है)।।२४।।

व्याख्यार्थ: इस ज्ञानाधिकारी पुरुषका चित्त वास्तवमृ समान ऐसे पाञ्चभौतिक अर्थोंमृ, जिनका भगवान् ही आधार है अथवा जो भगवद्रूप है, उनमृ स्वरागसे जनित इन्द्रियाृकी वृत्तिसे जब विषमताका ग्रहण नहीं करता है(तब सर्वत्र भगवान्का ही दर्शन करता है). 'विप्रियं प्रियम्' इनसे विषमताका स्वरूप बताते हैं. किसीको प्रिय अथवा अप्रिय जानना ये ही विषमता है. ऐसी विषमता रागके द्वारा ही होती है उसको बतानेकेलिये 'उत' यह पद दिया है. अथवा 'उत'से साधु(अच्छा) और असाधु(बुरा) यह प्रकारान्तर भी बोधित होता है।।२४।।

आभास: इस तरह निदर्शन(दृष्टान्त) सहित ज्ञानके होने पर क्या होता है इस आकांक्षा पर कहते हैं:

स तदैवात्मनात्मानं निःसङ्गं समदर्शनम्।
हेयोपादेय-रहितम् आरूढं पदम् ईक्षते।।२५।।

श्लोकार्थ: उसी समय वह संगरहित सबमृ समानरूपसे स्थित त्याग और ग्रहण करने योग्य दोष और गुणाृसे रहित अपनी महिमामृ आरूढ अपनी आत्माका ब्रह्मरूपसे साक्षात्कार करता है।।२५।।

व्याख्यार्थ: ज्ञानरूपको प्राप्त हुए आत्मासे ही आत्माको, अपने स्वरूपको प्रकृतिके संगसे रहित, सर्वत्र समदर्शनरूप, अर्थात् प्रकृति और प्रकृतिके विकारके आवरणसे रहित तथा त्याज्य और ग्राह्यसे रहित, अर्थात्

प्रवर्त्तक-निवर्त्तक सब शास्त्रोंके पर्यवसानरूप आरूढपद(साध्यांशरहित)को देखता है अथवा मुक्तरूप आत्माको ही देखता है ऐसा अर्थ है।।२५।।

आभास: शंका होती है कि केवल ज्ञान हो जाने पर ही ऐसा कैसे होता है? ज्ञान वस्तुको तो उत्पन्न नहीं कर सकता है. अतः आत्मा स्वभावसे ही वैसी है ऐसा मानना चाहिए. तब तो सांख्यकी सिद्धि नहीं होगी' परन्तु मायावादियोंका जैसा मत सिद्ध होगा! ऐसी शंका हो तो कहते हैं कि ज्ञान ही मोक्षका सम्पादक है:

ज्ञानमात्रं परं ब्रह्म परमात्मेश्वरः पुमान्।
दृश्यादिभिः पृथग्भावैः भगवान् एक ईयते।।२६।।

श्लोकार्थ: वही ज्ञानस्वरूप है, वही परब्रह्म है, वही परमात्मा है, वही ईश्वर है, वही पुरुष है, वही एक भगवान् स्वयं जीव, शरीर, विषय, इन्द्रिय आदि अनेक रूपोंमें प्रतीत होता है।।२६।।

(टिप्पणी)

सांख्यमें कहा है कि जैसे कपड़ेमें मैलापन होता है उसी तरह आत्माका प्रकृति एवं उस प्रकृतिके विकारके साथ सम्बन्ध हो जानेसे आगन्तुक बन्ध होता है. और जिस तरह क्षार(खार)से वस्त्रका शोधन हो जाता है, उसी तरह नित्य और अनित्य वस्तुका उक्त रीतिसे विवेक हो जाने पर वैसी आत्मा साध्य होती है. आत्मा स्वतःसिद्ध नहीं है. इस प्रकार आत्माकी अविद्या निवृत्तिसे 'विस्मृतकण्ठमणिस्मरण' न्यायसे पीछे है वैसा ज्ञान होता है ऐसा स्वीकार करते हैं. इसलिये ज्ञानसे यदि अहंकारकी निवृत्ति अङ्गीकार करोगे तो इससे सांख्यकी सिद्धि नहीं होती है किन्तु ऊपर बताई हुई प्रक्रियासे सांख्यकी सिद्धि होती है. 'विस्मृतकण्ठमणिस्मरण' न्यायका तात्पर्य यह है कि जैसे किसी ने मणिको तो गलेमें पहन रखी है परन्तु उसे उसकी याद न रही तो वह उस मणिको इधर-उधर ढूंढता है. उसे मिलती नहीं, फिर उसे जब उसकी याद आ जाय कि अरे! वह मणि तो मेरे गलेमें ही है. इसको 'विस्मृतकण्ठमणिस्मरण' न्याय कहते हैं. अतः इस तरह ज्ञानसे अहंकारकी निवृत्ति स्वीकार करोगे तो वह मत मायावादियोंका जैसा हो जायगा ऐसी आशंका करके ज्ञान ही मोक्षका सम्पादक है. मोक्षका लक्षण है: ''अन्यथारूप का परित्यागकर स्वरूपमें व्यवस्थित होना ही मुक्ति है'' (भाग.पुरा.२।१०।६). वैसा होने पर क्रियाके द्वारा जैसे वस्त्रमें शुद्धि आती है उसी तरह यहां आत्मामें ज्ञानसे शुद्धि करके उसके स्वरूपका आविर्भाव किया

जाता है. उसका २६वॄ श्लोकमॄ उपपादन किया है. 'प्रकाश'.

व्याख्यार्थ: ज्ञान ही आविर्भूत, नित्य, केवल उपनिषद्वेद्य चैतन्य है. ब्रह्मप्रकरणमॄ ज्ञान ही 'ब्रह्म' शब्दसे कहा जाता है, वही ज्ञान अपनी इच्छासे आविर्भूत ऐश्वर्यवाला होता है तो 'ईश्वर' शब्दसे कहा जाता है. जिसमॄ उस ईश्वरत्वका आवेश हो जाता है तो प्राकृतपुरुष भी अपनेको ''मय्येव सकलं जातं मयि सर्वं प्रतिष्ठितम्''(कैवल्योप.१९). ''मेरेसे ही यह सब उत्पन्न हुआ है और यह सब मेरेमॄ ही प्रतिष्ठित है'' ऐसा मानता है. इसलिये वह ज्ञान ही ईश्वररूप और ब्रह्मरूप है[२]. वही ज्ञान अन्तर्दृष्टिसे, आत्मत्वरूपसे देखा जाने पर 'परमात्मा' शब्दसे कहा जाता है. वही ज्ञान यदि बहिर्दृष्टिसे देखा जाने पर 'ईश्वर' शब्दसे अथवा 'काल' शब्दसे कहा जाता है. वही ज्ञान यदि उपास्यरूपसे और व्यवहाररूपसे देखा जाय तो वह 'पुरुष' क्षर-अक्षर-पुरुषोत्तम इन तीन रूपसे भासित होता है. अतः मूलभूत उसके आविर्भूत होने पर सभी संगत होता है इसलिये कोई बात युक्तिरहित नहीं है. शंका : एक ही वस्तु(ज्ञान) अनेक प्रकारसे कैसे भासित होती है? उत्तर : 'दृष्यादिभिः'. दृष्टाके भावके भेदसे ही एक ही भगवान् बहुत रूपसे प्रतीत होता है. भाव तो अलग-अलग हैं. जैसे देवदत्त तो एक ही होता है किन्तु वह किसीका पिता, किसीका भाई, किसीका पुत्र आदि अनेक भावॄसे व्यवहारमॄ आता है, वह वैसा होता भी है. भगवान्के एक होने पर जिसका जो भाव होता है उसकेलिये वह वैसा ही हो जाता है और उसके अर्थकी सिद्धि भी उसी तरह होती है. इसलिये मूल रूपके आविर्भावकेलिये प्रयत्न करना चाहिये ऐसा सिद्ध होता है।।२६।।

२. शारीरब्राह्मण और मैत्रेयीब्राह्मण आदि उपाख्यानमॄ अन्तर्दृष्टिसे बोधनभेद प्रकारसे उसी ज्ञानको आत्मा कहते हैं. -प्रकाश.

आभास: ज्ञानकी प्रशंसा और उसका स्वरूप कहकर वैराग्यकी प्रशंसा और उसके स्वरूपॄको चार श्लोकॄसे कहते हैं:

एतावानेव योगेन समग्रेणेह योगिनः।
युज्यतेऽभिमतो ह्यर्थो यद् असङ्गस्तु सर्वतः।।२७।।

श्लोकार्थ: सम्पूर्ण संसारमॄ आसक्तिका अभाव हो जाना, बस यही योगियॄके सब प्रकारके योगसाधनका एकमात्र अभीष्ट फल है।।२७।।

व्याख्यार्थ: प्रथम तो सब शास्त्रॄका वैराग्य ही फल है यह बताया. अब

प्रमाणनिर्णय कहते हैं. सम्पूर्ण योगसे भी वैराग्य होता है. योगका फल कह देने मात्रसे कैसे सब प्रमाणोंका निर्णय होता है? ऐसी आकांक्षा करके कहते हैं कि योगशास्त्रमें ज्ञान-भक्ति-कर्म आदि सबको 'योग' शब्दसे ही कहा जाता है. इसका तात्पर्य यह हुआ कि 'योग'पदसे सब साधनोंके संग्रहमें उसके फलकथनसे ही उसके बोधक प्रमाणका निर्णय कहा गया है. अतः वैराग्यका माहात्म्य यहां सिद्ध किया है. इसलिये योगीकेलिये सभी उपायोंसे ये ही अर्थ युक्त है. 'यत्'का अर्थ है जिस समय सब ओरसे सङ्गरहित होता है. इसमें अन्य कोई पक्ष नहीं है, यह 'तु' शब्दसे बताया है. जो वैराग्यको नहीं मानते हैं तो वैराग्यके बिना ज्ञान नहीं हो सकता. यदि ज्ञान हो भी गया तो उससे कोई कार्य नहीं हो सकता क्योंकि दोष तो निवृत्त हुए ही नहीं है! यदि दोष सब तरहसे निवृत्त हो जायें तो स्वप्रकाशरूप आत्मा आविर्भूत हो जायगी. इसमें किसी प्रकारके प्रयास करनेकी आवश्यकता नहीं है. अतः सब शास्त्रोंका फल वैराग्य है।।२७।।

आभास: इस तरह प्रमाणके विचारसे वैराग्यका उत्कर्ष कहकर प्रमेयके विचारसे भी कहते हैं:

ज्ञानम् एकं पराचीनैः इन्द्रियैर्ब्रह्म निर्गुणम्।
अवभात्यर्थरूपेण भ्रान्त्या शब्दादि-धर्मिणा।।२८।।

श्लोकार्थ: ब्रह्म एक है, ज्ञानस्वरूप और निर्गुण है, तो भी वह बाह्य वृत्तियोंवाली इन्द्रियोंके द्वारा भ्रान्तिवश शब्दादि धर्मोंवाले विभिन्न पदार्थोंके रूपमें भास रहा है।।२८।।

व्याख्यार्थ(सुबोधिनी-प्रकाश): वास्तवमें सम्पूर्ण जगत् बोधमात्र ही है ऐसा निश्चय होता है. इसकी बोध मात्रता अन्वय और व्यतिरेक का अनुसरण करती है. लौकिक अथवा वैदिक सारा ही व्यवहार बोधमें पर्यवसानको प्राप्त होता है. '**अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां यत् स्यात्**'(भाग.पुरा.२।९।३५) यहां पर सकल वस्तुस्वरूपकी सद्रूपता जैसे सदन्वय-व्यतिरेकके अनुसरणसे सिद्ध होती है उसी तरह यहां सकल व्यवहारका बोधनान्वय व्यतिरेकके अनुसरणसे बोधमें पर्यवसान होनेसे बोधरूपता सिद्ध होती है. यहां शंका होती है कि बोधसे होनेवाला भी व्यवहार भासित नहीं होता है अतः उसका भी पर्यवसान सन्मात्रमें ही होगा, बोधमें उसका पर्यवसान नहीं होगा, इसका उत्तर यह है कि जैसे तरंगें जलसे उत्पन्न होती हैं किन्तु उनका पर्यवसान(समावेश) समुद्रमें होता है. इसलिये

उनको 'समुद्रकी तरंगे' कहा जाता है. इसीलिये तरंगॄमृ उत्पन्न होनेवाला भी फेन 'समुद्र-फेन' कहा जाता है. 'तरंगफेन' या 'जलफेन' नहीं कहा जाता. इसी तरह सब व्यवहार सत्से उत्पन्न होने पर तथा उसीमृ उनका पर्यवसान होने पर भी सत् व्यवहार बिनाज्ञानके होता नहीं इसलिये सब व्यवहारॄका बोधमृ पर्यवसान (समावेश) होता है. इसलिये मूलज्ञानका सत्से अभेद है ऐसा समझना चाहिये. इसलिये एक ही ज्ञान पराचीन(बाहरकी ओर देखनेवाली) प्राकृत इन्द्रियॄसे व्यापक होनेके कारण एवं महत्त्वके कारण निर्गुण ही रहता है. क्यॄकि उनसे अतिरिक्त न होनेसे गुणॄका 'घट'-'पट' आदि अर्थरूप भ्रान्तिसे भान होता है. अर्थात् जो जिससे उत्पन्न होता है वह उससे अलग नहीं होता, जैसे मिट्टीसे घट उत्पन्न होता है तो वह मिट्टीसे अलग कैसे रह सकता है. इस तरह बहिर्मुख प्रतीतिसे भ्रान्तिका निरूपण करके अब वैराग्यको उत्पन्न करनेवाली युक्तिको वहां स्पष्ट करते हैं. जैसे सीपमृ चांदीका भान होता है परन्तु वस्तुविचारसे भी उसमृ आसक्ति उचित नहीं है. तात्पर्य यह है कि सीपमृ जो चांदीका ज्ञान हो रहा है वह केवल बुद्धिरूप होने पर भी उससे अलग ही भासित होता है. उसी तरह सब जगत्की वस्तुएं ब्रह्मात्मक ज्ञानरूप(सब ब्रह्मरूप) होने पर भी ब्रह्मसे अतिरिक्त (घट पट स्त्री पुत्र आदि) रूपसे भासित होती है, इसलिये आपाततः सामने दीखनेवाले रूपमृ आसक्ति न करना. इस तरह यहां प्रमेयस्वरूपके विचारमृ ही वैराग्यको जन्म देनेवाली युक्ति है. अर्थात् जगत्के स्त्री, पुत्र, धन आदि सकल पदार्थ ब्रह्मरूप हैं ऐसी समझ रहेगी तो उनमृ आसक्ति नहीं होगी किन्तु उनसे वैराग्य उत्पन्न होगा.

यहां यह शंका होती है कि यदि सब वस्तु ज्ञानरूप है तो फिर उनकी अर्थरूप(घट-पट आदि)से प्रतीति क्यॄ होती है? इसका उत्तर यह है कि इन्द्रियां पराचीन हैं. इन्द्रियां बाह्यपदार्थोंको तो देख सकती हैं किन्तु अन्तरात्माको नहीं देख सकती है. इसलिये जो सामान्य होते हैं वे अपनी बुद्धिके अनुसार ही उनको जानते हैं अर्थात् उन इन्द्रियॄसे उन्हॄ ब्रह्म तो दीखता नहीं, घट(घड़ा), पट (कपड़ा) आदि लौकिकपदार्थ ही दिखाई देते हैं.

शंका होती है कि किसी एक व्यक्तिको ऐसी भ्रान्ति होती हो तब तो ऐसा कहना ठीक होगा किन्तु सबको जगत्के पदार्थ घट-पट-स्त्री-पुत्र आदिके रूपमृ ही प्रतीत होते हैं तो इस प्रतीतिको हम भ्रम कैसे कह सकते हैं? इसका उत्तर

यह है कि व्यापक जो सर्वाकार ज्ञान है उसका जो एकदेश है, कोई आकार और परिच्छेद उसके ग्रहणसे इन्द्रियाृका जो बाह्य पदार्थोंको देखनेका स्वभाव है उससे जगत्के पदार्थ ब्रह्मरूपसे नहीं दिखाई देते किन्तु अर्थ(घट-पट आदि) रूपसे दीखते हैं. अतः अपनी इन्द्रियाृके जो अनन्त धर्म हैं उनका आरोप करके ही जो ग्रहण किया जाता है इससे अनेक प्रकारके ख्यातिवाद उत्पन्न होते हैं. जब अनन्त ख्यातिवाद हैं तो फिर किसी एक ही ख्यातिको सर्वजनीन नहीं कह सकते. तब तो सर्वजनीन न होनेसे उस ज्ञानको भ्रान्त ही कहा जायगा. उन ख्यातिवादाृकी एक दिशा बतलाते हैं.

जहां वस्तुके धर्मोंकी ही प्रतीति होती हो उसे 'अन्यख्याति' कहते हैं. तात्पर्य यह है कि किसीने सीपको पड़ा हुआ देखा, वह चांदीके समान चमक रहा था. उस चमकको देखकर उसने यह तो विचार नहीं किया कि चमकनेवाली वस्तु क्या है. उसने तो चमकको देखकर उसे चांदी समझ लिया. इसमाृ अन्यरूपकी ख्याति है. इसी तरह कड़वे गुड़माृ रसकी दिशाका बराबर ज्ञान न होने पर या फिर किसी दिशाको पूर्व समझ लेना इत्यादिमाृ -जैसे सीप चांदी नहीं है, गुड़माृ कड़वापन नहीं है, जिसको पूर्व समझ बैठा है वह पूर्व नहीं है परन्तु -बुद्धिमाृ केवल इस तरहकी समझ होती है, इसे 'अन्यख्याति' कहते हैं.

ऐसे ही अन्यथाख्याति भी होती है. उसमाृ कोई आधार अवश्य होता है. जैसे सीपमाृ चांदीका जो ज्ञान हो रहा है उसमाृ पहले देखी हुई चांदीका जो धर्म है उस धर्मका सीपमाृ भेद ज्ञात नहीं होता, इसलिये सीपमाृ चांदी समझनेवाली इन्द्रियाृका जो धर्मरूप दोष है, उस दोषके सम्बन्धसे सामने पड़ी हुई सीप चांदीके रूपमाृ दिखाई देती है, इसे 'अन्यथाख्याति' कहते हैं. यहां जैसे प्रतीति होना भ्रम है उसी तरह सीप आदिमाृ चांदी आदिकी कल्पना भी भ्रम है. इसलिये सीप आदिमाृ चांदीका भ्रम हो रहा है ऐसा कहो या सीपमाृ चांदीकी कल्पना है, इसमाृ विशेष आग्रह अनावश्यक है.

अन्यथाख्यातिकी तरह ही सीपमाृ अनिर्वचनीय रजत(चांदी)की उत्पत्ति होती है. उसकी गणना भी अन्यथाख्यातिमाृ ही है.

इस तरह सभी प्रतीतियाृको असार्वजनिक बताकर उनको अनादरणीय बताया है. वास्तवमाृ तो विवेकधैर्याश्रयमाृ 'सर्वत्र तस्य सर्वं हि सर्वसामर्थ्यमेव च' ''ब्रह्मके सब जगह सब है और उसमाृ सब सामर्थ्य है'' ऐसा कहा है. इससे तथा

''सर्वं सर्वमयम्''(नृसिंहो.ताप.उप.९।४) सब सर्वमय है. इस तापनीयश्रुतिसे तो [१]अख्यातिवाद ही ब्रह्मवादियोंका सिद्धान्त है ऐसा बोधित होता है. शब्द आदि धर्मवाला भी यह अर्थरूप ज्ञान धर्म है. शब्दादिमूं जो 'आदि' शब्द है उस अर्थकी तरह ही शब्दधर्म आदिका यहां ग्रहण है. वे धर्म अनादि वासनाके कारण स्फुरित होते हैं. इस तरह मिथ्या वादियोंका भी एकदेशी वैराग्यमूं उनका भी यहां ग्रहण हो जाता है।।२८।।

(टिप्पणी)

ख्यातियां अनेक प्रकारकी हैं. जैसे

१.आत्मख्याति
२.असत्ख्याति
३.अख्याति
४.अनिर्वचनीयख्याति
५.सत्ख्याति
६.अन्यथाख्याति

१.जहां स्वयं ज्ञानकी ही ख्याति हो अर्थात् विषयरूपसे भान हो उसे 'आत्मख्याति' कहते हैं. जैसे सीपमूं ''यह चांदी है''. यहां ज्ञानका ही चांदीके रूपमूं भान हो रहा है. यहां कोई बाह्यपदार्थ नहीं है. इसलिये ''यह घड़ा है'' इत्यादिमूं ज्ञान ही का विषयरूपसे भान होता है. इस आत्मख्यातिको माननेवाले योगाचार बौद्ध हैं.

२.अविद्यमान चांदी आदिकी जो ख्याति(प्रतीति) होती है उसे असत्ख्याति कहते हैं. जैसे सीपमूं ''यह चांदी है'' इस तरह प्रतिभासित होनेवाली वस्तु ज्ञानरूप नहीं हो सकती. ''यह चांदी है'' इस तरह अन्तर्मुखाकारतासे भासित नहीं है, न वह अर्थरूप है, क्योंकि रजत(चांदी)से साध्य जो अर्थक्रियाकारिता(गहनोंका निर्माण) नहीं है. इसलिये असत् ही रजत वहां प्रतीत हो रही है. अतः यह असत्ख्याति है. इसके माननेवाले माध्यमिक बौद्ध हैं.

३.विवेकाख्यातिको अख्याति(अप्रतीति) कहते हैं. सीपमूं ''यह चांदी है'' यहां प्रत्यक्ष तथा चांदी का स्मरण, इस तरह दो ज्ञान उत्पन्न होते हैं.

उसमृ ''यह(सीप)'' तो प्रत्यक्षका विषय है और हाटमृ रहनेवाली चांदी स्मरणका विषय है. उन प्रत्यक्ष और स्मरणके विषय जो सीप और चांदी इनका इन्द्रियदोषके कारण भेदज्ञान नहीं हो रहा है, अतः इसे 'भेदाख्याति' या 'विवेकाख्याति' कहते हैं. इसके माननेवाले मीमांसक हैं.

४.सत्त्व और असत्त्व रूपसे अनिर्वचीय जो रजत आदिकी ख्याति(प्रतीति) है उसे 'अनिर्वचनीय' ख्याति कहते हैं. सीपमृ ''यह चांदी है''. यहां रजत(चांदी) तो सत्य नहीं है क्यृकि आगे उसका बोध होगा. यदि सत्य चांदी होती तो उसका बोध नहीं होता. प्रतीत हो रही है अतः ''चांदी असत् है'' ऐसा भी नहीं कह सकते. जो असत् हो उसकी तो प्रतीति कभी होती नहीं, जैसे बांझका लड़का. इसलिये इसे अनिर्वचनीय ख्याति कहते हैं. इसके माननेवाले अद्वैतवादी शांकर मतवाले हैं.

५.विद्यमान विषयकी ही ख्याति(प्रतीति) होती है, सीपमृ ''यह चांदी है'' यहां सीपमृ रहनेवाले जो चांदीके अंश हैं उन्हींकी प्रतीति हो रही है. 'वह ही उसके समान होता है जो उस द्रव्यका एकदेश होता है'. इस नियमसे पञ्चीकरण प्रक्रियासे सीपमृ चांदीके अंश विद्यमान हैं, अदृष्टके कारण सीपके अंश अधिक हैं किन्तु उनकी प्रतीति नहीं हो रही है और चांदीके अंश थोड़े हैं फिर भी उनकी प्रतीति हो रही है. इसलिये सीपमृ जो चांदीका ज्ञान हो रहा है वह यथार्थ ही है. वहां ज्ञानका विषय विद्यमान है. जब विषयव्यवहार बाधित होगा तो उसे भ्रम कहृगे. इस तरह इस सत्ख्यातिके माननेवाले विशिष्टाद्वैतवादी रामानुज हैं.

६.अन्यथास्थित वस्तुकी अन्य रूपसे प्रतीतिको 'अन्यथाख्याति' कहते हैं. अन्यथास्थित जो सीपरूप अर्थ है उसकी अन्यथा अर्थात् चांदीके रूपसे प्रतीति हो रही है. अतः इसे 'अन्यथाख्याति' या 'विपरीतख्याति' कहते हैं. इसके माननेवाले नैयायिक तथा जैन हैं. (प्रकाश)

आभासः युक्तिसे विचार करते हुए की तरह तत्त्वृके उन्हीं भेदृको गिनाते हैं:

यथा महान् अहंरूपः त्रिवृत्पञ्चविधः स्वराट्।
एकादशविधस्तस्य वपुरण्डं जगद् यतः।।२९।।

श्लोकार्थः जिस प्रकार परब्रह्म एक ही महत्तत्व, वैकारिक राजस और तामस तीन प्रकारका अहंकार, पञ्चमहाभूत एवं ग्यारह इन्द्रियरूप बन गया और फिर वही स्वयंप्रकाश इनके संयोगसे 'जीव' कहलाया. उसी प्रकार उस जीवका शरीररूप यह ब्रह्माण्ड भी वस्तुतः ब्रह्म ही है, क्यूंकि ब्रह्मसे ही इसकी उत्पत्ति हुई है।।२९।।

व्याख्यार्थः 'तस्य भावः तत्त्वम्' उस रूपमें हो जाना. इस तरह तत्त्वकी 'तत्त्व'शब्दवाच्यता युक्तिसे सिद्ध होती है. जिस तरह महत् आदि प्राकृत (प्रकृतिके) धर्मोंसे 'तत्त्व' कहे जाते हैं. वास्तवमें तो अन्यधर्मवेत्तासे ज्ञान ही उन शब्दोंसे कहा जाता है. जैसे भ्रान्तिसे महत् आदि प्रकृतिके धर्मोंके कारण तत्त्व कहे जाते हैं उसी तरह अभी प्रतीयमान भी 'तत्त्व' शब्दसे कहे जाते हैं. अहङ्कारके अनेक रूप होनेसे और 'अहं' पदके 'आत्म'शब्दवाच्य होनेसे यहां सन्देह होगा. इसलिये 'अहं'के साथ 'रूप'पदको जोड़ दिया है. अहङ्कार वैकारिक, राजस और तामस भेदसे तीन प्रकारका है. इसके बाद मात्रा, महाभूत और प्राण आदि रूपसे पांच प्रकारका है. इन्द्रियरूप वह ग्यारह प्रकारका है. मध्यमें स्वराट् पुरुष नारायण है. इस विराट्को इन्द्रिय आदिकी अपेक्षा नहीं है इसलिये इसका निरूपण पहले किया है. उस नारायणका शरीर विराट् है और अण्ड उसका आवरण है. उस अण्डके अन्दर जगत् है जो उस नारायणका कार्य है. इसलिये धर्म सहित ज्ञान प्रतीतिसे ही वह केवल अवभासित है।।२९।।

आभासः युक्तिसे उसकी सिद्धि कर दी, अब फल मुखसे उसका साधन कहते हैं:

एतद् वै श्रद्धया भक्त्या योगाभ्यासेन नित्यशः।
समाहितात्मा निःसङ्गो विरक्तः परिपश्यति।।३०।।

श्लोकार्थः किन्तु इसे ब्रह्मरूप वही देख सकता है जो श्रद्धा, भक्ति और वैराग्य तथा निरन्तर योगाभ्यासके द्वारा एकाग्रचित्त और असंग बुद्धि हो गया है ।।३०।।

व्याख्यार्थः इस प्रकार पूर्व श्लोकमें बताये गये ब्रह्मके स्वरूपको विरक्त देख सकता है. जो विरक्त नहीं है वह नहीं देख सकता. यह वैराग्य भगवान्के यश श्री आदि जो छः गुण हैं उनमें छठा गुण है. इसलिये उसमें पूर्वपदार्थके साधक जो पांच गुण हैं उन गुणोंके साधकरूप पांच साधनोंको कहते हैं. इनमें आस्तिक्य

बुद्धि, भगवान्मृ बुद्धि और अष्टाङ्गयोग ये तीन गुण हैं. समाहितात्मा और निःसङ्ग से दो दोषृका अभाव बताया. इससे अन्तःसंगके अभावका और बहिःसंगके अभावका निरूपण किया. इस तरह सात प्रकारके शास्त्रार्थका निरूपण किया. भगवत्प्रतिपादकत्वसे और गुणृके प्रत्येक प्रकारके प्रतिपादकत्वसे निरूपण किया. इसलिये शास्त्रृके निरूपणमृ जो भेद हैं वे एक दूसरेसे विरुद्ध हैं, ऐसी आशंका नहीं करना।।३०।।

आभास: अब इस प्रकरणका उपसंहार करते हैं:

इत्येतत् कथितं गुर्वि! ज्ञानं यद् ब्रह्मदर्शनम्।
येनावबुद्ध्यते तत्त्वं प्रकृतेः पुरुषस्य च।।३१।।

श्लोकार्थ: पूजनीय माताजी! मैने तुम्हृ यह ब्रह्मसाक्षात्कारका साधनरूप ज्ञान सुनाया. इसके द्वारा प्रकृति और पुरुष के यथार्थ स्वरूपका बोध हो जाता है।।३१।।

व्याख्यार्थ: हे गुर्वि! यह संबोधन इसलिये है कि इतना उपदेश मैने तुम्हृ दिया तथापि मैं तुम्हारा गुरु नहीं हूं, गुरु तो तुम ही हो. अर्थात् तुमने मुझे जो आज्ञा दी थी उससे मैंने निरूपण किया था. 'इति एतत्' यहां जो 'इति' शब्द है वह समाप्तिके अर्थमृ है. यह सब निरूपण ज्ञानका ही किया है. सात प्रकारका भी सिद्धान्त ज्ञानवेत्ताके ही लिये है इसलिये उसका उपसंहार है. इससे ब्रह्मका आविर्भाव होता है. इसलिये ब्रह्माविर्भाव फल कहा. यद्यपि देवहूतिने पूछा था कि मैं प्रकृति और पुरुष की जिज्ञासासे तुम्हृ पूछ रही हूं, वह भी इसीसे ही होता है इसको 'येनावबुध्यते'से बताया है. इस तरह सात प्रकारका ज्ञानशास्त्र और दूसरा भक्तिशास्त्र उसके बहुत प्रकारके भेद कहे. वह क्रियाप्रधान है, जैसे पुरुषका स्वरूप, गुण और कर्म है उनमृ स्वरूप प्रतिपादक वैदिकशास्त्र हैं, अन्य छः गुणके प्रतिपादक हैं और क्रियाप्रतिपादक भक्तिशास्त्र है. इन सबके फल अलग-अलग ही हैं।।३१।।

आभास: उनमृ स्वरूप और मुख्य भक्तिशास्त्र इन दोनृका एक फल है इसे कहते हैं:

ज्ञानयोगश्च मन्निष्ठो नैर्गुण्यो भक्तिलक्षणः।
द्वयोरप्येकएवार्थो 'भगवच्'छब्दलक्षणः।।३२।।

श्लोकार्थ: हे देवि ! निर्गुणब्रह्म विषयक ज्ञानयोग और मेरे प्रति किया

हुआ भक्तियोग इन दोनूका फल एक ही है उसे ही 'भगवान्' कहते हैं।।३२।।

व्याख्यार्थ: 'मन्निष्ठ:' ऐसा कहनेसे छःको हटा दिया है. 'नैर्गुण्यो भक्तिलक्षण:'का तात्पर्य है कि भक्तिमार्गमू कोई दोष नहीं है. दोनूका भी एक ही फल है. भक्तिसे भी भगवान् प्राप्त होते हैं और धर्मी(भगवान्) मुख्यज्ञानसे भी प्राप्त होते हैं. अतएव 'भगवान्' शब्दसे वे लक्षित होते हैं. अथवा 'भगवत्' शब्द है लक्षण जिसका ऐसा भी अर्थ हो सकता है. अतः दोनू शास्त्र एक हैं और अन्य छः अङ्गशास्त्र हैं ऐसा सिद्ध हुआ।।३२।।

आभास: शंका होती है कि भगवान् तो एक है और शास्त्र अनेक प्रकारके कैसे हैं? इसको दृष्टान्तसे स्पष्ट करते हैं:

यथेन्द्रियै: पृथग्द्वारै: अर्थो बहुगुणाश्रय: ।
एको नानेयते तद्वद् भगवान् शास्त्रवर्त्मभि:।।३३।।

श्लोकार्थ: जैसे रूप, रस, गन्ध आदि अनेक गुणूका आश्रयभूत एक ही पदार्थ भिन्न-भिन्न इन्द्रियू द्वारा भिन्न-भिन्न रूपसे अनुभूत होता है वैसे ही शास्त्रूके विभिन्न मार्गों द्वारा एक ही भगवान्की अनुभूति अनेक प्रकारसे होती है।।३३।।

व्याख्यार्थ: जैसे रूप, रस, गन्ध, स्पर्श वाला द्रव्य सभी इन्द्रियूसे अलग-अलग प्रतीत होता है. चक्षु इन्द्रिय रूपको ही मुख्य रूपसे ग्रहण करती है, रसना(जीभ) इन्द्रिय रसको ही मुख्य रूपसे ग्रहण करती है, घ्राण(नासिका) इन्द्रिय गन्धको ही मुख्य रूपसे ग्रहण करती है. इसी तरह अनेक धर्मोंसे युक्त भगवान् उन धर्मोंसे मुख्य रूपसे प्रतिपादित किया जाता है. इसलिये सब शास्त्रूका एक ही भगवान् उन-उन धर्मोंकी मुख्यतासे नानारूपसे जाना जाता है।।३३।।

आभास: और सभी साधनूसे एक ही तो प्राप्त होता है, इन तीन श्लोकूसे कहते हैं:

क्रियया क्रतुभिर्दानै: तप:स्वाध्यायमर्शनै: ।
आत्मेन्द्रियजयेनापि संन्यासेन च कर्मणाम्।।३४।।
योगेन विविधाङ्गेन भक्तियोगेन चैव हि ।
धर्मेणोभयचिह्नेन य: प्रवृत्तिनिवृत्तिमान्।।३५।।
आत्मतत्त्वावबोधेन वैराग्येण दृढेन च ।
ईयते भगवान् एभि: सगुणो निर्गुण: स्वदृक्।।३६।।

श्लोकार्थः नाना प्रकारके कर्म, कलाप, यज्ञ, दान, तप, वेदाध्ययन, वेदका विचार, मन और इन्द्रियाृके संयम और कर्मोंके त्यागसे, विविध अंगोवाले योग, भक्तियोग, निवृत्ति और प्रवृत्तिरूप सकाम और निष्काम दोनाृ प्रकारके धर्म, आत्मतत्त्वके ज्ञान और दृढवैराग्य –इन सभी साधनाृसे सगुण–निर्गुणरूप स्वयं प्रकाश भगवान्को ही प्राप्त किया जाता है।।३४–३६।।

व्याख्यार्थः 'क्रियया'से स्नान आदि स्मार्त्त क्रियाआृका ग्रहण है. 'क्रतुभिः'(यज्ञाृसे), 'दानैः'(तुला–पुरुष आदि दानाृसे), तपसे, वेदाध्ययनसे, 'अवमर्शः'का अर्थ है विचार–मीमांसा. आत्मा अन्तःकरण एवं इन्द्रियाृको जीत लेनेसे, अहंता–ममता आदि सबके परित्यागरूप संन्याससे, 'कर्मणाम्' आवश्यक कर्मोंके परित्यागसे, छः अथवा आठ जिसके अंग है ऐसे विविध अंगवाले योगसे, भक्तियोगके भी अनेक प्रकार हैं उससे, वैराग्य और राग इन दो प्रकारके भेदवाला धर्म जो किया जाता है उस दो प्रकारके धर्मके भेदको प्रवृत्ति और निवृत्ति वाला कहा है. 'आत्मतत्त्वावबोधः'से सांख्यका ग्रहण है. 'दृढेन वैराग्येण'से विरक्तिशास्त्रका ग्रहण है. इस तरह सभी साधनाृसे एक ही भगवान् अलग–अलग जाना जाता है. शंका होती है कि जो उपाधि सहित हैं उनको गुणप्राप्ति होती है और निरुपाधिकाृको आत्मप्राप्ति होती है तो फिर सबका एक ही फल कैसे कहा? इसका उत्तर यह है कि भगवान् सगुण, निर्गुण एवं स्वदृक्–आत्मा हैं।।३४–३६।।

आभासः इस तरह एक फलका उपपादन करके कहे गए जो भक्तिके भेद हैं उनमृ सगुण–निर्गुण भेदाृके प्रतिपादनार्थ उनके चार प्रकारको कहते हैं:

प्रावोचं भक्तियोगस्य स्वरूपं ते चतुर्विधम्।
कालस्य चाव्यक्तगतेः योऽन्तर्धावति जन्तुषु।।३७।।

श्लोकार्थः माताजी! सात्त्विक, राजस और निर्गुण भेदसे चार प्रकारसे भक्तियोगका और प्राणियाृके जन्म आदि विकाराृका जो हेतु है तथा जिसकी गति जानी नहीं जाती उस कालका स्वरूप मैं तुमसे कह चुका हूं।।३७।।

व्याख्यार्थः भेद पारमार्थिक है ऐसा शास्त्रको पुरस्कृत करके तीन प्रकारका भक्तियोग कहा. इस समय भक्तिके उन तीन भेदाृको माननेवाले विष्णुस्वामिके मतका अनुसरण करनेवाले, तथा तत्त्ववादी(माध्व), एवं रामानुज हैं. उनका यह भेद क्रमशः तमोगुण, रजोगुण और सत्त्वगुणसे अलग–अलग है.

हमारे द्वारा(आचार्यचरणॄ द्वारा) प्रतिपादित भेद निर्गुण है. इस तरह यह चारॄ प्रकारका भेद भगवान्ने प्रतिपादित किया है. ''अभिसन्धाय यो हिसाम्'' इत्यादिसे वैराग्यकेलिये अव्यक्त(अप्रकट)गति वाले कालका भी स्वरूप कहा. काल अव्यक्त है उसमॄ हेतु देते हैं 'योऽन्तर्धावति जन्तुषु' जो प्राणियॄमॄ अन्दर ही अन्दर जन्म–मरणरूप कार्य करता रहता है।।३७।।

आभास: वह वैराग्यका अंग है इसे प्रतिपादन करनेकेलिए कहते हैं:

जीवस्य संसृतीर्बह्वीर् अविद्याकर्मनिर्मिता: ।
यास्वनुप्रविशन् आत्मा न वेद गतिम् आत्मन: ।।३८।।

श्लोकार्थ: हे देवि ! अविद्या जनित कर्मके कारण जीवकी अनेकॄ गतियां होती हैं, उनमॄ जाने पर वह अपने स्वरूपको नहीं पहचान सकता।।३८।।

व्याख्यार्थ: जीवकी तीन प्रकारकी गति कही है. उनमॄ अविद्या कर्मसे निर्मित प्रत्येक गति बहुत प्रकारकी हो जाती है. ये सब गतियां अज्ञान जिसकी उपाधि है उस कर्मसे निर्मित हैं, मैंने तुम्हॄ कह दिया. उनके कहनेका प्रयोजन 'यास्वनुप्रविशन् आत्मा'से कहा है. जिन गतियॄमॄ कर्मसे स्वयं ही अन्दर प्रवेश करता हुआ जीव अपनी गतिको नहीं जानता. अतएव उन गतियॄमॄ प्रवेश न करने पर ही आत्मज्ञान होता है, यह वर्णन गतिमॄ प्रवेशके निषेधकेलिये किया है ।।३८।।

आभास: इस तरह सारे ही सिद्धान्तको कहकर यह सर्गलीला है इसके जो वक्ता हॄगे और जिनकेलिए यह कहनी चाहिए और जिनको नहीं कहनी चाहिए उन दोनॄका भेद चार श्लोकॄसे निर्देश करते हैं:

नैतत् खलायोपदिशेद् नाविनीताय कर्हिचित् ।
न स्तब्धाय न भिन्नाय नैव धर्मध्वजाय च।।३९।।
न लोलुपायोपदिशेद् न गृहारूढचेतसे ।
नाभक्ताय च मे जातु न मद्भक्तद्विषामपि।।४०।।
श्रद्दधानाय भक्ताय विनीतायाऽनसूयवे ।
भूतेषु कृतमैत्राय शुश्रूषाभिरताय च।।४१।।
बहिर्जातविरागाय शान्तचित्ताय दीयताम् ।
निर्मत्सराय शुचये यस्याहं प्रेयसां प्रिय: ।।४२।।

श्लोकार्थ: मैंने तुम्हॄ जो ज्ञानोपदेश दिया है उसे दुष्ट, उद्धत, घमण्डी,

दुराचारी और धर्मध्वजी(ढ़ोगी) पुरुषोंको नहीं सुनाना चाहिए. जो विषयलोलुप हो, गृहासक्त हो, मेरा भक्त न हो, मेरे भक्तोंसे द्वेष करनेवाला हो उसे भी इसका उपदेश कभी नहीं करे. जो अत्यन्त श्रद्धालु भक्त, नम्र, दूसरोंके प्रति दोषदृष्टि न रखनेवाला, सब प्राणियोंसे मित्रता रखनेवाला, गुरुसेवामें तत्पर, बाह्य विषयोंमें अनासक्त, शान्तचित्त, मात्सर्यसे शून्य और पवित्रचित्त हो और मुझे परम प्रियतम माननेवाला हो, उसे इसका उपदेश करे।।३९-४२।।

व्याख्यार्थ: जो दूसरेके मर्मका भेदन करता है उसे खल कहते हैं, ऐसे लोग राजसभामें हुआ करते हैं. अनुरोध करने पर उसे भी उपदेश दिया जा सकता है. अविनीत=उद्धत, स्तब्ध=श्रद्धारहित यह स्पष्ट ही है. जो मतान्तरोंसे भिन्न बुद्धि रखता हो, धर्मध्वज=पाखण्डी. इन्द्रियोंके विषयोंमें जो अत्यन्त चपल होता है उसे लोलुप कहते हैं. जिनका चित्त एकदम घरमें आसक्त हो ऐसे गृहस्थको, और जो मेरा भक्त नहीं है तथा जो मेरे भक्तोंसे द्वेष रखता हैं उसे, अथवा सबसे द्वेष रखनेवाला हो उसे, इस तरह नौको इसका उपदेश न करे. और ग्यारह प्रकारके पुरुषोंको इसका उपदेश करे. इनसे बचे हुए बाकीके मध्यम हैं. श्रवणमें जिसकी अत्यन्त श्रद्धा हो, भगवान्का भक्त हो, उपदेशकके सामने अथवा सभीसे नम्र हो, जिसमें असूया न हो, जो सब प्राणियोंसे मित्रता रखता हो, जिसका शुश्रूषामें सब तरहसे अनुराग हो, बाह्य अर्थोंमें जिसका वैराग्य हो. जो शान्तचित्त हो, जिसमें मात्सर्य न हो, शुचि(पवित्र) हो, जो पाप आदिसे दबा न हो. अथवा 'शुचये'को सबका विशेषण समझना. तथा पहलेके जो नौ प्रकारके हैं उनका भी विशेषण समझना. जिसको मैं परमप्रिय होऊं उसे तो सब प्रकारसे उपदेश करना ही चाहिये. 'यस्यांह प्रेयसां प्रियः' ऐसा अलग इसलिये कहा कि उसमें सभी तरहके गुण-दोषोंका विचार नहीं होता है।।३९-४२।।

आभास: ऐसा कहनेमें श्रोताओंके गुण-दोषोंको कहकर श्रोता और वक्ताके लिए फल कहते हैं:

य इदं शृणुयाद् अम्ब! श्रद्धया पुरुषः स्वदृक्।
यो वाभिधत्ते मच्चितः स ह्येति पदवीं च मे।।४३।।

श्लोकार्थ: माता! जो पुरुष मुझमें चित्त लगा कर इसका श्रद्धापूर्वक एक बार भी श्रवण या कथन करेगा वो मेरे परम पदको प्राप्त होगा।।४३।।

व्याख्यार्थ: अम्ब! यह सम्बोधन स्नेहका सूचक है. श्रवणमें श्रद्धा मुख्य

अङ्ग है. 'पुरुषः'का तात्पर्य है कि जो पुरुष ही है, न कि स्त्रीको ठगनेके लिये मायापुरुष हो. स्वदृक=आत्मदर्शी, जो बहिर्मुख न हो. बहिमुर्खको कहा जायेगा तो कुछ फल नहीं होगा. वक्ता भी मेरेमृ ही चित्त लगाने वाला हो. अर्थात् भगवत्प्रीत्यर्थ ही उसका प्रवचन हो, न कि घनादि मुझे मिले इसकेलिये उसका प्रवचन हो. अतः श्रोता और वक्ता ये दोनृ मेरे परम पदको प्राप्त हृगे ऐसा कहना उचित ही है. इसमृ 'च'का अर्थ है कि उनका चाहा हुआ फल भी मिलता है।।४३।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराणके तृतीय स्कन्धके ३२ वृ अध्यायकी
श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्रीसुबोधिनी टीकाका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण.

अध्याय ३३

कपिलदेवजीका पधारना और देवहूतिजीकी मुक्ति

एवम् अष्टभिर् अध्यायैः मताष्टकम् उदीरितम् ।
सर्वेषां तु फलं मुक्तिः अतः सात्र निरूप्यते।।का.१।।

कारिकार्थः इस तरह आठ अध्यायॄसे [1]आठ मत कहे. सबॄका फल मुक्ति ही है. इसलिए यहां(इस तैतीसवॄ अध्यायमॄ) उसका निरूपण किया जाता है .

त्रयस्त्रिंशे तथाध्याये स्त्रिया मुक्तिरुदीर्यते ।
सर्गस्तदवधिर्यस्माद् देवास्ते लीलयोद्गताः।।का.२।।
त्रयस्त्रिंशद् द्विधा लीला सर्गाख्या देवबान्धवी ।
वसवश्च तथा रुद्रा एक इन्द्र–प्रजापती।।का.३।।
आदित्याश्च यतः सत्त्वात् ते चतुर्दशधा मताः ।

कारिकार्थः तैतीसवॄ अध्यायमॄ स्त्रीकी मुक्ति कही गई है. क्यॄकि उत्पत्ति वहां तक ही होती है[2]. कारण कि उन तैतीस [3]देवताओॄकी लीलासे उत्पन्न हुई देवताओॄकी हित करनेवाली सर्ग नामकी लीला दो प्रकारकी है. एक(पक्ष)मॄ वसु और रुद्र हैं. दूसरे (पक्ष)मॄ इन्द्र, प्रजापति और आदित्य हैं क्यॄकि सत्त्ववाले वे चौदह प्रकारके माने गए हैं.

मुक्तिः प्रसादाद्धि भवेद् न शास्त्रैः साधनैरपि।।का.४।।
प्रसादश्च स्वतः प्रीते न सम्बन्धादिभिः क्वचित् ।
अतः स्तोत्रं प्रसादश्च मुक्तिश्चापि फलं ततः।।का.५।।

कारिकार्थः मुक्ति भगवान्की कृपासे होती है, शास्त्रॄसे और साधनॄसे नहीं होती है. कृपा जब भगवान् प्रसन्न हो तब होती है. बिना सम्बन्धके कभी भी नहीं होती. इसलिए स्तुति और कृपा कही गई है और इसके बाद मुक्तिरूप फल[4] उसीसे होती है जिसका यहां निरूपण है.

सर्गत्वख्यापनार्थाय वक्तुः स्थितिरुदीर्यते ।
भगवत्त्वात् स्थितौ तस्य सर्वः सर्गः प्रतिष्ठितः।।का.६।।
शास्त्रार्थेऽवगते सम्यक् प्रसादे यत्नवान् भवेत् ।
अतः प्रसादनार्थाय तस्या यत्न उदीर्यते।।का.७।।

कारिकार्थः यह सर्ग है, यह बतानेकेलिए वक्ता(कपिलदेवजी)की स्थिति कही गई है. उनके भगवान् होनेके कारण उनकी स्थितिमृ सम्पूर्ण सर्गका समावेश होता है. शास्त्रार्थ अच्छे प्रकारसे समझनेके बाद भगवान्को प्रसन्नकर उनकी कृपा प्राप्त करनेकेलिए प्रयत्न करना चाहिए. इसे प्राप्त करनेकेलिए देवहूतिजीका प्रयत्न बताया गया है।।१-७।।

१. मुख्य भक्ति, सांख्य, ज्ञान, योग और अंगरूप वैराग्यके चार ऐसे आठ मत कहे. -प्रकाश.

२. कारिका-२ मृ, 'तदवधिः'का अर्थ है, वह मूल प्रकृति है अवधि जिसकी ऐसा जो सर्ग(सृष्टि) अर्थात् मूल प्रकृतिकी मुक्ति हो जाने पर फिर आगे न तो सर्ग होगा और न बन्ध होगा. इस उत्तरावधिका बोधन करनेकेलिये स्त्रीकी मुक्ति हो जाने पर शास्त्रमृ सर्ग(सृष्टि)की समाप्ति हो जाती है. -प्रकाश.

३. शंका : ऐसा होने पर तो तत्त्वाृकी मुक्तिमृ सर्ग(सृष्टि)की समाप्ति होती है ऐसा सिद्ध होता है. वह संख्यासे विरुद्ध होता है. क्याृकि तत्त्व अठ्ठाईस हैं! इस आकांक्षामृ निबन्धमृ स्पष्ट किया है उसीके तात्पर्यको यहां 'देवास्ते'से बताया है. 'यस्मात्' इस पदका यहां अन्वय है, जिससे देवता ही मुक्तिके योग्य हैं वे देवता 'वसु' आदि भेदसे तैतीस संख्यक हैं. भगवान्की लीलासे उनका उद्गम हुआ है. 'सर्ग' नामक लीला बन्ध तथा मोक्ष भेदसे दो प्रकारकी है. यह सर्गलीला देवबान्धवी है. अर्थात् देवहितकारिणी है. आठ वसु और ग्यारह रुद्र ये उन्नीस प्रकार हुए, ये बन्धकोटिमृ निविष्ट हैं तथा इन्द्र और प्रजापति तथा द्वादश आदित्य ये सत्त्वकोटिको प्राप्त होकर वर्तमान हैं, अतः ये चौदह प्रकारके मोक्षकोटिमृ निविष्ट हैं. इस तरह वैदिकतासे इनका मोक्षमृ ही पर्यवसान होता है. इसका बोध करानेकेलिये उतनी ही अध्यायकी संख्या कही है. इसलिये उसका विरोध दोष जनक नहीं है. -प्रकाश.

४. इस तरह शास्त्रकी संगति आदिका प्रदर्शन करके विशेषाकारसे अध्यायके अर्थको कहते हुए अब मैत्रेयजीकी उक्तिमृ संगतिकी याद दिलाते हैं- इसमृ मैत्रेयजीके वचनानुसार धर्म आदिसे मोक्ष होता है यह कथन उचित है यह बतानेकेलिये यहां मोक्षकी कथा कहते हैं ऐसा भाव है. -प्रकाश.

मैत्रेयः उवाच

एवं निशम्य कपिलस्य वचो जनित्री सा कर्दमस्य दयिता किल देवहूतिः । विस्रस्तमोहपटला तमभिप्रणम्य तुष्टाव तत्त्वविषयाङ्कितसिद्धिभूमिम्।।१।।

श्लोकार्थः श्रीमैत्रेयजी कहते हैं: विदुरजी! श्रीकपिल भगवान्के ये वचन

सुनकर कर्दमजीकी प्रिय पत्नी माता देवहूतिके मोहका पर्दा नीचे गिर गया और वे तत्त्वके प्रतिपादक सांख्य शास्त्रके ज्ञानकी आधारभूमि भगवान् श्रीकपिलजीको प्रणाम करके उनकी स्तुति करने लगी।।१।।

व्याख्यार्थ: इस तरह पूर्वोक्त प्रकारसे सब सिद्धान्तके रहस्यरूप वचनको सुनकर उनकी स्तुति की, ऐसा सम्बन्ध है. इस तरह शास्त्रका परिज्ञान होने पर भी कपिलदेवजीकी कृपाके बिना शास्त्रका ज्ञान, साधन और फलसिद्धि नहीं हो सकती है अतः उनकी कृपा प्राप्त करनी चाहिये. इस तरहकी बुद्धि देवहूतिकी किस धर्मसे हुई? इस आशंका पर कहते हैं. जनित्री देवहूतिने जिस धर्मसे वैसे पुत्रको उत्पन्न किया उसी धर्मसे उसकी बुद्धि वैसी हुई. 'सा'का अर्थ है प्रसिद्ध, वह स्वधर्मोंसे और तपस्यासे प्रसिद्ध थी. 'कर्दमस्य दयिता' ऐसा इसलिये कहा कि अपने भर्ताकी मुक्तिसे भी अपना कार्य सिद्ध होता है. उस देवहूतिका धर्म प्रसिद्ध था यह 'किल' शब्दसे जाना जाता है. 'देवानां हुतिः यस्मात्' इस तरहके विग्रह वाक्यसे भी 'देवहूतिः'का अर्थ देव सान्निध्य होता है. इस तरह पांच तरहसे उसका माहात्म्य कहा और शास्त्र फल भी उसको हो गया यह 'विस्रस्तमोह-पटला'से बताया है. पुत्र आदिमृ जो मोह है वह ही पटल है, ज्ञानको ढंकनेवाला है. परदा वह जिसकेलिये नीचे गिर गया. कपिलदेवजी गुरु थे इसलिये तो पुत्रको भी प्रणाम किया. इसमृ मोहका अभाव ही कारण था, स्तुति तो इसलिये की कि वे भगवान् थे. अतः देवहूतिजीका कपिलदेवजीकी स्तुति करना अनुचित था ऐसी आशंका करके कपिलदेवजीको भगवान्के ज्ञानकलाका अवतार माना है और उन्हृने सांख्य शास्त्रकी प्रवृत्ति की, इसे 'तत्त्वविषयाङ्कित-सिद्धिभूमिम्'से बताया है. तत्त्व लक्षण जो विषय वाच्य अर्थ उससे अंकित जो सिद्धि सांख्यशास्त्र अथवा तत्त्व विषयसे अंकित जो शास्त्र उससे सिद्ध जो ज्ञान उसकी भूमि(आधार) अथवा पूर्व व्याख्यानमृ प्रवर्तक यद्वा(तत्त्व) विषय जो ज्ञान उसे तत्त्वज्ञान कहा जाता है, उससे अंकित जो सिद्धि भगवान्की ज्ञानकला उसकी भूमि(आधार) अर्थात् ज्ञानकलाका अवतार, इसलिये वे स्तुति करनेके योग्य थे।।१।।

सर्वसिद्धान्तवक्तारं भक्तेर्विषयमेव च।
प्रसादे ह्यात्मदं देवं सप्तभिः स्तौति भास्करैः।।का. १।।
प्रत्यक्षाश्चर्यहेतूक्तिः जन्मादेः करणाद् बृहत्।
अवतारार्भतालीला मत्तो दारोरिवोद्गतिः।।का. २।।

नाम्नः स्तुत्यादि माहात्म्यं नाम्नश्च हि हरेर्महत्।
एवं तं भगवत्त्वेन स्तुत्वाऽन्ते नमनक्रिया।।का. ३।।
हरौ कृत्यम् इहैतावद् अतस्तुष्ट इतीर्यते।

कारिकार्थः सर्व सिद्धान्तको कहनेवाले, भक्तिके विषयको कहनेवाले, प्रसन्न होने पर आत्माको देनेवाले कपिलदेवजीकी सात श्लोकात्मसे स्तुति करती हैं. दो श्लोकात्मसे प्रत्यक्ष आश्चर्यके कथनमात्र हेतु बताना, तीसरे श्लोकमात्र जगत्का कारण होनेसे ब्रह्मत्वका समर्थन करना. अवतार तथा बाल लीलाका कथन. चौथे श्लोकमात्र जैसे लकडीसे अग्नि प्रकट होती है इस तरह मेरेसे आपका प्राकट्य हुआ. नामकी स्तुति आदि तथा भगवान्के नामका महान् माहात्म्य. इस तरह कपिलदेवजीकी भगवद्रूपसे स्तुति करके अन्तमात्र नमस्कार किया. भगवान्के विषयमात्र यहां इतना ही कर्त्तव्य है. अतः भगवान् प्रसन्न हुए ऐसा कहा जाता है।।१ – ३।।

आभासः पहले तो आपका दर्शन ही दुर्लभ है इसलिए कहा:

देवहूतिः उवाच

अथाप्यजोऽन्तःसलिले शयानं भूतेन्द्रियार्थात्ममयं वपुस्ते।
गुणप्रवाहं सदशेषबीजं दध्यौ स्वयं यद् जठराब्जजातः।।२।।

श्लोकार्थः देवहूतिजीने कहा, हे कपिलदेवजी! ब्रह्माजी आपके ही नाभिकमलसे प्रकट हुए थे. उन्होंने प्रलयकालिक जलमात्र शयन करनेवाले आपके पञ्चभूत, इन्द्रिय, शब्दादि विषय और मनोमय श्रीविग्रहका जो सत्त्वादि गुणात्मके प्रवाहसे युक्त सत्स्वरूप और कार्य एवं कारण दोनात्मका बीज है, ध्यान ही किया था।।२।।

व्याख्यार्थः यद्यपि 'अज'=महान् हैं तथापि शरीरका ध्यान ही किया, प्रत्यक्षरूपमात्र उसका दर्शन नहीं किया. उत्पन्न होते हुए भी अजत्व (अनुत्पन्नता)को प्राप्त हैं, ये ही उनका महत्त्व है. 'यज् जठराब्जजातः'का अर्थ है: जिन नारायणके नाभिकमलसे जिनकी उत्पत्ति हुई. माता तो धात्मकनीके समान है. धात्मकनी हवाको ग्रहण करके पीछे उसे निकाल देती है. इसी तरह माता अपने पतिसे गर्भको ग्रहण करके निकाल देती है. अतः भस्त्रा(धात्मकनी)के समान है, किन्तु पुत्र तो पिताकी आत्मा ही है. जब पुत्रने ही अपने आविर्भावस्थानको नहीं देखा तो अन्य उसे कैसे देख सकता है? उसकी सम्पूर्ण शक्तिका कार्यके साथ

निर्गम हो गया. एक बात यह है कि सोये हुए भगवान्को सब देख सकते हैं किन्तु जो जगते हैं उन्हू कोई नहीं देख सकते. उसमू भी जो जलमू सोये हुये हो उनकी उपलब्धि कैसे हो? और भी, जो पञ्चमहाभूतसे व्याप्त इन्द्रियाूवाला हो वह तो उपलब्ध हो सकता है किन्तु उस प्रकारकी इन्द्रियाूसे रहित है उसकी उपलब्धि (प्राप्ति) कैसे हो? और जो जगत्का आधारभूत है वह प्रत्यक्ष हो सकता है, कारण प्रत्यक्ष होता है. यदि कारण प्रत्यक्ष न हो तो कार्य भी अप्रत्यक्ष हो जायगा. 'अन्तःसलिले'का अर्थ है जलके मध्यमू. भौतिक इन्द्रियां, अर्थ(तन्मात्रा), आत्मा, अन्तःकरण, मन, बुद्धि और अहंकार तथा चित्त इनसे व्याप्त ''भूतैर्यदा पञ्चभिरात्मसृष्टै:''(भाग.पुरा.११।४।३) इस वाक्यसे पुरुष शरीर पाञ्चभौतिक होता है, अतः उनसे व्याप्त होनेके कारण वो भौतिक होता है. गुणाूका प्रवाह है जिसमू सत्(व्यक्त) इस सम्पूर्ण जगत्का बीज है. केवल स्वयं भगवान् ही अज हैं, इस तरहका होते हुए भी बह्माने नहीं देखा. मैंने तो देखा यह आश्चर्य है।।२।।

आभास: शंका हो कि यह रूप तो अन्य है ब्रह्मरूप नहीं है! इस आशंका पर कहते हैं:

स एव विश्वस्य भवान् विधत्ते गुणप्रवाहेण विभक्तवीर्य:।
सर्गाद्यनीहोऽवितथाभिसन्धि:आत्मेश्वरोऽतर्क्यसहस्रशक्ति:।।३।।

श्लोकार्थ: आप निष्काम, सत्यसंकल्प, सम्पूर्ण जीवाूके प्रभु तथा सहस्राू अचिन्त्य शक्तियाूसे सम्पन्न हैं. अपनी शक्तिको गुणप्रवाहरूपसे ब्रह्मादि अनन्त मूर्तियाूमू विभक्त करके उनके द्वारा स्वयं ही विश्वकी रचना आदि करते हैं।।३।

व्याख्यार्थ: आप वे ही भगवान् हैं जिनका ब्रह्माजीने ध्यान किया था. जिससे विश्वकी सृष्टि आदि करते हैं. इस(ब्रह्मा)मू जगत्का कर्त्तापन विश्वरूपकी तरह वहां दीखता है अतः वैसा कहा. आपने गुणाूको एक दूसरेको मिलानेकी परम्परासे सृष्टि आदिमू वैसा करनेसे, विभक्त है वीर्य जिसका अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव मू आपने उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय रूपको विभक्त कर दिया है. आपमू कर्त्तापन तो है परन्तु लौकिक कर्त्ताकी भांति आपमू कर्तृत्व नहीं किन्तु चिन्तामणि आदिकी तरह जिनमू विकार न होते हुवे भी कर्तृत्व है. आपमू किसी प्रकारकी चेष्टा नहीं है अतः आप अनीह हैं. शंका होती है कि चिन्तामणि आदिमू जो कर्तृत्व है वह दूसरेकी इच्छासे है स्वयंकी इच्छासे नहीं है. इसी तरह भगवान्

किसीकी इच्छासे यदि सृष्टि करते हैं तो भगवान्‌मृ जड़ता दोष आ जायेगा! इस शंकाके समाधानकेलिये 'अवितथाभिसंधिः' ऐसा कहा. भगवान् अपनी इच्छासे ही सब करते हैं किसीकी प्रेरणासे नहीं करते. तो फिर भगवान् निमित्त कारण होंगे! इसके समाधानकेलिये 'आत्म' पद दिया है. भगवान् सम्पूर्ण जगत्‌की आत्मा हैं, जगद्‌रूप हैं, अर्थात् समवायी कारण है. एक ही भगवान् समवायी कारण भी है और निमित्त कारण भी हैं. यदि शंका हो कि ऐसा तो हो नहीं सकता! इसकेलिये 'ईश्वर' पद दिया. भगवान् सब कुछ करनेमृ समर्थ हैं. जो सब कुछ कर सकता है वह ही तो ईश्वर कहा जाता है. शंका: ईश्वर भी लोकमृ युक्ति सिद्ध कार्य ही करता है, युक्ति बाधित नहीं करता! इस आशंका पर 'अतर्क्यसहस्रशक्तिः' ऐसा कहा. हम जिसे सोच भी नहीं सकते ऐसी हजारृ शक्तियां जिसकी है तो इस एक आश्चर्यका समर्थन तो इससे हो जायेगा।।३।।

आभास: दूसरे आश्चर्यको कहते हैं:

स त्वं भृतो मे जठरेण नाथ! कथं नु यस्योदर एतद् आसीत् ।
विश्वं युगान्ते वटपत्र एकः शेते स्म मायाशिशुरङ्घ्रिपानः।।४।।

श्लोकार्थ: हे नाथ! यह कैसी विचित्र बात है कि जिनके उदरमृ प्रलयकाल आने पर यह सारा प्रपञ्च लीन हो जाता है और जो युगान्तमृ मायामय बालकका रूप धारणकर अपने चरणका अंगूठा चूसते हुए अकेले ही वट वृक्षके पत्ते पर शयन करते हैं, उन्हीं आपको मैंने गर्भमृ धारण किया।।४।।

व्याख्यार्थ: आप वही हैं जो चौदह लोकृकी आत्मा हैं, मैंने आपको अपने उदरमृ कैसे धारण किया! यदि शंका हो कि इसलिये तो मैं वो भगवान् नहीं हूं. इसका उत्तर 'हे नाथ!' इस संबोधनसे दिया है. 'नाथ'का अर्थ स्वामी होता है. तो भगवान्‌के अतिरिक्त और कौन स्वामी हो सकता है. यदि ऐसा कहो कि तेरे उदरमृ उस समय मैं सूक्ष्म ही स्थित था. उस पर कहती हैं कि 'कथं नु यस्योदर एतद् आसीत्'. आप वे ही भगवद्रूप थे जो विश्वका आधार हैं. गर्भस्थिति दशामृ यदि विश्वाधारता हो तो ब्रह्मत्व नहीं होगा, इसलिये उस समय भी आपमृ विश्वाधारता थी ऐसा कहना पड़ेगा. अतएव यह आश्चर्य है कि आप सम्पूर्ण विश्वके आधार होते हुए भी मेरे गर्भमृ रहे. 'एतद्'पदसे इस स्थूलब्रह्माण्डरूपका प्रदर्शन है. 'आपसमृ विरोध हो तो एकको छोड दो'ऐसा न्याय है. यहां कपिलदेवजीकी गर्भमृ स्थिति तो देखी गई है. अतः जो नहीं देखी गई ऐसी

जगदाधारताको मत मानो! परन्तु ऐसा भी नहीं कह सकते. क्यूंकि युगान्तमूं वट(बड)के पत्र(पत्ते) पर एक ही माया शिशु होकर जो अपने पैरके अंगूठेको चूसते हुए सोते थे वे ही भगवान् आप हैं. जिस तरह उस समय बालकपन और जगदाधारता दोनूं ही विरुद्ध थे उसी तरह यहां उदरमूं भी आप ही की स्थिति थी और जगदाधार भी आप ही थे।।४।।

आभास: शंका होती है कि तुमने जो कुछ कहा है वह सच्चिदानन्द ब्रह्ममूं हो सकता है किन्तु मेरे जैसे देहधारीमूं यह सम्भव नहीं है. इस आशंका पर कहते हैं:

त्वं देहतन्त्रः प्रशमाय पाप्मनां निदेशभाजां च विभो! विभूतये ।
यथावतारास्तव सूकरादयः तथायमप्यात्मपथोपलब्धये।।५।।

श्लोकार्थ: हे विभो! आप पापियोंका दमन और अपने आज्ञाकारी भक्तोंका अभ्युदय एवं कल्याण करनेकेलिए स्वेच्छासे देह धारण किया करते हैं. अतः जिस प्रकार आपके वराह आदि अवतार हुए हैं उसी प्रकार यह कपिलावतार भी मुमुक्षुओंको ज्ञानमार्ग दिखानेकेलिए हुआ है।।५।।

व्याख्यार्थ: मुख्य सिद्धान्तका ज्ञान न होनेसे ही आपको देहतन्त्र कहते हैं. लीलाविग्रहको आपने ग्रहण किया है, यह लोकदृष्टि है और पुराणोंका कहना है कि आपका देह धारण करना पापोंके प्रशमनकेलिये है तथा आज्ञाकारियोंके अभ्युदयकेलिये है. आप देहतन्त्र अर्थात् देह परिकर स्वीकृत मूर्त्ति हैं अथवा प्रतीतिसे आप देहके अधीन हैं. 'विभो!' यह संबोधन प्रकृतमूं उपयोगी सामर्थ्यका बोध करानेकेलिये है. इससे यह सिद्ध होता है कि भगवान् अपनी इच्छासे देहके अधीन हैं. किन्तु स्वतन्त्रकी वह परतन्त्रता उचित नहीं है. इस आंशका कहते हैं कि 'यथावताराः' जैसे सूकर(वराह)आदि क्रिया, अवतारोंके बिना क्रिया हो नहीं सकती है. उसी तरह इस ज्ञानावतारके बिना ज्ञानकी भी सम्भावना नहीं है. इसलिये आत्ममार्गकी सिद्धिकेलिये अर्थात् ज्ञानकेलिये यह आपका अवतार है, इसको 'तथा अयं'से बताया है. इस अवतारके दो प्रयोजन कहे गये हैं: सज्जनोंकी रक्षा और अधर्मका नाश. यह तो सामान्य प्रयोजन है और विशेष प्रयोजन है: आत्ममार्ग, भूत ज्ञानका उपदेश है।।५।।

आभास: इस तरह दो श्लोकोंसे दूसरे आश्चर्यका विश्वाधारता और अपने उदरमूं स्थिति इसको स्थापित करके रूपमूं दो आश्चर्योंका प्रतिपादन करके

नाममृ दो आश्चर्योंको दो श्लोकाृसे कहते हैं:

यन् नामधेयश्रवणानुर्कीतनाद् यत् प्रह्वणाद् यत् स्मरणादपि क्वचित् ।
श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते कुतः पुनस्ते भगवन् नु दर्शनात्।।६।।

श्लोकार्थः भगवन्! आपके नामाृका श्रवण या कीर्तन करनेसे तथा भूले भटके, कभी-कभी आपका वन्दन या स्मरण करनेसे ही कुत्तेका मांस खानेवाले चाण्डाल भी सोमयाजी ब्राह्मणके समान पूजनीय हो जाता है फिर आपका दर्शन करनेसे मनुष्य कृतकृत्य हो जाय इसमृ तो कहना ही क्या!।।६।।

व्याख्यार्थः नाम श्रवण आदि धर्मका धर्मके द्वारा नाममाहात्म्य और साक्षात् नामका माहात्म्य. इन दोनाृमृ प्रथम नाममाहात्म्यको बताते हैं. भगवान्के नामको गुरुके द्वारा सुनकर जो कीर्त्तन किया जाता है उससे 'श्वादः'(कुत्तेका मांस) खानेवाला चाण्डाल भी शीघ्र सोमयाजी ब्राह्मणके समान बन जाता है. 'सद्यः'का तात्पर्य यह है कि इसी जन्ममृ वह सोमयाजीके समान हो जाता है. फिर आपका जो दर्शन करे उसकेलिये तो क्या कहा जाये. अर्थात् दर्शन करनेवाला सोमयाजीके समान बन जाय इसमृ तो क्या कहना. कुछ व्याख्याकाराृका ऐसा अभिप्राय है कि 'श्रवणानुकीर्त्तनात्'का आशय यह है कि वैष्णव दीक्षासे पहले गुरुके द्वारा दीक्षासे मन्त्रोपदेश ग्रहण करके उसका कीर्त्तन करना चाहिये, क्याृकि यहां 'अनुकीर्तन' शब्द मन्त्रोपदेशको बताता है. यह मत तन्त्रशास्त्रावलम्बियाृका है. विज्ञानोपनिषद्के सोलहवृ पटलमृ तो लिखा है कि ''दीक्षयेद् मेदिनी सर्वां किं पुनश्चोपसन्नतान्''. ''सारी पृथ्वीको दीक्षित किया जाय तो फिर जो मन्त्र ग्रहण करनेकेलिये आये हाृ उनको दीक्षित करनेमृ तो संकोच ही क्या!'' 'सद्यः सवनाय' पदसे श्रौतावलम्बिमतको कहते हैं. ''सर्वमेधे वायवे चाण्डालम्'' सर्वमेध वायवमृ चाण्डालको भी पर्यग्निकरण पर्यन्तका अधिकार है ऐसा कहते हैं. परन्तु ऐसा कहना कुछ उचित नहीं है. अतः वास्तवमृ आश्चर्यरूप माहात्म्य ही लौकिकयुक्तिसे यदि सिद्ध होता हो तो वह आश्चर्य ही नहीं होगा. अधर्मसे संस्कृत पञ्चमहाभूत विशेषाृसे चाण्डाल आदि शरीरका आरम्भ होता है और सर्वोत्कृष्ट महाभूत विशेषाृसे ब्राह्मणशरीरका आरम्भ होता है. भगवन्नामसे अथवा दीक्षासे प्राप्त भगवन्नामसे औत्पत्तिक सब दोषाृका परिहार करके उन्हीं महाभूताृको उत्कृष्ट संस्कारसे संस्कृत किये जाते हैं, इसलिये नामका माहात्म्य उचित ही है. उक्त कथनसे नामको सब दोषाृका नाश करके सब गुणाृका

उपपादक(उत्पन्न करनेवाला) कहा. अथवा 'श्रवणानुकीर्त्तनात्'का अर्थ जिसको सुन सके इस तरह नामका उच्चारण करना. अथवा भगवन्नामके सुननेसे दोषकी निवृत्ति होती है और कीर्तनसे गुणाका आधान होता है. यदि शंका हो कि यह तो अत्यन्त आश्चर्यकी बात कही, तो उसका कैमुतिक न्यायसे उपपादन करते हैं. अर्थात् भगवान्के नामके श्रवणसे और कीर्तनसे सब दोषाका नाश और गुणाधान हो इसमा तो कोई आश्चर्य नहीं किन्तु भगवान्को नमन करनेसे और उनका स्मरण करनेसे भी दोषाका नाश और गुणाका आधान होता है. नमन करनेवालेका आख्यान तो कोई प्रसिद्ध नहीं है, स्मरणका तो वाल्मीकिका है. वे पहले चाण्डाल थे. जङ्गलमा कोई मार्गसे आता-जाता था तो उसे मार डालते थे. ऋषिके उपदेशसे पहले महर्षिकी भावना करके फिर रामके स्मरणसे उसी जन्मभा वाल्मीकि हो गये. अतः उपर्युक्त कथनमा कोई असंगति नहीं है. इसीलिये 'क्वचित्' ऐसा कहा. अर्थात् स्मरणसे कहीं ऐसा होता है. जहां नाम और रूप अपनी सामर्थ्य प्रकट करते हैं वहीं पर ऐसा होता है, इससे अतिप्रसक्ति(अतिव्याप्ति)का निवारण हो जाता है. 'श्वादः'(कुत्तेका मांस खानेवाला) चाण्डालाभा भी नीच होता है तो वह जब उत्तम बन सकता है तो उत्कृष्टके उत्तम बननेमा क्या सन्देह है, यह 'अपि' शब्दका अर्थ है. तुम्हारे दर्शनसे फिर 'सवन'(सोमयाजी) कैसे होगा, क्याूकि वह तो पहले ही सोमयाजी हो चुका है. इसलिये 'न'कारका अध्याहार नहीं किया है उस पक्षका अर्थ है. अथवा 'कुतः' यह अव्यय 'किम्'(क्या) इस अर्थमा है. भगवान्के दर्शनसे वह सोमयज्ञ करने योग्य हो जाये ''उसमा कहना ही क्या?'' इस तरह कहना चाहिये यह अर्थसे ही आ जाता है. इस तरह अन्ततोगत्वा नाम-श्रवणादिका माहात्म्य कहा है।।६।।

आभासः नामका माहात्म्य साक्षात् प्रतिपादन करते हुए प्रह्लादकी तरह भगवान्की सृष्टिके मध्यमा होनेसे ब्राह्मणकी अपेक्षासे श्वपच महान् है ऐसा कहते हुए उसमा युक्ति कहते हैं:

अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान् यद् जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या ब्रह्माऽनूचुर्नाम गृणन्ति ये ते।।७।।

श्लोकार्थः अहो! वह चाण्डाल भी इसीसे सर्वश्रेष्ठ है कि उसकी जिह्वाके अग्र भागमा आपका नाम विराजमान् है. जो श्रेष्ठपुरुष आपका नाम उच्चारण करते हैं, उन्हाने तप, हवन, तीर्थ, स्नान, सदाचारका पालन और

वेदाध्ययन सब कुछ कर लिया।।७।।

व्याख्यार्थ: ब्राह्मणसे श्वपच(चांडाल) महान् होता है ऐसा कैसे कहते हो? उसका उत्तर देते हैं. हम यह नहीं कहते कि वह चाण्डाल जातिसे श्रेष्ठ होता है, या अपने आचारसे अथवा कर्मसे श्रेष्ठ होता है किन्तु वह तो अन्य प्रकारके हेतुसे महान् होता है उसे कहते हैं ''श्वपचो अतो गरीयान् यद् जिह्वाग्रे वर्त्तते नाम तुभ्यम्''. पहले देवहूतिजीके हृदयमृ नामका माहात्म्य प्रविष्ट हुआ और ब्राह्मणका माहात्म्य तो वह पहले जानती ही थीं. अब ब्राह्मणको जब हीन बताया गया तो देवहूतिजीको आश्चर्य हुआ. इस आश्चर्यको 'अहो!'से बताया है. 'बत'का अर्थ है खेद, सो उसे ब्राह्मण्य दृष्टिसे खेद भी हुआ. अथवा 'बत'का अर्थ हर्ष भी है. देवहूतिजीको ब्राह्मण्यके अभावसे इतने समय तक खेद था किन्तु जब नामका माहात्म्य ज्ञात हुआ तो प्रसन्नता हुई. अर्थात् नामका माहात्म्य ब्राह्मण्यसे भी अधिक है इसीलिये तो चाण्डाल श्रेष्ठ है. सन्तुष्ट ब्राह्मण भी अपनेलिये अपने कर्मोंका उत्कर्ष जानकर कदाचित् नामसे अतिरिक्तका उच्चारण कर सकता है अथवा अभिमान आदि दोषसे युक्त हो जाय तो ब्राह्मणमृ नामकी स्थिति न रह जाये ऐसा सम्भव है. अतः निरन्तर नामकी स्थिति तो चाण्डालकी जीभ पर ही होती है ऐसा देखा गया है, जैसे वाल्मीकि.

एक बात और भी है, जिसकी जीभके ऊपर विराजमान नाम भी जिस तरह वाल्मीकिने रामायणको ही लोकमृ प्रकट किया था उसी तरह आपके ही लिये है, उस नामसे शुद्धि हो जाने पर भी उस नामसे अन्य कार्य नहीं करता है.

कदाचित् शंका हो कि इस तरह नामका माहात्म्य तो असम्भव है, तो उसे युक्तिसे उसे सिद्ध करते हैं. जिन्हृने पूर्वजन्ममृ तप किया था तब शुद्ध ब्राह्मण रूपमृ जन्म हुआ. उस जन्ममृ उन्हृने यज्ञादिक किये. उससे उनका उत्कृष्ट जन्म हुआ. तब उन्हृने सब तीर्थोंमृ जाकर स्नान किया. तब फिर उनका जब अग्रिम जन्म हुआ तो वे आर्य(सन्त) वेद-वेदार्थमृ परिनिष्ठित हुए. उसके अनन्तर जो फिर उनका जन्म हुआ तो उन्हृने परम उत्कृष्ट शरीरको प्राप्त कर व्यास, वाल्मीकि, शुक, पराशर आदि रूपमृ होकर ब्रह्मका उपदेश दिया, वे ही तो नामका उच्चारण करते हैं! इसी तरह श्वपच उसी प्रकारसे भगवान्का नाम लेता होनेसे, थोड़े पापके कारण भगवान्की इच्छासे नामके माहात्म्यको प्रसिद्ध करनेकेलिये उसमृ श्वपचता हुई है, यह बात नामोच्चारणसे निश्चित होती है.

अर्थात् यह था तो महान् ही किन्तु नामके माहात्म्यको प्रसिद्ध करनेकेलिये श्वपच हुआ है इसलिये जो कहा गया है वह युक्त ही है।।७।।

आभास: इस तरह भगवान्के माहात्म्यको साक्षात् एवं परम्परासे कहकर अपने मनोरथकी सिद्धिकेलिए उसे नमन करते हैं:

तं त्वाम् अहं ब्रह्म परं पुमांसं प्रत्यक्स्रोतस्यात्मनि संविभाव्यम् ।
स्वतेजसा ध्वस्तगुणप्रवाहं वन्दे विष्णुं कपिलं वेदगर्भम्।।८।।

श्लोकार्थ: कपिलदेवजी! आप साक्षात् परब्रह्म हैं, आप ही परमपुरुष हैं, वृत्तियाृके प्रवाहको अन्तर्मुख करके अन्तःकरणमृ आपका ही चिन्तन किया जाता है. आप अपने तेजसे मायाके कार्य गुणप्रवाहको शान्त कर देते हैं तथा आपके उदरमृ सम्पूर्ण वेदतत्त्व निहित है. ऐसे साक्षात् विष्णुस्वरूप आपको मैं प्रणाम करती हूं।।८।।

व्याख्यार्थ: आप पूर्वोक्त प्रसिद्धिसे युक्त हैं इसे बतानेकेलिये 'तं' पद दिया है. 'त्वां' पद इसलिये है कि जैसे आप दीख रहे हैं वैसे ही हैं. व्यवहारमृ तो कपिलदेवजी पुत्र हैं अतः उनको नमस्कार करना उचित नहीं है इस आशंकाके समाधानार्थ 'परं ब्रह्म' पद दिया है. आप पुत्र नहीं परब्रह्म हैं. जीवाृमृ पुत्र आदि व्यवहार होते हैं, परब्रह्ममृ ऐसा व्यवहार नहीं होता अर्थात् परब्रह्ममृ लौकिक सम्बन्धकृत गुण-दोष नहीं होते. वह ही सब पुर(शरीर)मृ रहता है इसलिये उसे 'पुमान्' कहा है और उपास्य भी आप ही हैं क्याृकि अन्तर्मुख चित्तमृ आप ही जानने योग्य हैं. श्रुतिमृ भी कहा है ''कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानम् ऐक्षत्''(कठोप. २।१।१) किसी धीर पुरुषने ही प्रत्यग् आत्माका निरीक्षण किया था. जिसने प्रत्यग् आत्माका निरीक्षण किया वे ही आप हैं, अतः आप फलरूप हैं और साधनरूप हैं. इस तरह कपिलदेवजीको भगवदवतार बताकर उनमृ भी विशेषता बतानेकेलिये 'स्वतेजसा ध्वस्तगुणप्रवाहं' कहा. अपने ही तेजसे चित्त शक्तिसे अपने प्रकाश-ज्ञानसे ध्वस्त(नष्ट) कर दिया है गुणप्रवाह-देहाध्यास जिसने. अतः मोक्षकी इच्छा रखनेवालेको ज्ञानकलासे अवतार ग्रहण करनेवाले कपिलदेवजीकी ही सेवा करनी चाहिये ऐसा कहा. अतः उन्हीं आपको मैं प्रणाम करती हूं. मूलरूपको कहनेकेलिये 'विष्णुम्' ऐसा कहा. अथवा आप वेदके अर्थरूप हैं इसको कहनेकेलिये 'विष्णुं' कहा है. 'वेदगर्भं' यह पद इसमृ प्रमाणरूप है क्याृकि वेद आप ही के तो निश्वासरूप है।।८।।

आभास: ऐसी स्तुति करने पर माताके अभिप्रायको जानकर वे प्रसन्न हो गए इसे कहते हैं:

मैत्रेयः उवाच

ईडितो भगवान् एवं कपिलाख्यः परः पुमान्।
वाचा विक्लवयेत्याह मातरं मातृवत्सलः।।९।।

श्लोकार्थ: श्रीमैत्रेयजी कहते हैं, माताके इस प्रकार स्तुति करने पर मातृवल्लभ परमपुरुष भगवान् कपिलदेवजीने उनसे गम्भीर वाणीमृ कहा।।९।।

व्याख्यार्थ: कपिलदेवजीकी स्तुति करना उचित था, उसे बतानेकेलिये 'भगवान्' कहा है अर्थात् वे पुत्र नहीं भगवान् थे, अतः स्तुति उचित थी. 'एवम् इडितः'(इस तरह स्तुति)की. 'कपिल' यह तो उनका नाममात्र कहा है. वास्तवमृ तो वे परपुरुष(भगवान्) ही थे. कार्यमृ भगवत्त्वकी व्यावृत्तिकेलिये उनका नाम कहा. 'विक्लवया वाचा' इसलिये कहा कि कपिलदेवजीको माताके ऊपर दया उत्पन्न हो गई थी. माताका स्तुति करना ही बहुत अधिक है अतः 'मातरं' पद दिया. यह कृपा सब तरहसे मर्यादासे नहीं की किन्तु पुष्टि(अनुग्रह)से की इसको 'मातृवत्सलः' पदसे सूचित किया है. मातामृ स्नेहका होना मातृवत्सल कहा जाता है।।९।।

आभास: प्रसाद और मार्गका माहात्म्य बताते हुए क्रमसे कहते हैं:

कपिलः उवाच

मार्गेणानेन मातस्ते सुसेव्येनोदितेन मे।
आस्थितेन परां काष्ठाम् अचिराद् अवरोत्स्यसि।।१०।।

श्लोकार्थ: कपिलदेवजीने कहा, माताजी! मैने तुम्हृ जो सुगम मार्ग बताया है, इसका अवलम्बन करनेसे तुम शीघ्र ही परम पदको प्राप्त कर लोगी।।१०।।

व्याख्यार्थ: हे माता! इस मेरे कहे हुए मार्गसे और करनेमृ सहज ऐसे भगवद्ध्यानसे युक्त योगसे, वह भी मेरे द्वारा कहा गया है, दूसरा यदि कहता तो उसमृ अन्य अङ्गोकी अपेक्षा है या नहीं यह सन्देह भी होता. मैंने ही कहा है इसलिये इसमृ अन्यकी अपेक्षा(आवश्यकता) नहीं है. अतः ठीक तरहसे इसके आराधनसे 'परां काष्ठाम्' उत्तमस्थिति(असम्प्रज्ञात समाधि, ऐसी समाधि जिसमृ आत्माके सिवाय किसीका भान नहीं रहता है)को प्राप्त होगी और उसके अनन्तर

भगवत्सायुज्यको प्राप्त कर लेगी यह केवल कथनमात्र ही नहीं है वरदान है।।१०।।

आभास: अपने कहे हुए मार्गकी उत्कृष्टताको कहते हैं:

श्रद्धत्स्वैतन् मतं मह्यं जुष्टं यद् ब्रह्मवादिभिः।
येन माम् अभयं यायाद् मृत्युम् ऋच्छन्त्यतद्विदः।।११।।

श्लोकार्थ: तुम मेरे इस मत पर विश्वास करो, ब्रह्मवादी लोगॄने इसका सेवन किया है, इसके द्वारा तुम मेरे जन्म-मरण रहित स्वरूपको प्राप्त कर लोगी. जो लोग मेरे इस मतको नहीं जानते हैं, वे जन्म-मृत्युके चक्रमॄ पडते हैं।।११।।

व्याख्यार्थ: 'मह्यम्' इसलिये कहा कि इसका फल भी मैं ही हूं. यह मेरा बताया हुआ मत प्रामाणिक है क्यॄकि ब्रह्मवादी लोग इसका आचरण करते हैं. यह मत अवश्य ही फलसाधक है. ''येन मामभयं यायात्'' जिस मतसे अभय स्वरूप फलको प्राप्त करेगी. इस मतसे जो अनभिज्ञ हैं वे तो मृत्युको ही प्राप्त करते हैं. इस तरह दूसरेकी निन्दासे इसे दृढ कर दिया. मृत्यु प्राप्ति तो अपने ही कारणसे होती है. इसलिये विधेयकी प्रशंसाकेलिये ही यह कहा है जिससे सर्वभावसे उस विधेयमॄ श्रद्धा हो।।११।।

आभास: इतना कहकर देवहूतिजीको कृतकृत्य जानकर उसके बाद कपिलदेवजी स्वयं वहांसे निकल गए.

मैत्रेयः उवाच

इति प्रदर्श्य भगवान् उशतीम् आत्मनो गतिम्।
स्वमात्रा ब्रह्मवादिन्या कपिलोऽनुमतो ययौ।।१२।।

श्लोकार्थ: इस प्रकार अपने श्रेष्ठ आत्मज्ञानका उपदेश देकर कपिलदेवजी अपनी ब्रह्मवादिनी माताकी आज्ञा लेकर वहांसे चले गए।।१२।।

व्याख्यार्थ: कथन मात्रसे ही वक्ताके माहात्म्यसे उसे शास्त्रार्थ ज्ञान हो जायेगा इस अभिप्रायसे 'भगवान्' यह पद दिया है. इच्छित गतिको 'उशती गति' (सुन्दर गति) कहते हैं. 'आत्मनः गतिम्'(अपनी गतिको), अपनी गति अपने ही द्वारा जानी जा सकती है अन्यके द्वारा नहीं जानी जा सकती, यह इससे बताया गया है. 'स्वमात्रा' यह पद इस बातका ज्ञापक है कि देवहूतिजीने भी कपिलदेवजीके कहे हुए अर्थको हृदयमॄ निश्चित कर लिया. उनने भी पूर्वभाषाका परित्याग किया और शास्त्रार्थकी दृढतासे ब्रह्मवादिनी हो गई. जिसका जिस मतमॄ

अधिक आग्रह हो जाता है वह व्यवहारमृ भी उसे कहता है. उसका फल है मोहका अभाव. मोह न होने ही से तो उनने अपने पुत्रको जानेकी अनुमति दे दी, कपिलदेवजीमृ तो मोह था ही नहीं इसलिये चले गये. सिद्धिके बाद ही उन (देवहूति)को जहां जाना है उस देशको कहृगे. पूर्वमृ यदि बतादृ और फल यदि विपरीत हो जाय तो सारा कहा कहा गया व्यर्थ हो जाय।।१२।।

आभास: उसका वह मार्ग सिद्ध था इसे कहते हैं:

सा चापि तनयोक्तेन योगादेशेन योगयुक्।
तस्मिन् आश्रम आपीडे सरस्वत्याः समाहिता।।१३।।

श्लोकार्थ: तब देवहूतिजी भी सरस्वतीके मुकुटके सदृश अपने आश्रममृ अपने पुत्रके उपदेश किये हुए योगसाधनके द्वारा योगाभ्यास करती हुई समाधिमृ स्थित हो गई थी।१३।।

व्याख्यार्थ: परित्याग योगका अङ्ग नहीं है और देवहूतिजीको परित्यागका अधिकार भी नहीं था, इसलिए उसी आश्रममृ वह रहीं. 'सा चापि' का अर्थ है कि पूर्वोक्त देवहूतिजी अपने उसी आश्रममृ रहीं. अपने पुत्रके कहे हुए योगके उपदेशसे योगयुक्त हो गयी. योग अपने घरमृ सिद्ध नहीं होता है ऐसा दूषण उस(योग)मृ नहीं है क्यृकि देवहूतिजीका वह आश्रम सरस्वतीके मुकुटकी जगह था. घर या बाहर इसमृ प्रयोजक नहीं है किन्तु विशिष्ट देश इसमृ आवश्यक है. 'समाहिता'का अर्थ है सावधान अन्तःकरण वाली. इस कथनसे यमका ग्रहण हो जाता है।।१३।।

आभास: नियमृको कहते हैं:

अभीक्ष्णावगाहकपिशान् जटिलान् कुटिलालकान्।
आत्मानं चोग्रतपसा बिभ्रती चीरिणं कृशम्।।१४।।

श्लोकार्थ: त्रिकाल स्नान करनेसे उनकी घुंघराली अलकृ पीली-पीली जटाओृमृ परिणत हो गई तथा चीर(वस्त्रृ)से ढका हुआ शरीर उग्र तपस्याके कारण दुर्बल हो गया।।१४।।

व्याख्यार्थ: चिकने और घुंघराले केश भी संस्कारके बिना और निरन्तर स्नान करनेके कारण पीले वर्णके हो गये. केश भी एक दूसरेसे लिपट कर जटाके रूपमृ हो गये, जो पहले कुटिल अलकृके रूपमृ थे. ऐसे बालृको धारण करती थी. देशका और परिकरृका असंस्कार कहा. शरीर भी उसका असंस्कृत था उसे

'आत्मानं'से कहा और 'च'से दांत-नख आदिका भी असंस्कार लिया जाता है. उग्र तपस्यासे युक्त देह कृश हो गया. ज्ञान तपसे ही होता है इसलिये नियमके अनन्तर तपका निरूपण किया. उसने तप भी साङ्ग(अङ्गसहित) किया था यह 'चीरिणं'से बताया है. चीर(वस्त्र) पहन कर ही तप करना चाहिये उसके तपकी अभिव्यक्ति, कृशतासे हो रही थी।।१४।।

आभास: उसके वैराग्यको कहनेकेलिए पांच श्लोकोंसे पदार्थोंके उत्कर्षका वर्णन करते हैं:

प्रजापतेः कर्दमस्य तपोयोगविजृम्भितम्।
स्वगार्हस्थ्यम् अनौपम्यं प्रार्थ्यं वैमानिकैरपि।।१५।।

श्लोकार्थ: उन देवहूतिजीने प्रजापति कर्दमजीके तप और योगबलसे प्राप्त अनुपम गार्हस्थ्य सुखको जिसकेलिए देवता भी तरसते थे, त्याग दिया।।१५।।

अलौकिकं तदुत्कृष्टं सर्वोपकरणोत्तमम्।
गृहं च सर्वशोभाढ्यम् उद्यानातिमनोहरम्।
मनः सौख्यप्रदं स्वस्य तादृशे ममतां त्यजेत्।।का. १।।
अविद्यमानसन्त्यागे लोकयोर्भ्रष्ट एव हि।
ऐहिकं सुगमं नो चेद् दूरे ह्यन्यस्य साधनम्।।का. २।।

कारिकार्थ: वह अलौकिक उत्कृष्ट, सब उपकरणोंसे युक्त घर, सब शोभासे युक्त अति मनोहर बगीचा, अपने मनको सुख पहुंचानेवाले इन सबकी ममताका परित्याग किया. अविद्यमानके त्यागमें तो दोनों लोकोंसे भ्रष्ट ही हो जाता है. जब ऐहिक सुख उसको सुगम नहीं है तो अन्य जो पारलौकिक है उसका साधन तो दुर्लभ ही है।।१-२।।

व्याख्यार्थ: पहले उस अलौकिक गार्हस्थ्यको कहते हैं. कर्दमजी प्रजापति होनेसे ब्रह्माजीके समान थे तथा नामसे भी ब्रह्माजीके सदृश थे. उनके विवाह प्रभृति एवं विमानभोगादि तप एवं योगसे हुए थे. यद्यपि भगवान्ने उनका सम्पादन किया था परन्तु उन सबके त्यागमें भगवान् कारण नहीं थे इसलिये उन सबकेलिये 'तपोयोगाभ्यामेव विजृम्भितम्' ऐसा कहा. कर्दमजीका गार्हस्थ्य भी सब परिकरोंके सहित था और उत्तर लोकोंका फलरूप होनेसे वह अनुपम था. यद्यपि किन्नरोंका गार्हस्थ्य भी फलरूप है परन्तु उस गार्हस्थ्यकी मर्यादा है इसलिये

उसमृ कर्दमजीके समान उत्कर्ष नहीं है. ब्रह्मा आदि तो गृहस्थ हैं ही नहीं इसलिये गार्हस्थ्य कर्दमजीका अनुपम(उपमासे रहित) ही था. यदि कोई कहे कि विमान-चारी किन्नर आदिको वैसे गार्हस्थ्यकी सम्भावना होगी! उसका परिहार 'प्रार्थ्यं'से कर दिया है. नियत भोगवालाृमृ विमानचारी उत्तम हैं परन्तु वे विमानचारी भी कर्दमजीके गार्हस्थ्यकेलिये लालायित रहते हैं।।१५।।

आभास: परिकराृका उत्कर्ष कहते हैं:

पय: फेननिभा: शय्या दान्ता रुक्मपरिच्छदा: ।
आसनानि च हैमानि सुस्पर्शास्तरणानि च।।१६।।

श्लोकार्थ: जिसमृ दूधके फेनके समान स्वच्छ और सुकोमल हाथीदांत की बनी शय्या थी और सुर्वणसे चित्रित जिनका अन्तभाग था. हाथीदांतके बने आसन और सुवर्णके पात्र थे. आसनाृ पर कोमल गद्दे बिछे हुए थे।।१६।।

व्याख्यार्थ: दूधके फेन(झाग)की तरह उज्ज्वल(श्वेत), ऊंची, हाथीदांतकी बनी तथा सोनेके परिच्छेद(चित्राृ)से युक्त शय्याएं(पलंग) थी. शय्याआृमृ जो लकड़ीका हिस्सा था वह सोनेसे चित्रित अन्तभागवाला था. दांतके बने आसन और 'च'कारसे पात्र भी सोनेके थे. उन आसनाृके आस्तरण (बिछोने) अनेक प्रकारके कोमल वस्त्राृके थे. परिकर दो प्रकारके होते हैं भाण्डमय और वस्त्रमय. उन दोनाृको ही यहां कहा है।।१६।।

स्वच्छस्फटिककुड्येषु महामारकतेषु च ।
रत्नप्रदीपा आभान्ति ललना रत्नसंयुता:।।१७।।
गृहोद्यानं कुसुमितै रम्यं बह्वमरद्रुमै:।
कूजद् विहङ्गमिथुनं गायन् मत्तमधुव्रतम्।।१८।।
यत्र प्रविष्टम् आत्मानं विबुधानुचरा जगु: ।
वाप्यामुत्पलगन्धिन्यां कर्दमेनोपलालितम्।।१९।।

श्लोकार्थ: स्वच्छ स्फटिककी भीतृ थी और महामरकत मणिके बने हुए घराृमृ रत्नमय दीपक शोभित हो रहे थे. रत्नाृके आभूषणाृसे युक्त स्त्रियां भी घरमृ विद्यमान थीं. घरका बगीचा भी फूलाृसे लदे हुए कल्पवृक्षाृसे रम्य था जिसमृ कलरव करते हुए पक्षियाृके जोडे विद्यमान थे तथा भौराृका गुञ्जार हो रहा था. कमलकी गन्धसे सुवासित बावडियाृमृ प्रविष्ट और कर्दमजीके द्वारा उपलालित देवहूतिजीका गन्धर्व गुणगान करते थे।।१७-१९।।

व्याख्यार्थः स्वच्छ निर्मल स्फटिकमय हैं भीतें जिनमृ ऐसे घरृमृ अथवा स्वच्छ स्फटिकमय भीतृ हैं और महामरकत मणिसे बने हुए घरृमृ रत्नमय दीपक शोभित हो रहे थे. स्त्रियृके बिना घर भी शोभा नहीं देते अतः रत्नृके आभरणृसे संयुक्त स्त्रियां भी उन घरृमृ शोभ रही थीं. घरका बगीचा पुष्पवाटिका कल्पवृक्षृसे मनोरम था. चहचहाते हुए पक्षियृके जोड़े उनमृ थे. वह बगीचा सब प्रकारके विषयृका प्रतिपादक होनेसे उद्दीपनविभावके पारावतृ(कबूतरृ)का कूजन भी उसमृ था और भोरृका गान भी उसमृ कहा गया. उस विमानमृ, उद्यानमृ अथवा घरमृ देवहूतिजीने जब प्रवेश किया तो गन्धर्व आदिने गान किया. कमलृकी सुगन्धसे युक्त बावड़ीमृ प्रविष्ट हुए कर्दमजीके द्वारा उपलालित अथवा कर्दमजीमके सहित देवहूतिजीको गाना सुनाने लगे।।१७-१९।।

आभासः इस तरह गार्हस्थ्यका वर्णन करके उसका त्याग भगवान्के ध्यानकेलिए ही उचित है. मोक्षशास्त्रमृ भगवान्का स्मरण दृढ नहीं होता है इसलिए निरन्तर भगवत्स्मरणकेलिए भगवान्की इच्छासे भगवत्त्वरूपसे और पुत्ररूपसे पुत्रमृ स्नेह स्थित था उसे कहते हैं:

हित्वा तदीप्सिततमम् अप्याखण्डलयोषिताम्।
किञ्चिच्चकार वदनं पुत्रविश्लेषकातरम्।।२०।।

श्लोकार्थः देवहूतिजीका वह घर और उद्यान जिसकेलिए इन्द्राणियां भी लालायित रहती थीं, उस घर और उद्यानकी ममता उन्हृने त्याग दी. किन्तु पुत्रवियोगसे व्याकुल होनेके कारण उनका मुख कुछ उदास हो गया।।२०।।

व्याख्यार्थः 'आखण्डलयोषिताम्'(इन्द्रकी स्त्रियृकेलिये) 'ईप्सिततमम्' (अत्यन्त चाहे गये) 'तद्गृहम्'(उस घरको), 'हित्वा'(छोड़कर) पुत्रके चले जाने पर पुत्रके वियोगसे उसने मुखको कुछ उदास किया. शास्त्र और पुत्रत्व की रक्षाकेलिये मुंहको कुछ उदास किया. 'किञ्चित्' यह अव्यय है अथवा क्रियाविशेषण है।।२०।।

आभासः केवल मुख पर विकार हो ऐसा नहीं था किन्तु हृदयमृ भी दुःख हुआः

वनं प्रव्रजिते पत्यावपत्यविरहातुरा।
ज्ञाततत्त्वाऽप्यभूद् नष्टे वत्से गौरिव वत्सला।।२१।।

श्लोकार्थः पतिके वनमृ चले जानेके अनन्तर पुत्रका भी वियोग हो

जानेसे आत्मज्ञान सम्पन्न होकर भी वह ऐसी व्याकुल हो गयीं, जैसे बछडेके बिछुड जाने पर उससे प्यार करनेवाली गाय।।२१।।

व्याख्यार्थ: पतिके संन्यास ग्रहण कर वनमॄ प्रवेश करनेके अनन्तर परित्याग लोकका किया जाता है. अतः यदि संन्यासी दुनियामॄ रहता है तो वह संन्यासी नहीं हो सकता. भिक्षा आदि नियम तो आश्रममॄ रहनेवालेकेलिये हैं. वहां जो परित्याग होता है वह तो पूर्वसिद्ध पदार्थोंका ही होता है. स्वतन्त्र परित्यागमॄ तो वनमॄ ही प्रवेश करना चाहिये. इसीको बतानेकेलिये 'वनं प्रव्रजिते पत्यौ' ऐसा कहा. वह पुत्रके विरहसे आतुर(व्याकुल) हुई. भर्ता(पति)का विरह तो नित्य था इसे पहले कह दिया था. वनमॄ जानेसे उसके सङ्गमॄ पुत्रका विरह कहा था वह भी नित्य था इसलिये वह आतुर हो गई, व्याकुल हो गई. यदि शंका हो कि शास्त्रसे उसे ज्ञान हो गया था उस ज्ञानसे उसका देहाध्यास मिट गया तो दोनॄ ही का विरह उसकेलिये बाधक नहीं होना चाहिये! इसका उत्तर 'ज्ञाततत्त्वा' आदिसे दिया गया है. देवहूतिजीने आत्मतत्त्वको जान लिया था. ऐसा होने पर भी पुत्रके दूर चले जाने पर (बछड़ेके दूर चले जाने पर जिस गायका अपने बछड़े पर अधिक प्यार है उस गायकी तरह) व्याकुल हो गयीं।।२१।।

आभास: यह स्नेह उसके उपकारकेलिए हो गया:

तमेव ध्यायती देवम् अपत्यं कपिलं हरिम्।
बभूवाचिरतो वत्स निःस्पृहा तादृशे गृहे।।२२।।

श्लोकार्थ: हे वत्स विदुर! अपने पुत्र कपिलदेवरूप भगवान् हरिका ही चिन्तन करते-करते वे कुछ ही दिनॄमॄ ऐसे ऐश्वर्यसम्पन्न घरसे भी उपरत(विरक्त) हो गई।।२२।।

व्याख्यार्थ: अपने पुत्ररूप भगवान्का योगमॄ ध्यान करती हुई शीघ्र ही उस प्रकारके ऐश्वर्यशाली घरसे निस्पृह हो गयी, क्यॄंकि कपिलदेवजी भगवान् थे. स्पृहा(इच्छा) दुःखरूप होती है. 'वत्स!' यह विदुरजीका सम्बोधन है. इस सम्बोधनका तात्पर्य यह है कि विदुर! तुम्हॄ भी ऐसा करना चाहिये. यहां परित्यागरूप वैराग्य न होनेसे स्पृहाका अभाव कहा है।।२२।।

आभास: केवल भगवान्के ध्यानसे ही घरमॄ अनासक्ति सिद्ध नहीं थी किन्तु योग भी उसे सिद्ध हो गया:

ध्यायती भगवद्रूपं यदाह ध्यानगोचरम्।

सुतं प्रसन्नवदनं समस्तव्यस्तचिन्तया।।२३।।

श्लोकार्थ: फिर कपिलदेवजीने भगवान्के जिस ध्यान करने योग्य प्रसन्न मुखकमलयुक्त स्वरूपका वर्णन किया था, उसके एक-एक अवयवका तथा उस समग्ररूपका भी चिन्तन करती हुई ध्यानमृ तत्पर हो गई।।२३।।

व्याख्यार्थ: पुत्रने जो भगवान्का रूप कहा था जो सब योगियृके ध्यानका विषय है, वह तो पुत्र ही भगवान् था, अतः पुत्रका ही ध्यान करती हुई. कहीं 'सुतं'की जगह'सुतः'ऐसा भी पाठ है. 'प्रसन्न वदनम्'(मुख) ऐसा इसलिये कहा कि उन(कपिलदेवजी)केध्यानमृ भगवान् प्रसन्न रूप ही दिखाई दिये जिससे कार्यसिद्धि सूचित होती. अतः उनका प्रसाद(कृपा) यहां बताया है. समस्त और व्यस्त प्रकार भगवान्के ध्यानमृ पहले बताये जा चुके हैं. उन्हृ ही यहां 'समस्त-व्यस्तचिन्तया'से बताया है. समस्त चिन्तन तो प्रसन्न मुखारविन्दका ध्यान और व्यस्त चिन्तन 'सञ्चिन्तयेद् भगवतः' इत्यादि।।२३।।

आभास: इस प्रकारके ध्यानसे जो हुआ उसे चार श्लोकृसे कहते हैं:

भक्तिप्रवाहयोगेन वैराग्येण बलीयसा।

युक्तानुष्ठानजातेन ज्ञानेन ब्रह्महेतुना।।२४।।

श्लोकार्थ: भक्तिके प्रवाह, प्रबल वैराग्य और यथोचित कर्मानुष्ठानसे उत्पन्न हुए ब्रह्मसाक्षात्कार करानेवाले ज्ञानद्वारा (...आत्माका ध्यान धरने लगीं)।।२४।।

चित्तशुद्धेः साधनानि कार्यं शुद्धस्य चेतसः।

ज्ञानस्याऽप्युत्तमावस्था दोषाभावश्च सर्वतः।।का. १।।

कारिकार्थ: चित्तशुद्धिके साधन, शुद्ध चित्तका कार्य और ज्ञानकी भी उत्तमावस्था, सब ओरसे दोषाभाव।।१।।

व्याख्यार्थ: भगवान्के चिन्तनसे(क्रमसे) परम अवस्थाको वह प्राप्त हो गयी इसे कहनेके लिये चिन्तनसे जो हुआ उस क्रमको कहते हैं. सर्वप्रथम तो भक्तिप्रवाह हुआ. वह भक्तिप्रवाह उपायभूत था इसलिये वह भी योग कहलाया. अर्थात् ध्यानसे पहले भक्तियोग हुआ. भक्तिके प्रवाहकी नित्यता होनेसे ही यहां 'प्रवाह' पद दिया है. उसके अनन्तर दृढ वैराग्य हुआ. वैराग्य होने पर भगवद्धर्मोंमृ परम श्रद्धासे परलोककेलिये उचित कर्मानुष्ठान जो निवृत्ति धर्मरूप है उसके अनन्तर ब्रह्म प्राप्तिका साधन ज्ञान इस तरह इन तीन साधनृके सहित ज्ञानसे चित्त

अत्यन्त शुद्ध हो जाता है।।२४।।

आभास: तब शुद्ध चित्तका कार्य कहते हैं:

विशुद्धेन तदात्मानम् आत्मना विश्वतोमुखम्।

स्वानुभूत्या तिरोभूत–मायागुणविशेषणम्।।२५।।

श्लोकार्थ: चित्त शुद्ध हो जाने पर वे उस सर्वव्यापक आत्माके ध्यानमृ मग्न हो गईं जो अपने स्वरूपके प्रकाशसे मायाजनित आवरणको दूर कर देता है।।२५।।

व्याख्यार्थ: 'तदा' इसलिये कहा कि उसीसे चित्तशुद्धि होती है. पहले ज्ञानसे चित्त शुद्ध होता है ऐसा नहीं कहा. इसको स्पष्ट करनेके लिये ही 'विशुद्धेन आत्मना आत्मानं ध्यायती' इस पूर्व कथनसे उसका सम्बन्ध है. संसारावस्थासे उस समयके आत्माकी विशिष्टताको कहते हैं 'विश्वतो मुखम्' आत्मा पहले तो हृदयाभिमुख थी और शरीर प्रवण था परन्तु जब शुद्ध हो गयी तो वह आत्मा सर्वतोमुख हो गयी, उस आत्माको उस देवहूतिने देख लिया. सर्वतोमुखका अर्थ है सब जगह विद्यमान. पहले जब तक आत्मा अविद्यासे युक्त थी तब तक वह देहाभिमानी थी अर्थात् वह अपने देहको ही आत्मा समझे हुई थी. परन्तु अब तो देहके अन्तर्गत आत्माको समझने लगी अत: अपनी अनुभूति(अनुभव)से माया (प्रकृति) तिरोहित हो गयी और उसके गुण जो सत्व–रजस्–तमस् हैं, वे भी तिरोहित हो गये. उन गुणृके विशेष तथा उनके कार्य परिच्छेद आदि जिसके हैं वे सब चले गये।।२५।।

आभास: आत्मज्ञानके प्रकट हो जाने पर माया तथा गुणके कार्य चले जाते हैं, जब अविद्या और उसके कार्योका विलय हो जाता है तब वह ब्रह्ममृ ही स्थित हो जाता है:

ब्रह्मण्यवस्थितमति: भगवत्यात्मसंश्रये।

निवृत्तजीवभावत्वात् क्षीणक्लेशाप्तनिर्वृति:।।२६।।

श्लोकार्थ: इस प्रकार जीवके अधिष्ठानभूत परब्रह्म श्रीभगवान्मृ ही बुद्धिकी स्थिति हो जानेसे उसका जीवभाव निवृत्त हो गया और वे समस्त क्लेशाृसे मुक्त होकर परमानन्दमृ निमग्न हो गई।।२६।।

व्याख्यार्थ: वही ब्रह्म जिसका पहले ध्यान किया था जो भगवान् था अतः उसे जान गयीं. इसके बाद उन भगवान्के ध्यानकी अपेक्षा नहीं हुई किन्तु

अपने ही अन्दर जिनका निवास है ऐसा वह जान गयीं. इस तरह अपने ही अन्दर भगवान्की स्फूर्ति हो जानेसे उनका जीवभाव चला गया. यहां तक कि मेरे अन्दर भगवान् हैं ऐसा आधार और आधेय भाव भी निवृत्त हो गया. यदि अपनेको परिच्छिन्न माने तो भी आनन्दका तिरोधान हो जाता है और अपनेमृ जीवभाव हो जाता है अर्थात् प्रकट हुआ वह आनन्द स्वयं ही भगवान् हो गया. ऐसा ही जानने पर अविद्या आदि सब क्लेश क्षीण हो जाते हैं और जब क्लेश हट गये तो फिर परम सन्तोष प्राप्त हो जाता है. प्राप्त करने योग्य जो रूप है वह अधिकारातीत है. इसे ज्ञापित करनेकेलिये यह कहा. भगवद्रूपके प्राप्त होने पर भी फिर निवृत्ति कही. अथवा ब्रह्मभाव होने पर भी आधाराधेयभाव स्थित हो रहा. यह मध्या अवस्था है।।२६।।

नित्यारूढसमाधित्वात् परावृत्तगुणभ्रमा।
न सस्मार तदात्मानं स्वप्नदृष्टम् इवोत्थितः।।२७।।

श्लोकार्थः निरन्तर समाधिमृ स्थित रहनेके कारण उसकी विषयाृके सत्यत्वकी भ्रान्ति मिट गई और उसे अपने शरीरकी भी सुधि न रही, जैसे जागे हुएको अपने स्वप्नमृ देखे हुए शरीरकी सुधि नहीं रहती।।२७।।

व्याख्यार्थः निवृत्ति हो जाने पर पुनः उन विषयाृको इन्द्रियां ग्रहण नहीं करती हैं अतः उसे नित्यारूढ समाधि हो गयी. नित्यारूढ समाधिका अर्थ है नित्य आरूढ है समाधि जिससे. ऐसी वह देवहूतिजी नित्यारूढ समाधि है. उसके भावका कथन उनकी स्थिरताकेलिये है. इस तरह समाधिकी दृढता हो जाने पर गुणाृसे होनेवाले भ्रम मिट जाते हैं. अर्थात् देवहूति जीके गुणाृसे होने वाले सब भ्रम मिट गये. तमोगुणसे आनन्दका तिरोभाव, रजोगुणसे परिच्छेद और सत्वगुणके द्वारा भेद ये तीनाृ ही उसके निवृत्त हो गये. जब ऐसा हो गया तो अध्यासके आश्रयभूत देहकी स्फूर्ति रहने पर भी वह देह दोषजनक नहीं रहा इसको 'न सस्मार'से कहा है. जैसे स्वप्नमृ देखे हुए देहको जाग जाने पर उस (स्वप्नमृ देखे हुए) देहको ''मैं हूं'' ऐसा नहीं मानता. परन्तु जगे हुएको स्वप्नमृ देखे हुए देहका स्मरण रहता है. किन्तु देवहूतिजीने तो उस देहका स्मरण भी न किया।।२७।।

आभासः शंका होती है कि देहका जब स्मरण नहीं रहता है तो देह रहेगी कैसे? इस शंकाका परिहार करते हुए उस देहकी अन्तर्ज्ञानके प्रकाशसे

प्रकाशमानताको कहते हैं:

तद्देहः परतः पोष्योऽप्यकृशश्चाध्यसम्भवात्।
बभौ मलैरवच्छन्नः सधूम इव पावकः।।२८।।

श्लोकार्थ: उनके शरीरका पोषण भी दूसरॄके द्वारा ही होता था. किन्तु किसी प्रकारका मानसिक क्लेश न होनेके कारण वह दुर्बल नहीं हुई. उनका तेज और भी निखर गया और वे मैलके कारण धूमयुक्त अग्निके समान सुशोभित होने लगी।।२८।।

व्याख्यार्थ: योगनिर्मित स्त्रियॄसे पोषित उसका शरीर दुर्बल नहीं हुआ, योगनिर्मित स्त्रियां उसके शरीरका वस्त्र आदिसे ही पोषण करतीं थीं, भोजन पोषण नहीं करतीं थीं, तथापि कृश नहीं हुआ. कृश न होनेमॄ कारण बताया है 'आध्यसम्भवात्'. 'आधि' मानसिक पीडाको कहते हैं. उसका देवहूतिजीमॄ अभाव था, अतः वह कृश नहीं हुई. मृत्युको तो उनने पहले ही जीत लिया था अतः देहकी वृद्धि तो अपेक्षित थी नहीं, केवल मनकी पीड़ासे ही देहका ह्रास (कृशता)होता है, वह मनः पीड़ा उसमॄ न थी, अतः उसमॄ कृशता नहीं हुई. 'च'से देहकी कान्तिका नाश भी न हुआ. अन्तःस्थित ज्ञानसे और बाहर स्थित मैलसे वह ढंकी हुई होने पर शोभित हुई. तेज और मैलके साथका दृष्टान्त 'सधूम इव पावकः'से कहा है।।२८।।

अन्तःप्रज्वलितो वह्निः बहिर्निःसृतधूमकः।
तादृशो ज्ञानसम्पन्नः तपसा मलिनो बभौ।।का. १।।।।२८।।

कारिकार्थ: अन्दर अग्नि प्रज्वलित हो और उसका धूंआ बाहर निकल रहा हो उस तरह ज्ञानसे सम्पन्न तपके द्वारा मलिन शोभा पाता था।।१।।

आभास: कभी उत्थान दशामॄ देहका स्मरण करेगी ऐसी आशंका करके उसका समाधान करते हैं:

स्वाङ्गं तपोयोगमयं मुक्तकेशं गताम्बरम्।
दैवगुप्तं न बुबुधे वासुदेवप्रविष्टधीः।।२९।।

श्लोकार्थ: बाल उनके खुले हुए थे, वस्त्र भी गिर गया था तथापि निरन्तर श्रीभगवान्मॄ ही चित्त लगा रहनेके कारण उसे अपने तपोयोगमय शरीरकी कुछ भी सुधि नहीं थी, केवल प्रारब्ध ही उसकी रक्षा करता था।।२९।।

व्याख्यार्थ: तप और योगसे व्याप्त(देहका), दैवगतिसे बालॄके बिखर

जानेका तथा वस्त्रके गिर जानेका भी, जिसका कि स्त्रियाृको अत्यावश्यक लज्जाके कारण ध्यान रखना आवश्यक होता है, तथापि उन्हृ देहका भान ही नहीं था. उनके देहकी स्थिति तो प्रारब्ध वश ही थी क्याृकि उनकी बुद्धि तो वासुदेवमृ प्रवेश कर चुकी थी।।२९।।

आभास: इस तरह उन देवहूतिजीकी बाहरकी और भीतरकी अवस्थाको कहकर आन्तर फलितको कहते हैं:

एवं सा कपिलोक्तेन मार्गेणाचिरतः परम्।
आत्मानं ब्रह्मनिर्वाणं भगवन्तम् अवाप ह।।३०।।

श्लोकार्थ: विदुरजी! इस प्रकार देवहूतिजीने कपिलदेवजीके बताए हुए मार्ग द्वारा थोडे ही समयमृ नित्यमुक्त परमात्मस्वरूप श्रीभगवान्को प्राप्त कर लिया।।३०।।

व्याख्यार्थ: उन देवहूतिजी ने कपिलदेवजीके कहे हुए भक्ति-ज्ञान-योगात्मक मार्गसे शीघ्र ही परमात्माको=ब्रह्मानन्दको, सर्व शास्त्र प्रतिपाद्य भगवान्को पा लिया. स्त्रीकी मुक्ति दुर्लभ है परन्तु फिर भी वह मुक्त हो गई यह आश्चर्यकी बात है इसे सूचित करनेके लिये ही 'ह' पद दिया है।।३०।।

आभास: उसकी मुक्ति सब लोकाृमृ प्रसिद्ध रूपसे हुई इसे क्षेत्रकी प्रसिद्धिसे निरूपण करते हैं:

तद् वीरासीत् पुण्यतमं क्षेत्रं त्रैलोक्यविश्रुतम्।
नाम्ना सिद्धपदं यत्र सा संसिद्धिम् उपेयुषी।।३१।।

श्लोकार्थ: वीरवर! जिस स्थान पर उन्हृ सिद्धि प्राप्त हुई थी, वह परम पवित्र क्षेत्र त्रिलोकीमृ 'सिद्धपद' नामसे विख्यात हुआ।।३१।।

व्याख्यार्थ: वीर! यह सम्बोधन इसलिये दिया है कि तुम्हृ भी देवहूति जीकी तरह वीरता दिखानी चाहिये. अथवा उनने अपने धर्मका प्रतिपादन किया इसके विश्वासकेलिये है. वह क्षेत्र 'सिद्ध' शब्द नामसे पुकारा जाने लगा. सिद्धपद अत्यन्त पवित्र था. तीनाृ लोकाृमृ उसकी प्रसिद्धि थी. यह प्रसिद्धि देवहूतिजीकी मुक्तिके कारण हुई. देवहूतिजीकी मुक्तिमृ यह प्रमाण है अन्यथा सब तीर्थोंके रहते हुए भी उसीकी ऐसी प्रसिद्धि कैसे हुई! उस क्षेत्रमृ उनने सिद्धिको प्राप्त की इसलिये उस क्षेत्रकी 'सिद्धि' पद नामसे प्रसिद्ध हो गयी।।३१।।

आभास: उसके शरीरका विनियोग कहते हैं:

तस्यास्तद्योगविधुत–मार्त्यं मर्त्यम् अभूत् सरित्।
स्रोतसां प्रवरा सौम्य! सिद्धिदा सिद्धसेविता।।३२।।

श्लोकार्थ: साधुस्वभाव विदुरजी! योगसाधनके द्वारा उनके शरीरके सारे दैहिक मल दूर हो गए थे. वह एक नदीके रूपमॅ परिणत हो गई, जो सिद्धगणॅसे सेवित और सब प्रकारकी सिद्धि देनेवाली है।।३२।।

व्याख्यार्थ: तप और योग के द्वारा उनके देहके अन्दरका मिट्टीका भाग समाप्त हो गया था क्यॅकि जल ही जब गाढा हो जाता है तो वह मिट्टीके रूपमॅ परिणत हो जाता है. जैसे हिम(बर्फ) अथवा करका(ओले) अथवा सैंधा नमक. योगीश्वरसे अथवा खूब ताप लगता है तो बर्फ या ओले पानी बन जाते हैं इसलिये उनका इस तरहका जो मर्त्य शरीर था वह नदी हो गया. वह सरस्वतीके स्रोतमॅ प्रविष्ट होकर बहनेवालीमॅ श्रेष्ठ सरस्वती हो गयी. सोम्य! यह सम्बोधन तुम इस बातका विश्वास करो इसकेलिये है. जैसे सोम अमृतमय है और पीनेके समय उसके अवयव अलग–अलग हो जाते हैं. नवमी जो सोम कला है उसका पीनेवाला यम है ऐसा कहा गया है. जबसे देवहूतिजी नदीरूप होकर जलमॅ प्रविष्ट हुई तबसे वह सरस्वती वहीं पर सिद्धि देनेवाली हो गयी. अतः वे सिद्धॅसे सेवित हुई।।३२।।

आभास: इस तरह उनकी सब प्रकारकी सिद्धिको कहकर स्त्रीकी मुक्ति पर्यन्तकी सर्गलीलाको समाप्त की. विसर्गकी साधिका होने पर ही सर्गलीलाका सर्गलीलापन सिद्ध होता है अतः उत्तरलीलामॅ उपयोगकेलिए कपिलदेवजीकी स्थितिको तीन श्लोकॅसे कहते हैं:

कपिलोऽपि महायोगी भगवान् पितुराश्रमात्।
मातरं समनुज्ञाप्य प्रागुदीचीं दिशं ययौ।।३३।।

श्लोकार्थ: महायोगी भगवान् कपिलदेवजी भी माताकी आज्ञा ले पिताके आश्रमसे ईशान कोणकी ओर चले गए।।३३।।

व्याख्यार्थ: गुणसे युक्त कपिल देवजीकी गति, स्तुति और प्रतिष्ठा इन तीनॅको कहते हैं. उसमॅ पहले गतिको कहते हैं. वे महायोगी थे अतः उनको गमनमॅ किसी प्रकारका प्रयास(कठिनता) नहीं हुआ. माताकी सिद्धिको जान कर आगे क्या कर्त्तव्य है इसको भी जानते हैं. कपिल देवजी सर्गके नियामक थे इसमॅ उनकी भगवत्ता कारण है. पिताके आश्रमसे माताकी आज्ञा लेकर पूर्वोत्तर

दिशाकी ओर चले गये. यह दिशा देवताओ तथा मनुष्योके लिये शान्त है।।३३।।

आभास: गमनके समय सिद्ध आदिने जो स्तुति की उसे कहते हैं:

सिद्ध–चारण–गन्धर्वैः मुनिभिश्चाप्सरोरगैः।
स्तूयमानः समुद्रेण दत्तार्हणनिकेतनः।।३४।।

श्लोकार्थ: वहां स्वयं समुद्रने उनका पूजन करके उन्हे स्थान दिया. वहां पर सिद्ध, चारण, गन्धर्व, मुनि और अप्सरागण तथा नाग उनकी स्तुति किया करते हैं।।३४।।

व्याख्यार्थ: जो कोई सिद्धि की कामना करते हैं वे छः प्रकारके हैं, उनका भगवान्के अंशरूपसे निरूपण है. 'उरग'से वासुकि आदि लिये जाते हैं. जहां 'गणैः' ऐसा पाठ है वहां अप्सराओके गण हैं जिनके ऐसे इन्द्र आदि देवता लिये जाते हैं. उन इन्द्र आदि देवताओसे स्तुति किये जाते हुए वे मुनि जहां भी जाते थे वहीं उनका आदर–सत्कार होता था. यहां तक कि समुद्रने भी उनका सत्कार किया उनको ठहरनेका स्थान दिया।।३४।।

आभास: इस तरह उनके गमनका और मध्य स्थितिका निरूपण करके वहां पर रहते हुए उन्होने क्या किया उसे कहते हैं:

आस्ते योगं समास्थाय साङ्ख्याचार्यैरभिष्टुतः।
त्रयाणामपि लोकानाम् उपशान्त्यै समाहितः।।३५।।

श्लोकार्थ: वे तीनो लोकोको शान्ति प्रदान करनेकेलिए योगमार्गका अवलम्बन कर सांख्याचार्योंसे स्तुति किये जाते हुए समाधिमे स्थित हो गए।।३५।।

व्याख्यार्थ: योगका सहारा लेकर ठीक तरहसे रहने लगे. वहां रहकर उन्होने दो कार्य किये: एक तो सांख्यमतकी प्रवृत्ति और दूसरा लोकोके कल्याणकेलिये उनकी मंगल कामना करना. इसलिये सांख्याचार्यों ने उनकी स्तुति की।। ३५।।

आभास: इस तरह उनके चरित्रको कहकर अब उपसंहार करते हैं:

एतन् निगदितं तात! यत् पृष्टोऽहं त्वयानघ।
कपिलस्य च संवादो देवहूत्याश्च पावनः।।३६।।

श्लोकार्थ: निष्पाप विदुरजी! तुम्हारे पूछनेसे मैंने तुम्हे यह भगवान् कपिलदेवजी और देवहूतिजी का परम पवित्र संवाद सुनाया।।३६।।

व्याख्यार्थः कपिल देवजीका जो चरित्र तुमने पूछा था वह मैंने तुम्हृ कहा. संवाद भी पवित्र करने वाला है इसलिये कहा. इसके द्वितीय सर्गरूप होनेसे सर्गलीला भी कही गयी. दो 'च'से दोनृ प्रकारके सर्गका यहां उपसंहार किया गया है।।३६।।

आभासः इस चरित्रके श्रवणका फल कहते हैं:

य इदम् अनुशृणोति योऽभिधत्ते कपिलमुनेर्मतम् आत्मयोगगुह्यम्।
भगवति कृतधीः सुपर्णकेतावुपलभते भगवत्पदारविन्दम्।।३७।।

श्लोकार्थः यह कपिलदेवजीका मत अध्यात्म योगका गूढ रहस्य है. जो पुरुष इसका श्रवण या वर्णन करता है वह भगवान् गरुडध्वजकी भक्तिसे युक्त होकर शीघ्र ही श्रीहरिके चरणारविन्दृको प्राप्त करता है।।३७।।

व्याख्यार्थः कपिल मुनिका मत सांख्य शास्त्र जो आत्म प्राप्तिके उपायृमृ गोप्य है इसको जो प्रभु रूपसे नहीं किन्तु शिष्यरूपसे सुनता है तथा जो ठीक तरहसे शिष्यके हृदयमृ स्थापित कर देता है वे दोनृ ही भगवान्मृ भक्ति रखने वाले होते हैं. उन्हीं गरुड़ध्वज भगवान्मृ निश्चित बुद्धि होते हैं. गरुड अत्यन्त शीघ्र गति वाले हैं अतः भगवच्चरणारविन्दकी प्राप्ति उन्हृ शीघ्र हो जायेगी, काल इसमृ कोई बाधा नहीं कर सकेगा. और शास्त्रका पर्यवसान भी इसीमृ है. इस मतका श्रवण भगवान्मृ बुद्धिको निश्चित करनेकेलिये है. जहां इस मतके सुनने मात्रसे भगवत्पद प्राप्ति होती है तो फिर इस मतके अनुसार प्रवृत्ति करनेवालेको या सम्पूर्ण सर्ग लीलाको सुननेवालेको भगवत्प्राप्ति हो इसमृ तो कहना ही क्या है।।३७।।

तृतीयस्कन्धविवृत्तिः श्रीकृष्णचरणाम्बुजे।
निवेदितातियत्नेन सर्वसिद्धान्तगुम्फिता।।का. १।।

कारिकार्थः सब सिद्धान्त जिसमृ भरे पडे हैं ऐसी यह तृतीय स्कन्धकी व्याख्या बडे प्रयत्नसे श्रीकृष्णके चरणारविन्दमृ अर्पित की है।।१।।

सुज्ञेषु भक्तिहृदयेषु निवेदयामि
सर्गाभिधा यदि यथार्थतया विचिन्त्या।
लीला सदैव मतियुक्तिभिरन्विताङ्गी
भाव्या तदा विवृतिरुज्ज्वलयुक्तियुक्ता।।का. २।।

कारिकार्थः भक्ति जिनके हृदयमृ है ऐसे सुज्ञृ(विद्धानृ)को मैं निवेदन

करता हूं कि इस 'सर्ग'नामकी लीलाको यदि आप विचारूगे तो यह लीला आपको सर्वदा मति और युक्तिसे संयुक्त दीखेगी तब उज्जवल(प्रकाशमान) युक्तिसे युक्त इस(सुबोधिनी) व्याख्याकी आप भावना करूगे।।२।।

सर्वभक्तसमुद्धारे सर्वार्थोत्पादकं हरिम्।
त्रयस्त्रिंशत्सर्गयुतं वन्दे सर्गाय माधवम्।।का. ३।।

कारिकार्थ: सभी भक्तूके उद्धारकेलिए सब प्रयोजनूके उत्पादक सर्वदुःखहारी तैंतीस प्रकारके सर्गसे युक्त माधव भगवानको इस सर्गलीलाकी समाप्तिमू प्रणमन करता हूं।।३।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराणके तृतीय स्कन्धके ३३ वृ अध्यायकी
श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्रीसुबोधिनी टीकाका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण.

तृतीय स्कन्ध सम्पूर्ण